प्राकृत रत्नाकर

(प्रमुख प्राकृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं सम्बन्धित विषय)

प्रो. प्रेम सुमन जैन

इस प्राकृत रत्नाकर ग्रन्थ को विश्वकोश "इनसाइक्लोपीडिया" के पैटर्न पर तैयार किया गया है। इसमें अकारादि वर्णक्रम से प्राकृत साहित्य के प्रमुख ग्रन्थों, ग्रन्थकारों, प्राकृत भाषाओं, प्राकृत साहित्य में अंकित भारतीय जन-जीवन और समाज, लोक जीवन के विभिन्न पक्षों, प्राकृत की प्रमुख संस्थाओं, विभागों, प्राकृत के सम्पादकों, विद्वानों आदि के विषय में संक्षिप्त, किन्तु महत्त्वपूर्ण जानकारी सरल और ललित हिन्दी भाषा में प्रस्तुत की गयी है। प्राकृत भाषा और साहित्य के प्रतिष्ठित प्राध्यापक और वरिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन ने प्राकृत का यह एक आधार विश्वकोश तैयार किया है। इसमें अब तक प्रकाशित प्राकृत के ग्रन्थों और शोधकार्यों को भी परिशिष्ट में देकर विश्वकोश को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। लेखक का प्रयत्न सराहनीय है। आशा है, यह ग्रन्थ प्राकृत प्रेमियों, शोधार्थियों, विद्वानों सभी के लिए उपयोगी साबित होगा।

– प्रकाशक

प्राकृत रत्नाकर

(प्रमुख प्राकृत ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं सम्बन्धित विषय)

प्रो. प्रेम सुमन जैन

राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान

श्री धवलतीर्थं, श्रवणबेलगोला 573135 (कर्नाटक)

2012

कृति : प्राकृत रत्नाकर

लेखक : प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन

प्रकाशक : राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान
श्री धवलतीर्थ, श्रवणबेलगोला- 573135
जिला - हासन, कर्नाटक

सौजन्य : श्री तेजराज रमेशचन्द बांठिया
विजयनगर, बैंगलोर

संस्करण : प्रथम, मई 2012

© सर्वाधिकार : लेखकाधीन

अक्षर संयोजन : आशीष होतीलाल जैन
ashishkumar.jain9301@gmail.com

ISBN :

मूल्य : ₹ 600/-

मुद्रक : पायोराईट प्रिन्ट मीडिया प्रा.लि., उदयपुर
फोन : 0294-2418482

Prakrit Ratnakara

(Encyclopedia of Prakrit works, Authors and subjects)

Shravanabelagola / 2012

प्रकाशकीय

प्राकृत भाषा एवं साहित्य के इतिहास में अनेक ग्रन्थ और ग्रन्थकार भारतीय साहित्य की निधि के रूप में सुरक्षित हैं। इन पर प्राचीन विद्वानों ने यत्र-तत्र प्रकाश डाला है। किन्तु सभी प्राकृत भाषाओं, उनके ग्रन्थों तथा प्राकृत रचनाकारों के सम्बन्ध में संक्षेप में किन्तु प्रामाणिक जानकारी की आवश्यकता अनुभव की जा रही थी। प्राकृत भाषा के प्रतिष्ठित प्राध्यापक एवं वरिष्ठ विद्वान् प्रोफेसर प्रेम सुमन जैन ने प्राकृत रत्नाकर कोश ग्रन्थ तैयार कर इस कमी को पूरा किया है। यह प्रसन्नता की बात है कि यह महत्वपूर्ण पुस्तक प्रोफेसर जैन ने श्रवणबेलगोला में रहते हुए लिखी थी और अब उसे प्रकाशित करने का सौभाग्य भी हमारे प्राकृत संस्थान को प्राप्त हो रहा है।

परमपूज्यरा जगदगुरु कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारूकीर्ति भट्टारक महास्वामी जी श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला की एक चिर प्रतीक्षित इच्छा इस पुस्तक से पूरी हुई है। प्रोफेसर जैन के प्रति पूज्य स्वामी जी की हार्दिक शुभकामना है कि डॉ. जैन इसी प्रकार प्राकृत श्रुतसेवा में संलग्न बने रहें। आशा है, प्राकृत के प्रेमी एवं शोधार्थी पाठक इस प्राकृत रत्नाकर की निधियों से लाभान्वित होंगे। पुस्तक के प्रकाशन सौजन्य हेतु सुश्रावक धर्मानुरागी श्रीमान् तेजराज बांठिया बैंगलोरु एवं उनके परिवार के प्रति हार्दिक आभार। आकर्षक प्रकाशन हेतु प्रिंटिग प्रेस एवं कार्यालय सहयोगियों को धन्यवाद।

महावीर जयन्ती, 2012

प्रो. बी. एस सनय्या
निदेशक प्रभारी

आमुख

प्राकृतभाषा एवं साहित्य के विषय में विगत सौ वर्षों में अनेक पुस्तकें निबन्ध एवं शोधपत्र आदि प्रकाशित हुए हैं। किसी में प्राकृत भाषा का विवेचन है, किसी में प्राकृत व्याकरण का। कोई ग्रन्थ प्राकृत साहित्य के किसी आचार्य या ग्रन्थकार का विवरण देता है तो कोई ग्रन्थ किन्हीं प्राकृत लाक्षणिक ग्रन्थों का। प्राकृतभाषा के कई ग्रन्थों का सम्पादन हुआ है। कुछ मूलरूप में प्रकाशित हुए हैं, कुछ प्राकृत ग्रन्थों का अनुवाद भी हुआ है। प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विषय में डॉ. जगदीशचन्द्र जैन और डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री के इतिहास ग्रन्थ भी 50-60 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुए हैं। प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विषय में जानकारी के लिए ये दोनों ग्रन्थ आधारस्वरूप हैं।

जैन साहित्य के इतिहास विषय को लेकर वाराणसी से सात-आठ भाग भी प्रकाशित हुए हैं, जिनमें प्राकृत साहित्य के ग्रन्थों की जानकारी दी गयी है। प्राकृत ग्रन्थों के विषय में पीएच.डी. के शोधप्रबन्ध भी लिखे गए हैं, जिनमें से कुछ ही प्रकाशित हुए हैं। इतना सब होते हुए भी कोई ऐसा कोश ग्रन्थ नहीं है, जिसमें प्राकृत एवं साहित्य के ग्रन्थों और ग्रन्थकारों, प्राकृत भाषाओं, प्राकृत संस्थाओं, प्राकृत विद्वानों आदि के विषय में जानकारी मिल जाए। इसी आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए परमपूज्य जगत्गुरु, कर्मयोगी, स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामी जी की प्रेरणा से श्रवणबेलगोला में इस '**प्राकृत रत्नाकर**' ग्रन्थ तैयार करने की रूपरेखा बनी। लगातार तीन वर्षों के अथक श्रम से यह ग्रन्थ लिखा गया। परमपूज्य राष्ट्रसन्त श्वेतपिच्छधारी आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज ने इस ग्रन्थ का अवलोकन कर आशीर्वाद दिया, यह मेरा सौभाग्य है। उन्हें सादर नमोस्तु।

इस 'प्राकृत रत्नाकर' ग्रन्थ को विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया) के पेटर्न पर तैयार किया गया है। इसमें अकारादि वर्णक्रम से प्राकृत के ग्रन्थ, ग्रन्थकार, प्राकृत भाषा, प्राकृत की प्रमुख संस्थाएँ, विभाग, प्राकृत के सम्पादक, विद्वान आदि के विषय में संक्षिप्त जानकारी दी गयी है। अब तक की प्रकाशित उपलब्ध सामग्री को आधार बनाया गया है। सुगमता की दृष्टि से प्रत्येक प्रविष्टि के नीचे सन्दर्भ नहीं दिए गए हैं, किन्तु जानकारी प्रामाणिक रखी गई है। अतः यह ग्रन्थ प्राकृत प्रेमियों, शोधार्थियों और विद्वानों सभी के लिए उपयोगी साबित होगा। अब तक प्रकाशित प्राकृत ग्रन्थों और शोधकार्य की सूची भी परिशिष्ट में दी गई है। प्रविष्टियाँ प्रचलित नामों से हैं, प्राकृत में सभी शीर्षक नहीं हैं। अकारादिक्रम में प्रविष्टियाँ होने से ग्रन्थ में उसी क्रम में अनुक्रम देना आवश्यक नहीं लगा। यह सूची परिशिष्ट में दी गयी हैं। इस कोश ग्रन्थ में कुछ सामग्री रिपीट हो सकती है, किन्तु कोश ग्रन्थों में प्रायः ऐसा होता है। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में सम्मिलित प्राकृत की प्रविष्टियाँ पूर्ण नहीं हैं। इनमें प्रतिवर्ष सामग्री जुड़ती रह सकती है। जो कुछ छूट गया उसे आगे जोड़ा जा सकता है। अतः यह एक आधार विश्वकोश बना है प्राकृत का, जिसमें आगे के विद्वान् अपना योगदान/मार्गदर्शन करते रह सकते हैं। प्राकृत के विद्वानों के सुझावों का स्वागत रहेगा।

इस विश्वकोश को तैयार करने में सहयोगियों, मित्रों और परिवार जनों का पूरा सहयोग मिला है। विशेषकर डॉ. श्रीमति सरोज जैन एव चि. लवेश जैन ने प्रेस कापी तैयार करने में मदद की है, उन्हें आशीर्वाद । सभी ग्रन्थकारों और सम्पादकों के प्रति भी आभार। इस पुस्तक का कम्प्यूटर-कार्य कई स्तरों पर हुआ है। इसके लिए श्री आशीष होतीलाल जैन ने पूरा सहयोग किया है, उन्हें धन्यवाद। पुस्तक के प्रकाशक का आभार, जिन्होंने इस ग्रन्थ को आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया है, परमपूज्य भट्टारक जी के प्रति विनम्र वन्दना। बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ परिवार के प्रति आभार और श्रीमान् तेजराज जी बांठिया, बैंगलोर, के प्रति प्रकाशन-सौजन्य-सहयोग हेतु कृतज्ञता-ज्ञापन ।

22 अप्रेल, 2012 **—प्रेम सुमन जैन**

प्राकृत रत्नाकर

प्राकृत रत्नाकर

1. अंग ग्रन्थ

अर्थ रूप में तीर्थंकर प्ररूपित तथा सूत्र रूप में गणधर ग्रंथित वाङ्मय अंग वाङ्मय के रूप में जाना जाता है। जैन परम्परा में 'अंग' का प्रयोग द्वादशांग रूप गणिपिटक के अर्थ में हुआ है – **दुवालसंगे गणिपिडगे (समवायांग)** नंदीसूत्र की चूर्णि में श्रुतपुरुष की सुन्दर कल्पना करते हुए पुरुष के शरीर के अंगों की तरह श्रुतपुरुष के बारह अंगों को स्वीकार किया गया है – **इच्चेतस्स सुत्तपुरिसस्सं जं सुत्तं अंगभागगठितं तं अंगपविट्ठं भणइ। (नन्दी चूर्णि, प . 47)** इस प्रकार अंगों की संख्या बारह स्वीकार की गई है। वर्तमान में दृष्टिवाद के लुप्त हो जाने के कारण 11 अंग ही उपलब्ध हैं।

2. अंगविज्जा (अंगविद्या)

अंगविज्जा फलादेश संबंधी ईसा की चौथी शताब्दी का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो अन्यत्र दुर्लभ सांस्कृतिक एवं सामाजिक सामग्री से भरपूर है। अंगविद्या का उल्लेख अनेक प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। यह एक लोकप्रचलित विद्या थी जिससे शरीर के लक्षणों को देखकर अथवा अन्य प्रकार के निमित्त या मनुष्य की विविध चेष्टाओं द्वारा शुभ-अशुभ फल का बखान किया जाता था। अंग, स्वर, लक्षण व्यंजन, स्वप्न, छींक, भौम, अंतरिक्ष ये निमित्त के आठ आधार हैं और इन आठ महानिमित्तों द्वारा भूत और भविष्य का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। यहाँ अन्य निमित्तों की अपेक्षा अंगविद्या को सर्वश्रेष्ठ बताया है।

अंगविद्या पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत है। यहाँ कितने ही नामों के रूप-प्रयोग ऐसे हैं जो सामान्यतया व्याकरण के नियमों से सिद्ध नहीं हैं। मूल ग्रंथ काफी खंडित और अशुद्ध है। इस ग्रंथ में 60 अध्याय हैं। आरंभ में अंगविद्या की प्रशंसा करते हुए उसके द्वारा जय-पराजय, आरोग्य, हानि-लाभ सुख-दुख, जीवन-मरण, सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि का ज्ञान होना बताया है। आठवाँ अध्याय 3 पाटलों में विभक्त है। इसमें अनेक आसनों के भेद बताये हैं। नौंवे अध्याय में 1868 गाथाओं में 270 विविध विषयों का प्ररूपण है। छियालीसवें अध्याय में ग्रहप्रवेशसम्बन्धी शुभाशुभ का विचार किया गया है। सैतालीसवें अध्याय में राजाओं की सैनिक यात्रा के फलाफल का विचार है। इक्यानवें अध्याय में देवताओं को दो विभागों में

विभक्त किया है- आर्य देवता और म्लेच्छ देवता। इन्हें उत्तम मध्यम और जघन्य भेदों में विभक्त किया गया है। यह ग्रन्थ मुनि पुण्यविजय जी द्वारा संपादित है। प्राकृत जैन टैक्स्ट सोसायटी द्वारा सन् 1957 में मोतीचन्द की अंग्रेजी और वासुदेवशरण अग्रवाल की हिन्दी भूमिका सहित प्रकाशित हैं।

3. अंगपण्णत्ति-अंग प्रज्ञप्ति

अंगपण्णत्ति- अंग प्रज्ञप्ति में 12 अंग और 14 पूर्वो की प्रज्ञप्ति का वर्णन है। चूलिकाप्रकीर्णप्रज्ञप्ति में सामायिक, स्तव, प्रतिक्रमण, विनय, कृतिकर्म, णिसेहिय (निशीथिका)और चतुर्दश प्रकीर्णक (पइण्णा)का उल्लेख है।

4. अंगप्रज्ञप्ति के कर्ता शुभचन्द्र

अंगप्रज्ञप्ति के कर्ता शुभचन्द्र हैं, जो सिद्धान्तसार के भाष्यकर्ता ज्ञानभूषण के प्रशिष्य थे। भट्टारक ज्ञानभूषण की भांति भट्टारक शुभचन्द्र भी बहुत बड़े विद्वान थे। वे त्रिविधविद्याधर शब्द युक्ति और परमागम के ज्ञाता और षट्भाषाकविचक्रवर्ती के नाम से प्रख्यात थे। गौड, कलिंग, कर्णाटक, गुर्जर, मालव आदि देशों के वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर उन्होंने जैनधर्म का प्रचार किया था।

5. अंजनासुन्दरीचरित

हनुमान की माता अंजनासुन्दरी पर अंजनासुन्दरीचरित नामक खरतरगच्छीय जिनचन्द्रसूरि की शिष्या गुणसमृद्धिमहत्तराकृत, 503 प्राकृत गाथाओं का काव्य है। इसकी सं. 1406 की पाण्डुलिपि प्राप्त है।

6. अगडदत्तपुराण (चरित)

इसकी कथा अति प्राचीन होने से पुराण नाम से कही गई है। इसमें अगडदत्त का कामाख्यान एवं चातुरी वर्णित है। इसके कर्ता अज्ञात हैं। अगडदत्त की कथा वसुदेवहिण्डी (5-6वी शती), उत्तराध्ययन की वादिवेताल शान्तिसूरिकृत शिष्यहिता प्राकृत टीका (11वीं शती) तथा नेमिचन्द्रसूरि (पूर्वनाम देवेन्द्रगणि) कृत सुखबोधा टीका (सं. 1130) में आती है। वसुदेवहिण्डी के अनुसार अगडदत्त उज्जैनी का एक सारथीपुत्र था। पिता की मृत्यु हो जाने पर पिता के परम मित्र कौशाम्बी के एक आचार्य से वह शस्त्रविद्या सीखता है, वहाँ उसका सोमदत्ता सुन्दरी से प्रेम हो

जाता है। सोमदत्ता को लेकर उज्जैनी लौटते समय धनंजय नाम के चोर से अगडदत्त का सामना होता है जिसका वह वध कर देता है। उज्जैनी पहुँचने पर सोमदत्ता के साथ उद्यान यात्रा में सोमदत्ता को सर्प डस लेता है। विद्याधर युगल के स्पर्श से वह चेतना प्राप्त करती है। देवकुल में पहुँचकर सोमदत्ता अगडदत्त के वध का प्रयत्न करती है। स्त्री-निन्दा और संसार-वैराग्य के रूप में कहानी का अन्त होता है। जर्मन विद्वान् डॉक्टर आल्सडोर्फ ने इस कथानक का विश्लेषण कर इसे हजारों वर्ष प्राचीन कथानकों की श्रेणी में रखा है। संभवतः अति प्राचीनता के कारण ही उक्त रचना को अगडदत्तपुराण कहा गया है।

7. अनन्तनाहचरियं

इसमें 14 वें तीर्थंकर का चरित वर्णित है। ग्रन्थ में 1200 गाथाएँ हैं। ग्रन्थकार ने इसमें भव्यजनों के लाभार्थ भक्ति और पूजा का माहात्म्य विशेष रूप से दिया है। इसमें पूजाष्टक उद्धृत किया गया है जिसमें कुसुम पूजा आदि का उदाहरण देते हुए जिनपूजा को पाप हरण करनेवाली, कल्याण का भण्डार और दारिद्रय को दूर करने वाली कहा है। इसके रचयिता आम्रदेव के शिष्य नेमिचन्द्रसूरि हैं। इन्होंने इसकी रचना सं. 1216 के लगभग की है।

8. अनन्तहंस कवि

इस **कुम्मापुत्तचरियं** के रचयिता तपागच्छीय आचार्य हेमविमल के शिष्य जिनमाणिक्य या जिनमाणिक्य के शिष्य अनन्तहंस हैं। कुछ विद्वान् अनन्तहंस को ही वास्तविक कर्ता मानते हैं और कुछ उनके गुरु को। ग्रन्थ में रचनाकाल नहीं दिया गया पर तपागच्छपट्टावली में हेमविमल को 55वाँ आचार्य माना गया और उनका समय 16वीं शताब्दी का प्रारम्भ बैठता है। इसलिए प्रस्तुत कथानक का काल 16वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

9. अनुत्तरौपपातिकदशा (अनुत्तरोववाइयदसाओ)

अनुत्तरौपपातिकदशा का अर्धमागधी आगम के अंग ग्रन्थों में नवाँ स्थान है। इस आगम ग्रन्थ में महावीरकालीन उन उग्र तपस्वियों का वर्णन हुआ है, जिन्होंने अपनी धर्म-साधना द्वारा मरण कर अनुत्तर स्वर्ग विमानों में जन्म लिया, जहाँ से केवल एक बार ही मनुष्य योनि में आने से मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। वर्तमान में यह

ग्रन्थ तीन वर्ग व तैंतीस अध्ययनों में विभक्त है। इसमें 33 महान् आत्माओं का संक्षेप में वर्णन है। इनमें से 23 राजकुमार तो सम्राट श्रेणिक के पुत्र हैं तथा शेष 10 भद्रा सार्थवाही के पुत्र हैं। इन दोनों के एक-एक पुत्र के जीवन वृत्त का वर्णन विस्तार से करते हुए शेष पुत्रों के चरित्रों को उनके समान कहकर सूचित कर दिया गया है। इस प्रकार प्रथम वर्ग में धारिणी पुत्र 'जालि' तथा तीसरे वर्ग में भद्रा पुत्र 'धन्य' का चरित्र विस्तार से वर्णित है। मुनि बनने के बाद धन्य ने जो तपस्या की वह अद्भुत एवं अनुपम है। तपोमय जीवन का इतना सुन्दर एवं सर्वांगीण वर्णन श्रमण साहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में अन्यत्र दृष्टिगोचर नहीं होता है। इस आगम के अध्ययन से महावीरकालीन सामाजिक व सांस्कृतिक परिस्थितियों से भी अवगत हुआ जा सकता है।

10. अनुयोगद्वारसूत्र (अणुओगद्दाराइ)

समस्त आगमों के स्वरूप व उनकी व्याख्याओं को समझने की दृष्टि से अनुयोगद्वारसूत्र एक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ है। आगमों के वर्गीकरण में इसे भी चूलिका रूप में रखा गया है। अनुयोग का शाब्दिक अर्थ है, शब्दों की व्याख्या करने की प्रक्रिया। भद्रबाहु ने अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक इन पाँचों को अनुयोग का पर्याय रूप कहा है। नन्दीसूत्र के समान यह ग्रन्थ भी प्राचीन है। इसके रचयिता आर्यरक्षित माने जाते हैं। इसमें चार द्वार हैं - उपक्रम, निक्षेप, अनुगम एवं नय। इन चारों द्वारों के माध्यम से आगम वर्णित, तथ्यों, सिद्धान्तों एवं तत्त्वों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। व्याख्येय शब्द का निक्षेप करके, पहले उसके अनेक अर्थों का निर्देश करते हुए, प्रस्तुत में उस शब्द का कौन सा अर्थ ग्राह्य है, इस शैली को समझाया गया है। इस शैली के द्वारा सत्य का साक्षात्कार सहज ढंग से हो सकता है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस आगम ग्रन्थ की विषयवस्तु में विविधता है। सात स्वरों, नवरसों, व्याकरण की आठ विभक्तियों आदि का उल्लेख इसमें प्राप्त होता है। पल्योपम, सागरोपम आदि के भेद-प्रभेद, संख्यात, असंख्यात, अनन्त आदि का विश्लेषण, भेद, प्रकार आदि का विस्तृत वर्णन है। प्रमाण के वर्णन में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा आगम की विशद् चर्चा की गई है। प्रमाण की तरह नयवाद पर भी इसमें विस्तृत चर्चा प्राप्त होती है। अनेकानेक

विषयों का विवेचन किये जाने के कारण यह ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

11. अनन्तकृतदशांग (अंतगडदसाओ)

अन्तकृद्दशाङ्गसूत्र का अर्धमागधी आगम के अंग ग्रन्थों में आठवाँ स्थान है। एक श्रुतस्कन्ध वाला यह आगम आठ वर्गों में विभक्त है। प्रथम पाँच वर्गों के कथानकों का सम्बन्ध अरिष्टनेमि के साथ और शेष तीन वर्गों के कथानकों का सम्बन्ध भगवान् महावीर और श्रेणिक राजा के साथ है। इसमें 90 उन महान् आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने घोर तप एवं आत्म-साधना द्वारा कर्मों का अन्त करके केवलज्ञान प्राप्त किया, इसलिए वे अन्तकृत कहलाए। उन महान आत्माओं के नगर, उद्यान, चैत्य, धन-वैभव, माता-पिता, परिजनों, दीक्षाग्रहण, श्रुत-ज्ञान की साधना, घोर तप व मुक्ति प्राप्ति का इसमें वर्णन है। यह सम्पूर्ण आगम भौतिकता पर आध्यात्मिक विजय का संदेश प्रदान करता है। सर्वत्र तप की उत्कृष्ट साधना दिखलाई देती है। इसमें भगवान् महावीर ने उपवास एवं ध्यान दोनों को ही क्रमशः बाह्य एवं आन्तरिकतप के रूप में स्वीकार किया है। इस श्रुतांग में कोई भी कथानक पूर्ण रूप से वर्णित नहीं है। 'वण्णवो' एवं 'जाव' शब्दों द्वारा अधिकांश वर्णन व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा ज्ञाताधर्मकथा से पूरा करने की सूचना मात्र है। इस आगम के तृतीय वर्ग के आठवें अध्ययन में देवकी पुत्र गजसुकुमाल एवं छठें वर्ग के तीसरे अध्ययन में अर्जुन मालाकार के महत्त्वपूर्ण कथानक आए हैं। प्रस्तुत आगम में श्रीकृष्ण के बहुमुखी व्यक्तित्व का भी विस्तार से निरूपण हुआ है।

12. अपभ्रंश चरित काव्य

अपभ्रंश भाषा में विशाल चरित साहित्य उपलब्ध होता है। परिमाण और काव्यत्व दोनों ही दृष्टियों से इसका महत्त्व है। जैन चरित काव्यों की भाँति जैन कथाओं की संख्या भी असीम है। जैनों ने अपने चरित काव्यों का निर्माण धार्मिक विचारधारा से प्रेरित होकर जन साधारण तक पहुँचाने के लिए किया है। संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश तीनों भाषाओं में जैन चरित ग्रन्थों की सर्जना हुई है। इन ग्रन्थों में मुख्यतः ऋषभ, नेमिनाथ, पार्श्व, महावीर आदि तीर्थंकरों तथा यशोधर, नागकुमार, करकंडु आदि राजपुरुषों के चरित्रों को अंकित किया गया है।

चरित काव्यों में प्रायः मूलकथा के सम्बन्ध में विशेष रूप से विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त कवि प्रकृति आदि के अन्य वर्णनों में अधिक समय नष्ट नहीं करता है। इस प्रकार से वर्णनात्मक अंशों के आधिक्य के अभाव में ये काव्य कथात्मक स्वरूप धारण करते हैं। चरित काव्यों में नायक के पूर्व जन्मों के विवरण, वर्तमान जन्म के कारण तथा देश, नगर आदि के वर्णन मिलते हैं। यद्यपि इस प्रकार के काव्यों में अवान्तर कथाओं का समावेश किया जाता है फिर भी एक ही कथानक में अनेक घटनाओं को व्यर्थ बाँधने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। इस प्रकार से काव्य में अधिक स्वाभाविकता आ जाती है। अपभ्रंश चरित काव्यों की परम्परा लगभग 17वीं शताब्दी तक चलती रही।

13. अभयदेवसूरि

नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव एक महान् प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। प्रभावकचरित्र के अनुसार इनकी जन्मस्थली धारा नगरी है। वर्ण की दृष्टि से ये वैश्य थे। पिता का नाम महीधर और माता का नाम धनदेवी था। ये जिनेश्वरसूरि के शिष्य बने। वि.स. 1120 में इन्होंने सर्वप्रथम स्थानांग पर वृत्ति लिखी और वि.स. 1128 में अन्तिम रचना भगवतीसूत्र की वृत्ति है जो उन्होंने अनहिल पाटण में पूर्ण की। इस प्रकार उनका वृत्तिकाल वि.स.1120 से 1128 है। प्रस्तुत अवधि में आचार्य अभयदेव मुख्य रूप से पाटण में रहे हैं। वि.सं. 1128 में धोलका ग्राम में उन्होंने आचार्य हरिभद्र के पंचाशक ग्रन्थ पर बहुत ही महत्त्वपूर्ण व्याख्या लिखी। इससे यह सिद्ध होता है कि वे पाटण को छोड़कर सन्निकट के क्षेत्रों में भी विचरण करते रहे थे।

टीकाओं के निर्माण में चैत्यवासियों के नेता द्रोणाचार्य का उन्हें गहरा सहयोग मिला था जिसका उन्होंने अपनी वृत्तियों में उल्लेख भी किया है। द्रोणाचार्य ने अभयदेव की वृत्तियों को आदि से अन्त तक पढ़ा और उनका संशोधन कर अपने विराट हृदय का परिचय दिया। यह सत्य तथ्य है कि द्रोणाचार्य का सहयोग अभयदेव को प्राप्त न होता तो वे उस विराट कार्य को संभवतः इतनी शीघ्रता से सम्पादित नही कर पाते।

अभयदेव के तेजस्वी व्यक्तित्व का वास्तविक परिचय हमें उनकी कृतियों से प्राप्त होता है। उनमें उनके विचारों का मूर्तरूप स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने अपनी टीकाओं में बिन्दु में सिन्धु भरने का प्रयास किया है। उनकी पाण्डित्यपूर्ण विवेचनाशक्ति सचमुच ही दर्शनीय है। उन्होंने आगम रहस्यों को जिस सरलता व सुगमता से अभिव्यक्त किया है। वह उनके अत्यधिक उच्च कोटी के सैद्धान्तिक ज्ञान का एक ज्वलन्त प्रमाण है। प्रभावकचरित्रकार ने अभयदेव के स्वर्गवास का समय नहीं दिया है। उन्होंने इतना ही लिखा है कि वे पाटण में कर्णराज के राज्य में स्वर्गस्थ हुए। पट्टावलियों के अध्ययन से यह परिज्ञात होता है कि अभयदेव के स्वर्गवास का समय वि.स. 1135 और दूसरे अभिमत के अनुसार सं. 1138 हैं। पट्टावलियों में पाटण के स्थान पर कपडवंज का उल्लेख है।

14. अभिधानराजेन्द्रकोश

आधुनिक प्राकृत कोशों में आचार्य विजयराजेन्द्रसूरि द्वारा विरचित अभिधानराजेन्द्रकोश अत्यंत उपयोगी कोश है। आचार्य ने पन्द्रह वर्षों के लगातार परिश्रम के पश्चात् वि.सं. 1960 में साढ़े चार लाख श्लोक प्रमाण इस विशालकाय कोश की रचना की। यह कोश-ग्रन्थ सात भागों में है, जिनमें अकारादि क्रम में 60,000 शब्दों का मूल के साथ संस्कृत में अनुवाद, व्युत्पत्ति, लिंग एवं जैनागमों के अनुसार उनके अर्थ की प्रस्तुति की गई है। कुछ शब्दों के व्याख्या क्रम में संदर्भित कथाओं का भी निरूपण किया गया है। इससे यह कोश-ग्रन्थ रोचक एवं सरस बन गया है। जैन आगम-साहित्य में आए पारिभाषिक शब्दों का अध्ययन करने के लिए यह कोश अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। अभिधानराजेन्द्र कोश का संक्षिप्त रूप शब्दांबुधि में किया है, किन्तु यह रचना अभी अप्रकाशित है।

15. अभिनव प्राकृत -व्याकरण

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने प्राकृत -प्रबोध के पश्चात् ई. सन् 1963 में अभिनव प्राकृत -व्याकरण की रचना की है। इस व्याकरण-ग्रन्थ में इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि अन्य किसी भी भाषा के व्याकरण को समझे बिना व्यक्ति इस ग्रन्थ के अध्ययन से प्राकृत भाषा के अनुशासन सम्बन्धी समस्त नियमों को समझ

सके। प्रमुख रूप से महाराष्ट्री, शौरसेनी, जैन-शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, जैन-महाराष्ट्री, पैशाची, चूलिका-पैशाची एवं अपभ्रंश का अनुशासन इस ग्रन्थ में किया गया है। भाषा-विज्ञान के विभिन्न सिद्धान्तों का भी इसमें विवेचन किया गया है।

16. अर्धमागधी कोश

यह कोश-ग्रन्थ शतावधानी मुनि रत्नचन्द्रजी द्वारा ई. सन् 1923-1938 में पाँच भागों में रचा गया है। यह महत्त्वपूर्ण कोश संस्कृत, गुजराती, हिन्दी और अंग्रेजी इन चार भाषाओं में संकलित है। इसमें यथास्थान शब्दों के लिंग, वचन आदि का भी निर्देश किया गया है। शब्दों के साथ मूल संक्षिप्त उद्धरणों का भी समावेश है। आगम-साहित्य के साथ-साथ विशेषावश्यकभाष्य आदि ग्रन्थों के शब्दों का भी इसमें संकलन है।

17. अर्धमागधी प्राकृत

भगवान महावीर ने अर्धमागधी में उपदेश दिये थे- **भगवं च णं अद्धमागहीए भासाए धम्माइक्खइ**- समवायांगसूत्र। किन्तु उस समय अर्धमागधी और आज के उपलब्ध साहित्य की अर्धमागधी में स्पष्ट अन्तर है, जो स्थान और समय के अन्तराल का प्रभाव है। जैन आगमों की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है। इसे 'ऋषिभाषा तथा आर्ष भाषा भी माना गया है, जो इसकी प्राचीनता का द्योतक है- **असिसवयणां सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी**-काव्यालंकार (2-12)। वैयाकरणों ने अर्धमागधी की स्वतन्त्र उत्पत्ति बतलाते हुए उसके लिए व्याकरण के नियमों की आवश्यकता नहीं बतलायी। अतः इस आर्ष भाषा के अपने स्वतन्त्र नियम हैं। जिस प्रकार बौद्धों ने मागधी भाषा को सब भाषाओं का मूल माना है, वैसे ही जैनों ने अर्धमागधी को अथवा वैयाकरणों ने आर्षभाषा को मूलभाषा स्वीकार किया है, जिससे अन्य भाषाओं और बोलियों का उद्गम हुआ है।

जैन आगमों की भाषा का नाम अर्धमागधी क्यों पड़ा यह इसकी व्युत्पत्ति से स्पष्ट हो जाता है। कुछ लोगों का मत है कि इसमें अर्धांश मागधी भाषा है इसलिए इसे अर्धमागधी कहा गया है, किन्तु अर्धमागधी का यह अर्थ नहीं है। प्राचीन आचार्यो ने मगध के अर्धांश भाग में बोली जाने वाली भाषा को अर्धमागधी

कहा है। सातवीं सदी के निशीथ- चूर्णिकार श्री जिनदासगणि ने अपना यही मत प्रकट किया है–**मगहद्ध विसयभासानिबद्धं अद्धमागह**। निशीथचूर्णि के नवांगी टीकाकार अभयदेव ने इसमें कुछ लक्षण मागधी और कुछ लक्षण प्राकृत के पाये जाने के कारण इसे अर्धमागधी कहा है। प्राकृत के वैयाकरणों में मार्कण्डेय ने शौरसेनी के समीप होने से मागधी को ही अर्धमागधी कहा है। डॉ. जे. सी. जैन के अनुसार यही लक्षण ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि यह भाषा शुद्ध मागधी नहीं थी। पश्चिम में शौरसेनी और पूर्व में मागधी के बीच के क्षेत्र में यह बोली जाती थी, इसलिए भी इसे अर्धमागधी कहा गया है।

अर्धमागधी की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर इस का मूल उत्पत्ति-स्थान पश्चिम मगध और सूरसेन (मथुरा) का मध्यवर्ती प्रदेश अयोध्या है। फिर भी इसका महाराष्ट्री प्राकृत से अधिक सादृश्य है, जो जैन संघ का दक्षिण में प्रवास होने का प्रभाव हो सकता है। इसके अतिरिक्त आर्येतर भाषाओं का प्रभाव भी इस पर पड़ा है। अर्धमागधी का रूपगठन मागधी और शौरसेनी की विशेषताओं से मिलकर हुआ है। यद्यपि इसमें मागधी की पूरी विशेषताएँ नहीं पायी जाती, फिर भी कुछ तो प्रभाव पड़ा है। उसी प्रकार अकारान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति एवं एकवचन में ए के साथ ओ और क के स्थान पर ग का पाया जाना शौरसेनी का प्रभाव कहा जा सकता है। किन्तु यह जैनसूत्रों की शौरसेनी का प्रभाव है, न कि नाटकों में प्रयुक्त शौरसेनी का। अतः इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पालि में अनेक बोलियों का सम्मिश्रण हुआ है, उसी प्रकार भगवान् महावीर द्वारा प्रयुक्त अर्धमागधी में उनके प्रचार क्षेत्र की भाषाओं का सम्मिश्रण होना भी स्वाभाविक है।

अर्धमागधी प्राकृत में प्रमुख रूप से श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य आज उपलब्ध हैं। आचारांगसूत्र, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययनसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा आदि प्रसिद्ध आगम इसी अर्धमागधी प्राकृत में हैं। यद्यपि इनकी भाषा के स्वरूप के कई स्तर विद्वानों ने निश्चित किये हैं। अर्धमागधी प्राकृत की व्याकरण एवं ध्वनि-परिवर्तन की दृष्टि से कई विशेषताएँ प्राचीन एवं अर्वाचीन भाषाशास्त्रियों ने गिनायी हैं एवं उनके उदाहरण भी दिये है। उन सबकी जानकारी प्राकृत व्याकरण के ग्रंथों से

लेनी चाहिए। इस भाषा के ग्रंथों के प्रायः हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हो गये हैं। अर्धमागधी–कोश आदि की सहायता से भी इस भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। उससे अर्धमागधी की प्रमुख विशेषताएँ स्पष्ट हो सकेंगी।

कतिपय विशेषताएँ:

1–सामान्य प्राकृत में 'क' का प्रायः लोप होता है, किन्तु अर्धमागधी में प्रायः 'क' का 'ग' हो जाता है। यथा– एक > एग, श्रावक > सावग

2–सामान्य प्राकृत में 'त' का लोप होता है, किन्तु अर्धमागधी में प्रायः 'त' का 'त' सुरक्षित रहता है।

यथाः – भणति > भणति, जाति > जाति

3–अकारान्त पुलिंग प्रथम एकवचन में प्रायः 'ए' प्रत्यय होता है। यथा–: जिणे, से आदि।

4–चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति एक है, परन्तु चतुर्थी अकारान्त पु. एवं नपु. लिंग में 'आते ' एवं 'आए' प्रत्यय भी होते हैं।

5–पंचमी एकवचन एवं बहुवचन के सभी लिंगों मे तो, 'तु' प्रत्यय होते है। यथाः–जिणातो, जिणातु (पु.), मालातो, मालातु (स्त्री.)

6–अकारान्तदि पु. एवं नपु. लिंग शब्दों के सप्तमी एकवचन में 'असि' प्रत्यय होता है और सर्वनाम शब्दों में 'अस्सिं' भी होता है। यथाः–देवंसि, वणांसि, भाणुंसि, इमंसि, कस्सि।

7–भविष्यत् प्रथम पुरुष एकवचन में 'भण' की तरह स्व क्रियाओं में 'इस्सं' होता है। और दीर्घान्त (दी, णो,) में हं, प्रत्यय का भी प्रयोग होता है। यथाः– भणिस्सं, दाहुं, काहं।

8–(1)भूतकाल में स्वरान्त क्रियाओं में 'आसि', 'आसि', 'त्था', 'ईअ', प्रत्यय सभी पुरुषों में भणित्था, भणीअ, होसी, होही, णेसी, णेही

(2)उत्तम पुरुष बहुवचन में 'इंसु' 'अंसु' प्रत्यय होते हैं। यथाः– गच्छिंसु छिदिसुं, भणंसु।

9–संबंध कृदन्त में त्ता, च्चा, ट्टू होते हैं। यथा–भणित्ता, भणेत्ता, किच्चा, सोच्चा, कट्टू, भणिय, भणिया आदि।

नोट:–1–इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त अर्धमागधी में तृतीया एकवचन में मणसा, वयसा, कायसा, भगवया, भगवता, कम्मुणा शब्द रूप भी पाए जाते है।

2–आज्ञा एवं विधि के मध्यम पुरुष एकवचन में 'हि' प्रत्यय से पूर्व धातुओं का दीर्घ भी होता है। यथा- भणाहि, पासाहि।

डॉ. के. आर. चन्द्रा ने वर्तमान अर्धमागधी आगमों में महाराष्ट्री के प्रभाव की प्रचुरता और सम्पादकों द्वारा प्राचीन रूपों को कम अपनाने के कारण आराचांगसूत्र की प्राचीन अर्धमागधी के स्वरुप को खोजने का श्रमसाध्य महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक में अर्धमागधी की प्राचीनता के जो उदाहरण या नियम स्वीकार किये हैं उनमें से अधिकांश प्रवृत्तियों को हम सिद्धान्त ग्रंथों की भाषा शौरसेनी प्राकृत में भी पाते हैं।

18. अलंकारदर्पण

अलंकारदर्पण प्राकृत भाषा में अलंकार विषय पर लिखा गया एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमें 134 गाथाएँ हैं। अलंकारों के लक्षण, उदाहरण, काव्य-प्रयोजन आदि विषयों पर प्राकृत भाषा में पद्य लिखे गये हैं। इसके कवि अज्ञात है। रचना काल भी निश्चित नहीं है।

इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त पंडितराज जगन्नाथ (17वीं शताब्दी) का रसगंगाधर, अमरचन्द्रसूरि का अलंकारप्रबोध आदि अलंकारशास्त्र के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनमें काव्य की दृष्टि से प्राकृत के सुन्दर पद्य उद्धृत हैं।

19. अलंकारसर्वस्व

12वीं शताब्दी के अलंकारशास्त्री राजानक रुय्यक ने अपने ग्रन्थ अलंकारसर्वस्व में अलंकारों का बड़ा ही पांडित्यपूर्ण ढंग से विवेचन किया है। इस ग्रन्थ में प्राकृत के 10 पद्यों को उद्धृत किया है। कश्मीर के राजा जयसिंह के महाकवि मंखुक ने इस पर वृत्ति लिखी है।

20. अलंकारशास्त्र

जिस प्रकार भाषा को व्यवस्थित करने के लिए व्याकरण-ग्रन्थों तथा काव्य की सार्थकता के लिए छंद ग्रन्थों की आवश्यकता महसूस की गई उसी

प्रकार काव्य के मर्म को समझने के लिए अलंकार-ग्रन्थों की रचना की गई। काव्य का स्वरूप, रस, गुण, दोष, रीति, अलंकार एवं काव्य-चमत्कार का निरूपण अलंकारशास्त्रों में ही पाया जाता है। अलंकारशास्त्रों के अर्वाचीन प्रणेताओं में भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट, भोजराज, हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इनके द्वारा रचित प्रमुख अलंकारशास्त्रों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है। ये अलंकारशास्त्र संस्कृत भाषा में निबद्ध हैं, किन्तु इनमें लक्षणों को समझाने के लिए उदाहरण स्वरूप पद्य प्राकृत भाषा में दिये गये हैं। इन अलंकारशास्त्रों में उद्धृत प्राकृत गाथाओं पर प्रो. बी. एम. कुलकर्णी ने शोध कार्य किया है। प्रो. जगदीश चन्द्र जैन ने प्राकृत पुष्करिणी नामक ग्रन्थ में इन सब प्राकृत गाथाओं का संग्रह किया है। अलंकारशास्त्र के इन दिग्गज पंडितों ने प्राकृत भाषाओं संबंधी चर्चा करने के साथ-साथ ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय के उदाहरणस्वरूप प्राकृत के अनेक सरस पद्य उद्धृत किए हैं, जिससे पता लगता है कि इन विद्वानों के समक्ष प्राकृत साहित्य का अनुपम भण्डार था। इनमें से बहुत से पद्य गाथासप्तशती, सेतुबन्ध, गउडवहो, रत्नावलि, कर्पूरमन्जरी आदि से उद्धृत हैं, अनेक अज्ञातकर्तृक हैं। विश्वनाथ ने अपने प्राकृत काव्य कुवलयाश्वचरित से कुछ पद्य उद्धृत किये हैं। अलंकारदप्पण (अलंकारदर्पण) नाम की वि.सं. 1161 की एक ताडपत्रीय प्रति जैसलमेर के भंडार में मिली है। इसमें अर्थालंकार और शब्दालंकारों के प्राकृत में लक्षण दिये गये हैं। कुल मिलाकर 134 गाथाओं में यह विवेचन है।

21 अवन्ति-सुकुमाल (सुकुमालचरित)

तप की चरम आराधना और तिर्यंच (शृंगाली) के उपसर्ग को अडिग भाव से सहन करने के दृष्टान्तरूप अवन्ति-सुकुमाल की कथा आराधना कथाकोशों तथा अन्य कथाकोशों में वर्णित है। हरिषेण के कथाकोश में यह कथा 260 श्लोकों में दी गई है। दानप्रदीप में इसे उपाश्रयदान के महत्त्व में कहा गया है। अवन्तिसुकुमाल आचार्य सुहस्ति के शिष्य माने गये हैं और कहा जाता है कि इन्हीं के समाधिस्थल पर उज्जैन का महाकालेश्वर मन्दिर बना है। पाटन (गुजरात) के तपागच्छ भण्डार के एक कथासंग्रह में अवन्ति सुकुमालकथा 119 प्राकृत गाथाओं में उपलब्ध है।

22. अशोक के शिलालेख

शिलालेखी साहित्य में सबसे प्राचीन एवं ऐतिहासिक शिलालेख सम्राट अशोक के हैं। ई. पू. 269 में राज्यभिषेक के 12 वर्ष पश्चात् सम्राट अशोक ने गिरनार, कालसी, धौली, जौगढ़ एवं मनसेहरा आदि स्थानों पर अनेक लेख उत्कीर्ण कराए हैं। सम्राट अशोक के कुछ लेख शिलालेख हैं, कुछ स्तम्भ लेख और कुछ गुफा लेख हैं। अशोक के मुख्य शिलालेखों की संख्या चौदह हैं। अशोक के इन चतुर्दश शिलालेखों का एक समूह सौराष्ट्र में जूनागढ़ (गिरनार का मध्यकालीन नाम) से लगभग एक मील की दूरी पर गिरनार की पहाड़ियों पर स्थित है। यह अभिलेख जिस शिला पर उत्कीर्ण है, वह शिला त्रिभुजाकार ग्रेनाइट पत्थर की है, जिसका क्षेत्रफल लगभग 100 वर्गफुट है। शिलाखण्ड के उत्तरपूर्वीय मुख पर अशोक के चतुर्दश शिलालेख दो स्तम्भों में विभाजित होकर उत्कीर्ण हैं। दोनों स्तम्भों के बीच में एक रेखा भी खिंची हुई है। बायीं ओर के स्तम्भ में प्रथम पाँच अभिलेख और दायीं ओर के स्तम्भ में छठवें से लेकर बारहवाँ तक उत्कीर्ण हैं। त्रयोदश एवं चतुर्दश अभिलेख पंचम तथा द्वादश के नीचे खुदे हुए हैं। अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है, जो पालि के अधिक निकट है। कहीं-कहीं संस्कृत के रूपों का भी समावेश है। लिपि की दृष्टि से ब्राह्मी एवं खरोष्ठी दोनों का ही प्रयोग हुआ है। शाहबाजगढ़ी और मनसेहरा के शिलालेख खरोष्ठी लिपि में है तथा शेष लेख ब्राह्मी में हैं।

अशोक के ये शिलालेख भारतीय साहित्य में कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण हैं। इनसे न केवल अशोक के व्यक्तिगत जीवन का परिचय मिलता है, अपितु तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि स्थितियों की जानकारी भी प्राप्त होती है। अशोक के शिलालेखों से उसके व्यक्तिगत जीवन के बारे में पता चलता है कि वे बहुत से भाई-बहिन थे। उसकी कम से कम दो रानियाँ थी, क्योंकि प्रयाग स्तम्भ लेख में राजकुमार तीवर की माता कारुवाकी को द्वितीय रानी कहा है। उसके एक पुत्र महेन्द्र एवं पुत्री संघमित्रा थी। इन अभिलेखों से यह भी स्पष्ट होता है कि कलिंग को जीतने के बाद लाखों लोगों की हिंसा को देखकर अशोक को अत्यधिक

अनुताप हुआ और उसके बाद वह पूर्णत: बौद्ध धर्म की ओर प्रवृत्त हुआ। पहले सम्राट अशोक मांस भक्षी था, किन्तु बाद में उसने जीव हिंसा का निषेध किया था।

अशोक के अभिलेखों से उसके साम्राज्य के विस्तार का ज्ञान होता है। अशोक का साम्राज्य पश्चिम में अफगानिस्तान से पूर्व में बंगाल तक तथा उत्तर में हिमालय की तराई से दक्षिण में मद्रास प्रान्त के येरागुडी (करनूल जिला) तक व्याप्त था, क्योंकि प्राप्त शिलालेखों का सीमा क्षेत्र उपर्युक्त ही है। अशोक के द्वितीय तथा तेरहवें शिलालेख में राजाओं की जो सूची प्राप्त है, उससे भी इसकी पुष्टि होती है। अशोक के शिलालेखों से मौर्यकालीन प्रशासन व्यवस्था का ज्ञान होता है। प्रशासन एवं न्याय व्यवस्था के क्षेत्र में अशोक ने अनेक नये-नये प्रयोग किये। इन प्रयोगों एवं उनसे सम्बन्धित पदाधिकारियों यथा – महामात्रों, ब्रजभूमिकों, अन्तमहामात्रों आदि का विस्तृत उल्लेख इन अभिलेखों में मिलता है। पाँचवें शिलालेख में धर्ममहामात्य नामक नये कर्मचारी की नियुक्ति का वर्णन है। तीसरे शिलालेख में रज्जुक, प्रादेशिक तथा युक्त नामक पदाधिकारियों को प्रजाहित के लिए राज्य में परिभ्रमण करने की आज्ञा दी गई है। चौथे स्तंभ अभिलेख में अशोक ने स्वयं रज्जुक के विभिन्न कार्यों का विवेचन किया है। अशोक के अभिलेखों से स्पष्ट होता है कि पाटलिपुत्र, कौशाम्बी, तक्षशिला, उज्जयिनी, तोसली, सुवर्णगिरि नामक प्रान्तों में शासन विभक्त था। एक अभिलेख में आटविक जातियों को सम्बोधित करते हुए अशोक ने अपनी शक्ति का जिस प्रकार उल्लेख किया है, उससे लगता है कि वह अपने राज्य में विद्रोहात्मक प्रवृत्तियों को सहन नहीं करता था। अशोक की प्रशासनिक व्यवस्था इस प्रकार की थी कि किसी भी व्यक्ति को उससे कहीं भी मिलने की अनुमति थी।

अशोक ने अपने अभिलेखों द्वारा जातिवाद, हिंसा, श्रमण-ब्राह्मण के प्रति अनुचित व्यवहार का निषेध किया तथा समाज में सदाचार, सुव्यवस्था एवं निश्छल प्रेम उत्पन्न करने का प्रयास किया। समाज के नैतिक उत्थान के लिए अहिंसा, सेवा, मैत्री, दान, संयम, अपरिग्रह, कृतज्ञता, भाव-शुद्धि जैसे मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा की। तृतीय शिलालेख में बताया गया है कि माता-पिता की सेवा करना, मित्र, परिचित, जाति, ब्राह्मण और श्रमणों को दान देना अच्छा है,

कम खर्च करना एवं कम संचय करना अच्छा है। उसने इन अभिलेखों के माध्यम से प्रजा में अहिंसा की भावना को जगाया। जीवन में अहिंसा को उतारने के लिए आहार पानी की शुद्धि का निर्देश दिया। प्रथम तथा चतुर्थ शिलालेख में जीव हिंसा का निषेध किया गया है। इसी प्रकार प्राणियों के प्राणों का आदर, विद्यार्थियों द्वारा आचार्य की सेवा एवं जाति भाईयों के साथ उचित व्यवहार का संदेश भी इन अभिलेखों में उत्कीर्ण है।

अशोक के अभिलेखों से यह भी ज्ञात होता है कि वह प्रजा को अपनी संतान मानता था। प्रजाहित को वह सर्वाधिक महत्त्व देता था। कलिंग अभिलेख में कहा गया है कि मेरी प्रजा मेरे बच्चों के समान है और मैं चाहता हूँ कि सबको इस लोक तथा परलोक में सुख तथा शान्ति मिले। छठे शिलालेख में अशोक ने अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा है – सर्व लोक हित मेरा कर्त्तव्य है, ऐसा मेरा मत है। यथा–

कतव्यमते हि मे सर्वलोकहितं। नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितत्पा।....

(छठा शिलालेख)

उसने यात्रियों के लिए छायादार पेड़ लगवाये, कुँए खुदवाए, सरायें बनवाई, रोगी मनुष्य एवं पशुओं के लिए चिकित्सा का पूरा प्रबंध किया। जहाँ औषधियाँ नहीं थीं, वहाँ लाई गई एवं रोपी गई। यथा –

ओसुडानि च यानि मनुसोपगानि च पसोपगानि च यत यत नास्ति,
सर्वत्रा हारापितानि च रोपापितानि च। ... (दूसरा शिलालेख)

इन सब कार्यों के पीछे उसका यही अभिप्राय था कि लोग धर्म के प्रति आकर्षित हों और धर्म का आचरण करें।

अशोक के अभिलेखों का धार्मिक दृष्टि से अत्यंत महत्त्व है। धर्म को उसने सर्वोत्कृष्ट मंगल कहा है। धर्मदान, धर्मउदारता एवं धर्ममित्रता को सर्वश्रेष्ठ बताया है। दूसरे शब्दों में धर्म के संदेश के द्वारा भी उसने मानवीय मूल्यों को ही उकेरा है। द्वितीय स्तम्भ अभिलेख में धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा है कि पाप से दूर रहना, बहुत अच्छे कार्य करना तथा दया, दान, सत्य और शौच का पालन

करना धर्म है। अशोक के अभिलेखों में प्रतिपादित धर्म का साम्प्रदायिकता से कहीं भी सम्बन्ध नहीं है। उसके द्वारा निर्दिष्ट सार्वजनिय एवं समन्वयात्मक धर्म मान मात्र के लिए उपादेय है। दूसरे शब्दों में इसे बहुश्रुत एवं कल्याणगामी धर्म संज्ञा दी जा सकती है। अपनी धार्मिक इच्छा व्यक्त करते हुए सातवें शिलाले कहा है कि सब मतों के व्यक्ति सब स्थानों पर रह सकें क्योंकि वे सभी अ संयम एवं हृदय की पवित्रता चाहते हैं। इन अभिलेखों के माध्यम से अशोक धर्म-निरपेक्षता का जो संदेश दिया है, वह वर्तमान युग में अत्यंत प्रासंगिक है। व इच्छा करता था कि सभी सम्प्रदाय के लोग उसके राज्य में बसें और समृद्धि को प्राप्त हों। सम्प्रदायों में सारवृद्धि का उल्लेख करते हुए बारहवें शिलालेख में कहा गया है कि इसके लिए वाणी का संयम तो आवश्यक है ही साथ ही लोग अपने सम्प्रदाय का आदर व दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें।

सारवढी तु बहुविधा। वस तु इदं मूलं व वचगुती किंति
आत्पपासंडपूजा व पर पासंड गरहा व न भवे अप्रकरणम्हि। ...

(बारहवाँ शिलालेख)

अपने धर्म का उसने पड़ौसी राज्यों में भी प्रचार किया। तेरहवें अभिलेख में प्रयुक्त धर्मविजय शब्द धर्म प्रचार का ही अभियान था। अशोक ने बौद्ध धर्म का प्रचार धर्म यात्राओं से किया था। राज्याभिषेक के दसवें वर्ष में वहाँ "बोध गया" गया था।

देवानंपियो पियदसि राजा दसवर्साभिसितो संतो अयाय संबोधि।..

(आठवाँ शिलालेख)

अशोक के अभिलेखों की भाषा मागधी प्राकृत है। कहीं कहीं इसमें पालि, पैशाची, शौरसेनी एवं संस्कृत के रूप भी मिलते हैं। इन अभिलेखों में ई. पू. तीसरी शताब्दी की प्राकृत का स्वरूप सुरक्षित है। साथ ही प्राचीन भारतीय भाषाओं के मानचित्र को समझने की दृष्टि से भी ये अभिलेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। शौरसेनी, अर्धमागधी एवं पालि भाषा के प्राचीन रूप एवं उनके विकास क्रम की जानकारी के लिए ये सर्वोत्तम लिखित प्रमाण हैं। इन अभिलेखों में तात्कालीन भाषा के

प्रादेशिक भेद भी प्राप्त होते हैं। केन्द्रीय बोली मागधी के अतिरिक्त उत्तरी, पश्चिमी एवं पूर्वी भाषा के रूप भी इन लेखों में परिलक्षित होते हैं। साहित्यिक दृष्टि से भी ये अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। अशोक द्वारा **देवानां प्रिय प्रियदशी** की उपाधि धारण की गई थी, जो बाद में ब्राह्मण साहित्य में अत्यंत लोकप्रिय हुई। यथा-

इयं धंमलिपी देवानं प्रियेन प्रियदसिना राया लेखापिता।..

(पहला अभिलेख)

23. अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

आदि युग की प्राकृत भाषा का प्रतिनिधत्व प्रथम शताब्दी के नाटककार अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत भाषा भी करती है। अर्धमागधी, शौरसेनी और मागधी प्राकृत की विशेषताएँ इन नाटकों में प्राप्त होती हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि इस युग में प्राकृत भाषा का प्रयोग क्रमशः बढ़ रहा था। और आगम ग्रन्थों की भाषा का कुछ-कुछ नया स्वरूप ग्रहण कर रही थी।

24. अश्वघोष के नाटक

संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम प्रयोग अश्वघोष के नाटकों में प्राप्त होता है। अश्वघोष का समय लगभग ई. सन् की पहली शताब्दी माना गया है। अश्वघोष के **शारिपुत्रप्रकरण** एवं अन्य दो अधूरे नाटक ताड़पत्रों पर प्राप्त हुए हैं। शारिपुत्रप्रकरण नौ अंकों का प्रकरण है, जिसमें गौतम बुद्ध द्वारा मौद्गलायन और शारिपुत्र को बौद्ध धर्म में दीक्षित किये जाने का वर्णन है। अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृत के अध्ययन के पश्चात् विद्वानों ने यही निष्कर्ष प्रस्तुत किया है कि इन नाटकों में अर्धमागधी, मागधी एवं शौरसेनी के प्राचीनतम् रूप उपलब्ध हैं। इन नाटकों की प्राकृत भाषाएँ अशोक के शिलालेखों की प्राकृत के अधिक निकट हैं। भाषा व साहित्य दोनों के ही इतिहास की दृष्टि से अश्वघोष के नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतों का अस्तित्व अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

25. अष्टपाहुड़ (अट्ठपाहुडं)

अष्टपाहुड (अष्टप्राभृत) आचार्य कुन्दकुन्द के आठ संक्षिप्त ग्रन्थ हैं, परन्तु संकलन में एक साथ प्रकाशित होने के कारण अष्टपाहुड के नाम से प्रसिद्ध हैं। **दर्शनपाहुड** में 36 गाथाओं में सम्यग् दर्शन की महत्ता का निरूपण करते हुए कहा गया है कि सम्यग् दर्शन से भ्रष्ट व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी नहीं हो सकता। **चारित्रपाहुड** में 44 गाथाओं में सम्यग् दर्शनादि रत्नत्रय का निरूपण करते हुए चारित्र के सम्यक्त्व का वर्णन किया है। **सूत्रपाहुड** की 27 गाथाओं में आगम ज्ञान के महत्त्व को बताते हुए उसके अनुसार आचरण की प्रेरणा दी गई है। **बोधपाहुड** में 62 गाथाओं में चैत्यगृह, जिनप्रतिमा, जिनबिम्ब, आत्मज्ञान, प्रव्रज्या आदि का बोध दिया गया है। **भावपाहुड** की 163 गाथाओं में चित्त-विशुद्धि पर बल देते हुए कहा गया कि इसके बिना तप भी सिद्धि में सहायक नहीं हो सकता है। **मोक्षपाहुड** की 106 गाथाओं में आत्म-तत्त्व का विस्तार से विवेचन करते हुए बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा इन तीनों के स्वरूप को समझाया है। **लिंगपाहुड** में 22 गाथाओं में श्रमण के लिंग (चिन्ह) को लक्ष्य कर मुनिधर्म का निरूपण किया है तथा **शीलपाहुड** की 40 गाथाओं में शील की महत्ता को स्पष्ट कर उसे मोक्ष प्राप्ति में सहायक कहा है। इन प्रमुख ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य कुन्दकुन्द के कुछ अन्य ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं। **रयणसार** में रत्नत्रय का विवेचन है। **बारसाणुवेक्खा** में बारह अनुप्रेक्षाओं का निरूपण किया है तथा **भत्तिसंगहो** में तीर्थंकरों एवं पंचपरमेष्ठी की स्तुति की गई है।

कुन्दकुन्द के षट्पाहुड में दंसणपाहुड, चरित्तपाहुड, सुत्तपाहुड, बोधपाहुड, भावपाहुड और मोक्खपाहुड नाम के छह प्राभृतों का अन्तर्भाव होता है। इनमें लिंग और सीलपाहुड मिला देने से आठ पाहुड हो जाते हैं। इन पर आचार्य श्रुतसागर ने टीका लिखी है। श्रुतसागर विद्यानन्दि भट्टारक के शिष्य थे और वे कलिकालसर्वज्ञ, उभय भाषाचक्रवर्ती आदि पदवियों से विभूषित थे। दंसणपाहुड की टीका में श्रुतसागर आचार्य ने गोपुच्छिक, श्वेतवास, द्राविड़, यापनीयक और निष्पिच्छ नामके पाँच जैनाभासों का उल्लेख किया है। सुत्तपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द ने *नग्नत्व को ही मोक्ष का मार्ग* बताया है। भावपाहुड में बाहुबली,

मधुपिंग, वशिष्ठ मुनि, द्वीपायन, शिवकुमार, भव्यसेन और शिवभूति के उदाहरण दिये हैं। आत्महित को यहाँ मुख्य बाताया है–

उत्थरइ जाण बरओ रोयग्गी जाण डहइ देहउडि।
इंदियबलं न वियलइ ताव तुमं कुणहि अप्पहियं॥

जब तक जराअवस्था आक्रान्त नहीं करती, रोग रूपी अग्नि देह रूप कुटिया को नहीं जला देती और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण नहीं हो जाती, तब तक आत्महित करते रहना चाहिए। योगी के सम्बन्ध में मोक्खपाहुड में कहा है–

जे सुत्तो ववहारे सो जोई जग्गए सक ज्जम्मि।
जे जग्गदि ववहारे सो सुत्तो अप्पणे कज्जे॥

जो योगी व्यवहार में सोता है वह स्वकार्य में जागृत रहता है, जो व्यवहार में जाग्रत रहता है वह स्वकार्य में सोता है। लिंगपाहुड में 22 और सीलपाहुड में 40 गाथायें हैं। सीलपाहुड में दशपूर्वी सात्यकिपुत्र का दृष्टान्त दिया गया है।

26. आख्यानमणिकोश (अक्खाणमणिकोसो)

उत्तराध्ययन की सुखबोधा टीका के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने धर्म के विभिन्न अंगों को उपदिष्ट करने हेतु आख्यानमणिकोश में अनेक लघु कथाओं का संकलन किया है। प्राकृत कथाओं का यह कोश ग्रन्थ है। मूल गाथाएँ 52 हैं, जो आर्याछंद में हैं। आम्रदेवसूरि ने इस पर ई. सन् 1134 में टीका लिखी है। मूल एवं टीका दोनों प्राकृत में हैं। कहीं–कहीं संस्कृत एवं अपभ्रंश का भी प्रयोग है। टीका ग्रन्थ में 41 अधिकार हैं, जो 146 आख्यानों में विभक्त हैं।

विषय विविधता की दृष्टि से इस कोश की कथाएँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इन आख्यानों में धर्मतत्त्वों के साथ–साथ लोकतत्त्व भी विद्यमान हैं। इन कथाओं के माध्यम से जीवन एवं जगत से सम्बन्धित सभी तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। धार्मिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक नियमों की अभिव्यंजना विभिन्न कथानकों के माध्यम से की गई है। यथा - शील की महत्ता के लिए सीता, रोहिणी, सुभद्रा, दमयंती के आख्यान वर्णित हैं। सुलसा आख्यान द्वारा श्रद्धा का महत्त्व प्रतिपादित किया है। इसी प्रकार तप, जिनपूजा, विशुद्ध भावना, कर्मसिद्धान्त आदि के माहात्म्य का विवेचन भी विभिन्न आख्यानों द्वारा किया गया है। कर्म सिद्धान्त की दार्शनिक

व्याख्या करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है -

जं जेण पावियव्वं सुहं व दुक्खं व कम्मनिम्मवियं।
तं सो तहेव पावइ कयस्स नासो जओ नत्थि॥ (29.151)

अर्थात् - जिस व्यक्ति के द्वारा जिस प्रकार के कर्म निर्मित किये गये हैं, वह उसी प्रकार से सुख और दुःख प्राप्त करता है, क्योंकि किये हुए कर्मों का नाश नहीं होता है।

27. आगम कथाओं की संस्कृति

प्राकृत आगम ग्रन्थों में प्राप्त कथाएँ केवल तत्व दर्शन को समझने के लिए ही नहीं, अपितु तत्कालीन समाज और सांस्कृति को जानने के लिए भी महत्वपूर्ण है। यद्यपि आगम ग्रन्थों का कोई एक रचनाकाल निश्चित नहीं है। महावीर के निर्वाण के बाद वलभी में सम्पन्न आगम-वाचना के समय तक इन आगमों का स्वरूप निश्चित हुआ है। अतः ईसा शताब्दी से ईसा की 5वीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्षों का जन-जीवन इन आगमों में अंकित हुआ है। आगमों के व्याख्या साहित्य, संस्कृति एवं राजनीति आदि की सामग्री का महत्व इसलिए और अधिक है कि इस युग के अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य कम उपलब्ध हैं। अतः इन्हीं साहित्यिक साक्ष्यों पर निर्भर होना पड़ता है। जैन मुनियों द्वारा लिखे गये अथवा संकलित किये गये इन आगम ग्रन्थों में अतिशयोक्तियां होते हुए भी यथार्थ-चित्रण अधिक है, जो सांस्कृतिक मूल्यांकन के लिए आवश्यक होता है। इन आगमिक कथाओं में प्राप्त सांस्कृतिक सामग्री के मूल्यांकन के लिए सूक्ष्म दृष्टि की आवश्यकता है तथा समकालीन अन्य परम्परा के साहित्य की जानकारी रखना भी जरूरी है।

28. आगम कथाओं की भाषात्मक दृष्टि

महावीर के उपदेशों की भाषा को अर्धमागधी कहा गया है अतः उनके उपदेश जिन आगमों में संकलित हुए हैं उनकी भाषा भी अर्धमागधी प्राकृत है। किन्तु इस भाषा में महावीर के समय की ही अर्धमागधी भाषा का स्वरूप सुरक्षित नहीं है, अपितु ईसा की 5 वीं शताब्दी तक प्रचलित रहने वाली सामान्य प्राकृत महाराष्ट्री के रूप भी इसमें मिल जाते हैं। कुछ आगम ग्रन्थों में अर्धमागधी में

वैदिक भाषा के तत्व भी सम्मिलित हैं। गच्छंसु आदि क्रियाओं में इंसु प्रत्यय एवं ग्रहण के अर्थ में घेप्पई क्रियाओं का प्रचलन आदि आगमों में वैदिक भाषा का प्रभाव है। मागधी एवं शौरसेनी प्राकृत के भी कुछ छुट-पुट प्रयोग इसमें प्राप्त हैं। सम्भवतः अर्धमागधी भाषा के गठन के प्रवृत्ति के कारण यह हुआ है। आगमों की भाषा को समझने के लिए कुछ भाषात्मक सूत्र आगमों में ही प्राप्त हैं। उन्हें समझने की आवश्यकता है।

आगमिक कथाओं की भाषा के स्वरूप एवं उसके स्तर को तय करने के लिए व्याख्या साहित्य में की गई व्युत्पतियों को भी देखना आवश्यक है। प्रकाशित संस्करणों के साथ ही ग्रन्थों की प्राचीन प्रतियों पर अंकित टिप्पण आगमों की भाषा को स्पष्ट करते हैं। पाठ-भेदों का तुलनात्मक अध्ययन भी इसमें मदद करेगा। इन कथाओं में कई नायकों को बहुभाषाविद् कहा गया है। ज्ञाताधर्मकथा में मेघकुमार की कथा में अठारह विविध प्रकार की देशी भाषाओं का विशारद उसे कहा गया है। किन्तु इन भाषाओं के नाम आगम ग्रन्थों में नहीं मिलते। कुवलयमाला में इन भाषाओं के नामों के साथ-साथ उनके उदाहरण भी दिये गये हैं। इन कथाओं में विभिन्न प्रसंगों में कई देशी शब्दों को प्रयोग हुआ है। आगम शब्द कोश में ऐसे शब्दों का संकलन कर स्वतन्त्र रूप से विचार किया जाना चाहिए। णिंदू, उल्लपडसाडया, वरइ, जासुमणा, रत्तबंधुजीवग, सरस, महेलियावज्जं, थंडिल्ल्लं, अवओडय-बंधगयं, डिंभय, इंदट्ठाण, आदि शब्द अन्तकृद्दशा की कथाओं में आये हैं। इसी तरह अन्य कथाओं में भी खोजे जा सकते हैं। कुछ शब्द व्याकरण की दृष्टि से नियमित नहीं हैं तथा उनमें कारकों की व्याख्या नहीं है। इन सब दृष्टियों इन कथाओं के भाषात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होने की जरूरत है। पालि, संस्कृत के शब्दों का इन कथाओं में प्रयोग भी उपयोगी सामग्री प्रस्तुत करेगा।

29. आगम कथाओं में काव्यतत्व

आगम ग्रन्थों की कथाओं में गद्य एवं पद्य दोनों का प्रयोग हुआ है। कथाकारों के अधिकांश वर्णन यद्यपि वर्णक के रूप में स्थिर हो गये थे। नगर-वर्णन, सौंदर्य-वर्णन आदि विभिन्न कथाओं में एक से प्राप्त होते हैं। स्मरण की सुविधा के कारण

की पुनरावृत्ति न करके जाव पद्धति द्वारा उनका उपयोग किया जाता रहा है। किन्तु कुछ वर्णन विशुद्ध रूप से साहित्यिक हैं। संस्कृत के गद्य साहित्य की सौंदर्य सुषमा उनमें देखी जा सकती है। प्राचीन भारतीय गद्य साहित्य के उद्भव एवं विकास के अध्ययन के लिए इन कथाओं के गद्यांश मौलिक आधार माने जा सकते हैं। इन कथाओं में उपमाओं का बहुत प्रयोग हुआ है। ऋषभदेव के मुनिरूप का वर्णन बहुत ही काव्यात्मक है। उसमें 39 उपमाएँ दी गयी हैं। यथा–शुद्ध सोने की तरह रूप वाले, पृथ्वी की तरह सब स्पर्शों का सहने वाले, हाथी की तरह वीर, आकाश की तरह निरालम्ब, हवा की तरह निर्द्वन्द आदि। इन कथाओं के गद्य में जितना काव्य तत्व है, उतना ही पद्य-भाग भी काव्यात्मक है। इसी तरह की उपमाएँ आदि यदि सभी कथाओं से एकत्र कर उनका तुलनात्मक अध्ययन किया जाये तो भारतीय काव्य-शास्त्र के इतिहास के लिए कई नये उपमान एवं बिम्ब प्राप्त हो सकते हैं।

30. आगम कथाओं में कथानक-रूढ़ियाँ एवं मोटिफ्स

कथाओं के तुलनात्मक अध्ययन के लिए उनके मोटिफ्स एवं कथानक रूढ़ियों का अध्ययन करना बहुत आवश्यक है। इससे कथा के उत्स एवं विकास को खोजा जा सकता है। पालि–प्राकृत कथाओं में कई समान कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। यह एक स्वतन्त्र अध्ययन का विषय है। यद्यपि विदेशी विद्वानों ने इस क्षेत्र में पर्याप्त कार्य किया है। किन्तु भारतीय कथाओं की पृष्ठभूमि में अभी भी काम किया जाना शेष है। आगम ग्रन्थों में यद्यपि कई कथाएँ प्रयुक्त हुई हैं। उनके व्यक्तिवाचक नामों की संख्या हजार भी हो सकती है। किन्तु उनमें जो मोटिफ्स प्रयुक्त हुए हैं वे एक सौ के लगभग होंगें। उन्हीं की पुनरावृत्ति कई कथाओं में होती रहती है। यदि आगमिक कथाओं का एक प्रामाणिक मोटिफ्स-इडेक्स तैयार किया जाये तो इन कथाओं की मूल भावना का समझने में तो सहयोग मिलेगा ही, उनके विकास क्रम को भी समझा जा सकेगा।

31. आगम वाचनाएँ

आगमों को सुरक्षित रखने के लिए समय पर श्रमणों द्वारा विभिन्न सम्मेलन बुलाये गये तथा उन्हें लिखित रूप प्रदान किया गया। आज जो आगम ग्रंथ हमें उपलब्ध हैं, वे इन्हीं वाचनाओं का परिणाम हैं।

प्रथम वाचना – वीर निर्वाण के 160 वर्षों बाद पाटलिपुत्र में द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। अकाल की समाप्ति के पश्चात् श्रमणसंघ आचार्य स्थूलिभद्र के नेतृत्व में पाटलिपुत्र में इकट्ठा हुआ। वहाँ पर स्मृति के आधार पर एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। बारहवां अंग दृष्टिवाद किसी को भी स्मरण नहीं था, अतः उसका संग्रह नहीं किया जा सका। बाद में भद्रबाहु द्वारा स्थूलिभद्र को दस पूर्वो की अर्थ सहित तथा शेष चार पूर्वो की शब्दरुप वाचना दी गई।

द्वितीय वाचना – आगम संकलन का दूसरा प्रयास ईसा पूर्व प्रथम-द्वितीय शताब्दी अर्थात् वीर निर्वाण के 300–330 वर्ष के मध्य सम्राट खारवेल के समय में हुआ। सम्राट खारवेल जैन धर्म के परम उपासक थे। उनके हाथीगुम्फा अभिलेख से स्पष्ट है कि उन्होंने उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर जैन मुनियों का एक संघ बुलाया और मौर्यकाल में जो अंग विस्मृत हो गये थे, उनका पुनः उद्धार करवाया।

तृतीय वाचना – आगमों को संकलित करने हेतु तीसरी वाचना वीर-निर्वाण के 827–840 वर्षोपरान्त अर्थात् ईसा की तीसरी शताब्दी में आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुई। यह सम्मेलन मथुरा में होने के कारण माथुरीवाचना के नाम से प्रसिद्ध है। प्रधान आचार्य स्कन्दिल के नेतृत्व में आगम-वेत्ता मुनि इकट्ठे हुए, जिन्हें जैसा स्मरण था, उस आधार पर श्रुत का संकलन किया गया था, उस समय आचार्य स्कन्दिल ही एकमात्र अनुयोगधर थे। उन्होंने उपस्थित श्रमणों को अनुयोग की वाचना दी। इस दृष्टि से सम्पूर्ण अनुयोग स्कन्दिल सम्बन्धी माना गया, और यह वाचना स्कन्दिल वाचना के नाम से जानी गई।

चतुर्थ वाचना– माथुरीवाचना के समय के आस-पास ईसा की तीसरी शताब्दी में वल्लभी में नागार्जुन की अध्यक्षता में दक्षिण-पश्चिम में विचरण करनेवाले श्रमणों की एक वाचना हुई, जिसका उद्देश्य विस्मृत श्रुत को व्यवस्थित करना था। उपस्थित मुनियों की स्मृति के आधार पर जितना उपलब्ध हो सका,

वह सारा वाङ्मय सुव्यवस्थित किया गया। नागार्जुनसूरि ने समागत साधुओं को वाचना दी, अतः यह नागार्जुनीय वाचना के नाम से प्रसिद्ध हुई।

पंचम वाचना – वीर निर्वाण के 980 से 993 के बीच देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमणसंघ पुनः वल्लभी में एकत्रित हुआ। स्मृति में शेष सभी आगमों को संकलित कर पुस्तकारुढ़ करने का प्रयत्न किया गया। पुस्कारूढ़ करने का यह प्रथम प्रयास था। इसमें मथुरा व वल्लभी वाचना का समन्वय कर उसमें एकरूपता लाने का प्रयास किया गया। यह आगमों की अन्तिम वाचना थी। इसके बाद आगमों की सर्वमान्य कोई वाचना नहीं हुई।

आगम लेखन– वीर निर्वाण संवत् 827-840 में मथुरा तथा वल्लभी में जो सम्मेलन हुए उनमें एकादश अंगों को व्यवस्थित किया गया। उस समय आर्यरक्षित ने अनुयोगद्वारसूत्र की रचना की। उसमें द्रव्यश्रुत के लिए **पत्तय पोत्थयलिहिय** शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे पूर्व आगम लिखने का प्रमाण नहीं मिलता है। इससे यह पता चलता है कि श्रमण भगवान् महावीर के निर्वाण की 9 वीं शताब्दी के अन्त में आगमों के लेखन की परम्परा चली, परन्तु आगमों को लिपिबद्ध करने का स्पष्ट संकेत देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय से मिलता है। इस प्रकार आगम लेखन युग का प्रारम्भ हम ईसा की 5वीं शताब्दी मान सकते हैं। किन्तु जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र प्राकृत ग्रन्थ प्रथम शताब्दी में लिखना प्रारम्भ हो गया था।

32. आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान

समता विभूति आचार्य श्री नानालाल जी महाराज के अपने 1981 के उदयपुर वर्षावास में सम्यक्ज्ञान की अभिवृद्धि हेतु प्रभावशाली उद्बोधन से आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान की उदयपुर में स्थापना हुई। यह संस्थान श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की प्रमुख प्रवृत्तियों में से एक है। इसका प्रमुख उद्देश्य है– अहिंसा एवं समता-दर्शन की पृष्ठभूमि में जैनागमों तथा प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, तमिल, कन्नड़, राजस्थानी, हिन्दी आदि भाषाओं में रचित जैन साहित्य के अध्ययन, शिक्षण एवं अनुसन्धान की प्रवृत्ति को विकसित करना तथा इन विषयों के विद्वान् तैयार करना। साथ ही इन भाषाओं के अप्रकाशित साहित्य को आधुनिक शैली में सम्पादित एवं अनुवादित कर प्रकाशित करना। संस्थान में एक समृद्ध पुस्तकालय विकसित किया जा रहा है। वर्तमान में

इस पुस्तकालय में लगभग 8000 प्रकाशित पुस्तकें एवं 1500 हस्तिलिखित पाण्डुलिपियाँ हैं।

33. आगमों की भाषा

जैनागमों की मूल भाषा अर्धमागधी है। यह देववाणी मानी गई है। भगवतीसूत्र में गौतम द्वारा यह प्रश्न करने पर कि देव किस भाषा में बोलते हैं? भगवान् महावीर द्वारा उत्तर दिया गया कि देव अर्धमागधी भाषा में बोलते हैं तथा सभी भाषाओं में अर्धमागधी भाषा श्रेष्ठ व विशिष्ट है- **गोयम! देवाणं अद्धमागहीए भासाए भासंति..........** **(5, 4, 24)** समवायांग व औपपातिकसूत्र के अनुसार भी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश देते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं कि चरित्र साधना-आराधना करने के इच्छुक मंद बुद्धि स्त्री पुरुषों पर अनुग्रह करने के लिए सर्वज्ञ भगवान् आगमों का उपदेश प्राकृत में देते हैं। प्रज्ञापनासूत्र में इस भाषा को बोलने वाले को भाषार्य कहा है। मगध के अर्धभाग में बोली जाने के कारण तथा मागधी व देशज शब्दों के सम्मिश्रण के कारण यह अर्धमागधी कहलाती है।

34. आगमिक-व्याख्या साहित्य

जैन आगम साहित्य में अत्यंत सूक्ष्म व गंभीर विषयों का सूत्र रूप में निरूपण हुआ है। सामान्यतः आगमों के समस्त गूढ़ रहस्यों और उनके विषयों को सीधे सम्यक् प्रकार से समझना संभव नहीं है, अतः इन आगमिक रहस्यों व सम्यक् विषयों को समझने के लिए जैनाचार्यों द्वारा इनकी विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत कीगई। इसी परम्परा मेंविविध आगमिक-व्याख्या-साहित्य का निर्माण हुआ। जैनागमों पर पाँच प्रकार का व्याख्या साहित्य उपलब्ध है। 1. निर्युक्ति 2. भाष्य 3.चूणि 4. टीका 5. टब्बा एवं लोक भाषा में लिखित साहित्य।

35. आदिम प्राकृत

प्राकृत भाषा के उद्‌गम एवं ऋग्वेद की छान्दस् का तुलनात्मक अध्ययन कर प्राच्य भाषाविद् पं. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने **प्रकृतिजनानामिदं प्राकृतम्** की पूर्वागत परिभाषा के अनुसार अपना शोध-निष्कर्ष यह निकाला कि ऋग्वेदपूर्वकालीन जनसामान्य की आदिम प्राकृत से विकसित-भाषा ही वह छान्दस् है, जिसमें कि

ऋग्वेद की रचना की गई। यही नहीं, बल्कि उनके अनुसार "आदि प्राकृत से विकसित उक्त छान्दस् से भी परवर्ती युगों में दो साहित्यिक भाषाओं का विकास हुआ- लौकिक-संस्कृत एवं साहित्यिक प्राकृत। आगे चलकर नियमबद्ध हो जाने के कारण लौकिक संस्कृत का प्रवाह तो अवरुद्ध हो गया, जबकि प्राकृत का प्रवाह बिना किसी अवरोध के आगे चलता रहा, जिससे क्रमशः अपभ्रंश-भाषा तथा उस अपभ्रंश से ब्रज, हिन्दी, मैथिली, भोजपुरी, बंगला, उड़िया, बुन्देली आदि आधुनिक भारतीय भाषाओं का विकास हुआ।"

36. आचारदशा (आयारदसाओ)

दशश्रुतस्कन्ध का ठाणांग में दूसरा नाम **आचारदशा** भी प्राप्त होता है। इसके दस अध्ययन हैं, जिनमें दोषों से बचने का विधान है। पहले उद्देशक में 20 असमाधि दोष, दूसरे उद्देशक में 21 शबल दोष, तीसरे उद्देशक में 33 प्रकार की आजोतनाओं, चौथे उद्देशक में 8 प्रकार की गणिसंपदाओं, पाँचवें उद्देशक में 10 प्रकार की चित्तसमाधि, छठें उद्देशक में 11 प्रकार की उपासक प्रतिमाओं, सातवें उद्देशक में 12 प्रकार की भिक्षु प्रतिमाओं, आठवें उद्देशक में पर्युषणा, नवें में 30 महा-मोहनीय स्थानों एवं दसवें उद्देशक में नव-निदानों का वर्णन है। इस आगम के आठवें उद्देशक पर्युषणा में महावीर का जीवन चरित विस्तार से वर्णित हुआ है। यह अध्ययन विकसित होकर वर्तमान में कल्पसूत्र के नाम से जाना जाता है।

37. आदिनाहचरियं

ऋषभदेव के चरित का विस्तार से वर्णन करने वाला प्राकृत का यह प्रथम ग्रन्थ है। इसमें पाँच परिच्छेद हैं। ग्रन्थ 11000 श्लोकप्रमाण है। इस ग्रन्थ का दूसरा नाम ऋषभदेवचरित भी है। इसकी रचना पर चउप्पन्नमहापुरिसचरियं का प्रभाव है। इसके रचयिता नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य वर्धमानाचार्य हैं। इनकी दूसरी रचनाएँ 15000 गाथा-प्रमाण मनोरमाचरियं (सं.1140) तथा धर्मरत्नकरंडवृत्ति (सं.1172) भी हैं। आदिनाहचरियं का रचनाकाल सं. 1160 दिया गया है।

38. आनन्दसुन्दरी

आनन्दसुन्दरी सट्टक के रचयिता सरस्वती के अवतार महाराष्ट्रचूड़ामणि कवि घनश्याम हैं। कवि घनश्याम सर्वभाषा कवि माने जाते हैं। संस्कृत, प्राकृत एवं देशी सभी भाषाओं में इनकी रचनाएँ प्राप्य हैं। इनका समय लगभग 1700-1750 ई. है। आनंदसुंदरी प्राकृत का एक मौलिक सट्टक है, जिसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमंजरी के आधार पर नहीं हुआ है, इस सट्टक की कथावस्तु में राजा शिखण्डचन्द्र और अंगराज की कन्या आनंदसुंदरी के प्रेम, विवाह एवं पुत्र-प्राप्ति की घटना का वर्णन है। इस सट्टक की कथावस्तु में मौलिकता का पुट है। दो गर्भ नाटकों का विनियोजन कर कवि ने कथावस्तु की गतिशीलता को बनाये रखा है। गर्भांक की कल्पना इस सट्टक की अपनी मौलिक विशेषता है। पाठकों की रोचकता को बनाये रखने के लिए कई दृश्यों में कवि ने हास्य एवं व्यंग का समावेश भी किया है। भाषा व रुचि सम्मत प्राकृत है, कहीं कहीं संस्कृत का भी प्रयोग है। मराठी भाषा के बहुत से शब्द इसमें प्रयुक्त हुए हैं। इसके संवाद सारगर्भित हैं। रस, भाव, छंद, अलंकार आदि की विनियोजना की दृष्टि से यह उत्तम सट्टक है।

39. आम्र कवि

आख्यानमणिकोश के रचयिता आम्र कवि हैं। ग्रंथ के प्रारम्भ और अन्त में ग्रंथकार ने अपने लिए अम्म शब्द के अतिरिक्त कोई विशेष परिचायक सामग्री नहीं दी है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वि. सं. 1190 में रचित 'आख्यानकमणिकोश' वृत्तिकार आम्रदेव और इस चरित के रचयिता एक ही हैं पर उक्त वृत्ति में अम्म और आम्रदेव के अभिन्न होने का कोई आधार नहीं मिलता है। इस ग्रंथ की अनुमानतः 16वीं शताब्दी की हस्तलिखित प्रति खम्भात के विजयनेमिसूरीश्वर-शास्त्रसंग्रह में उपलब्ध है।

40. आराधना प्रकरण (पज्जंताराहणा)

इसे आराधनाप्रकरण या आराधनासूत्र भी कहते हैं। इसमें 69 गाथायें हैं। इसके कर्ता सोमसूरि हैं। इसमें अन्तिम आराधना का स्वरूप समझाया गया है।

इस पर गुजराती में टब्बा है। यह अवचूरि और गुजराती अनुवाद सहित श्रीबुद्धि-वृद्धि कर्पूर-ग्रन्थमाला से वि.सं. 1994 में पयन्नासंग्रह भाग 1 में प्रकाशित है।

41 आचारांगसूत्र (आयारो)

अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में आचारांग का प्रथम स्थान है। आचारांग निर्युक्ति में आचारांग को अंगों का सार कहा गया है - **अंगाणं किं सारो! आयारो।** (गा. 16) निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने लिखा है कितीर्थंकर भगवान् सर्वप्रथम आचारांग का और उसके पश्चात् शेष अंगों का प्रवर्तन करते हैं। प्रस्तुत आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में 9 अध्ययन हैं, लेकिन महापरिज्ञा नामक सातवें अध्ययन के लुप्त हो जाने के कारण वर्तमान में इसमें 8 अध्ययन तथा 44 उद्देशक हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध चूलिका के नाम से प्रसिद्ध है, जो चार चूलिका व 16 अध्ययनों में विभक्त है। प्रथम श्रुतस्कन्ध के अध्ययनों में जीव-हिंसा का निषेध, कर्मबंधन से मुक्ति, परीषहों पर विजय, रत्नत्रय की महत्ता तथा तप व संयम द्वारा शुद्धात्मरूप की प्राप्ति का विवेचन किया गया है। आचारांग के नवें अध्ययन 'उपधान' में भगवान् महावीर की तपस्या एवं साधना का विस्तृत वर्णन हुआ है। आचारांग का महत्त्वपूर्ण उद्बोधन अहिंसा एवं असंगता है अर्थात् समस्त प्राणी जगत के प्रति समत्वभाव की अनुभूति एवं राग-द्वेष आदि आंतरिक कषायों पर विजय प्राप्ति ही विशुद्ध आचार है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में समणों के आचार का विवेचन है। चार चूलिकाओं में विभक्त इस श्रुतस्कन्ध में श्रमणों की आहार-चर्या, शय्या, चलने की प्रक्रिया, वस्त्र व पात्रग्रहण, ठहरने के स्थान आदि पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवीं चूलिका विस्तृत होने के कारण निशीथसूत्र के नाम से अलग कर दी गई है। आचारांग पर भद्रबाहु की निर्युक्ति जिनदासगणि की चूर्णि एवं शीलांकाचार्य की (876 ई.) की वृत्ति भी है। आचारांग के अध्ययन से ही

श्रमणधर्म का परिज्ञान होता है, अतः आचार-धर को प्रथम गणिस्थान कहा गया है।

42. आरामशोभाकथा

आरामशोभाकथा लौकिक कथा साहित्य की रोचक कथा है पर यह सम्यक्त्व

की महिमा प्रकट करने के लिए एक धर्मकथा के रूप में इसको प्रस्तुत किया गया है। जैन कथाओं में यह हरिभद्रसूरिकृत सम्यक्त्वसप्ततिका पर संघतिलकसूरिविरचित तत्त्वकौमुदी नामक विवरण (वि.सं.1422) में उपलब्ध है।

प्राकत आरामसोहाकहा प्राकत भारती अकादमी जयपुर से 2007 में प्रकाशित हुँ। डॉ कल्पना जैन ने इसका सम्पादन-अनुवाद किया है।

43. आवश्यकचूर्णि

यह चूर्णि मुख्यतया निर्युक्त्यनुसारी है। यत्र-तत्र विशेषावश्यकभाष्य की गाथाओं का भी व्याख्यान किया गया है। भाषा में प्रवाह एवं शैली में ओज है। विषय-विस्तार भी अन्य चूर्णियों की अपेक्षा अधिक है। कथानकों की प्रचुरता भी इसकी एक विशेषता है। इसमें ऐतिहासिक आख्यानों के विशेष दर्शन होते हैं। ओघनिर्यक्तिचूर्णि, गोविंदनिर्युक्ति, वसुदेवहिण्डि आदि अनेक ग्रन्थों का इसमें उल्लेख है। संस्कृत के अनेक श्लोक इसमें उद्धृत हैं। आवश्यक के सामायिक नामक प्रथम अध्ययन की व्याख्या करते हुए चूर्णिकार ने अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के भवों की चर्चा की है तथा आदि तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के धनसार्थवाह आदि भवों का वर्णन किया है। ऋषभदेव के जन्म, विवाह, सन्तान आदि का वर्णन करते हुए तत्कालीन शिल्प, कर्म, लेख आदि पर भी प्रकाश डाला है। इसी प्रसंग पर आचार्य ने ऋषभदेव के पुत्र भरत की दिग्विजय-यात्रा का अति रोचक एवं विद्वत्तापूर्ण वर्णन किया है। भरत का राज्याभिषेक, भरत और बाहुबलि का युद्ध, बाहुबली को केवलज्ञान की प्राप्ति आदि घटनाओं के वर्णन में भी चूर्णिकार ने अपना कौशल दिखाया है। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन की चूर्णि में अभयकुमार, श्रेणिक, चेल्लणा, सुलसा, कोणिक, चेटक, उदायी, महा पद्मनंद, शकटाल, वररुचि, स्थूलभद्र आदि ऐतिहासिक व्यक्तियों से सम्बन्धित अनेक कथानकों का इसमें संग्रह है। आगे के अध्ययनों में भी इसी प्रकार विविध विषयों का सदृष्टान्त व्याख्यान किया गया है।

44. आवश्यकनिर्युक्ति

आवश्यकनिर्युक्ति आचार्य भद्रवाहु की सर्वप्रथम कृत्ति है। यह विषय-वैविध्य की दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस पर जिनभद्र, जिनदासगणि, हरिभद्र, कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र, माणिक्यशेखर प्रभृति आचार्यों ने विविध व्याख्याएँ लिखी हैं। आवश्यकनिर्युक्ति की गाथा-संख्या भिन्न-भिन्न व्याख्याओं में भिन्न-भिन्न रूपों में मिलत्ती है। आवश्यकनिर्युक्ति आवश्यकसूत्र के सामायिकादि छः अध्ययनों की सर्वप्रथम पद्यबद्ध प्राकृत व्याख्या है। इसके प्रारम्भ में उपोदघात है जो प्रस्तुत निर्युक्ति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें ज्ञानपंचक, सामायिक, ऋषभदेव-चारित्र, गणधरवाद, आर्यरक्षित-चरित्र निन्हव मत (सप्त निन्हव) आदि का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। ऋषभदेव के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटनाओं के वर्णन के साथ ही उस युग से सम्बन्धित आहार, शिल्प, कर्म, ममता, विभूषणा, लेखन, गर्णित रूप, लक्षण, मानदण्ड, पोत, व्यवहार, नीति, युद्ध, इषुशास्त्र, उपासना, चिकित्सा, अर्थशास्त्र, बन्ध, घात, ताडना, यज्ञ, उत्सव, समवाय, मंगल, कौतुमक, वस्त्र, गंध, माल्य, अलंकार, चूला, उपनयन, विवाह दत्ति, मृतक-पूजन, ध्यापन, स्तूप, शब्द, खेलापन और पृच्छन-इन चालीस विषयों का भी निर्देश किया गया है। धर्मचक्र का वर्णन करते हुए नियुक्तिकार ने बताया है कि बाहुबली ने अपने पिता ऋषभदेव की स्मृति में धर्मचक्र की स्थापना की थी। उपोद्घात के बाद नमस्कार, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित्त, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। नमस्कार-प्रकरण में अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु के स्वरूप का भी विचार किया गया है।

भद्रबाहु की दस निर्युक्तियों में आवश्यकनिर्युक्ति का स्थान प्रथम है। इसमें अनेक महत्वपूर्ण विषयों पर विस्तार से चर्चा की गई है। इसके बाद की निर्युक्तियों में उन विषयों की चर्चा न कर आवश्यक निर्युक्ति को देखने का संकेत किया गया है। इसमें सर्वप्रथम उपाद्घात है जो भूमिका के रूप में है। उसमें 880 गाथाएँ हैं। प्रथम पाँच ज्ञानों का निरूपण है। अभिनिबोधिक ज्ञान के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार भेद हैं।

ज्ञान के वर्णन के पश्चात् षडावश्यक का निरूपण है। उसमें सर्वप्रथम सामायिक है। सामायिक के अध्ययन का पश्चात् ही अन्य आगम साहित्य के पढ़ने का विधान है। सामायिकसूत्र के प्रारम्भ में नमस्कार मन्त्र आता है। इसलिए नमस्कार मन्त्र की उत्पत्ति, निक्षेप, पद, निक्षेप, पदार्थ, प्ररूपणा, वस्तु, आक्षेप, प्रसिद्धि, क्रम और प्रयोजन इन ग्यारह दृष्टियों से नमस्कार महामन्त्र पर चिन्तन किया गया है, जो साधक के लिए बहुत ही उपयोगी है। सामायिक में तीन करण और तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का परित्याग होता है। दूसरा अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव का है। इसमें नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह निक्षेपों की दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। तृतीय अध्ययन वन्दना का है। चितिकर्म, कृतिकर्म, पूजाकर्म और विनयकर्म ये वन्दना के पर्यायवाची है। चतुर्थ अध्ययन का नाम प्रतिक्रमण है। प्रमाद के कारण आत्मप्रभाव से आत्मा मिथ्यात्व आदि स्थान में जाता है, उसका पुनः अपने स्थान में आना प्रतिक्रमण है। पाँचवें अध्ययन में कायोत्सर्ग का निरूपण है। कायोत्सर्ग और व्युत्सर्ग ये एकार्थवाची है। यहाँ पर कायोत्सर्ग का अर्थ वर्ण चिकित्सा है। आवश्यक का छठा अध्ययन प्रत्याख्यान है। प्रत्याख्यान, प्रत्याख्याता, प्रत्याख्येय, शब्द, कथनविधि और फल इन छह दृष्टियों से प्रत्याख्यान का विवेचन किया गया है।

श्रमण जीवन को महान एवं तेजस्वी बनाने के लिए श्रमण जीवन से संबंधित सभी विषयों की चर्चाएँ प्रस्तुत निर्युक्ति में की गई हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी इस निर्युक्ति का अत्यधिक महत्वपूर्ण है। ऐसे अनेक महत्वपूर्ण तथ्य इसमें उजागर हुए हैं जो इससे पूर्व की रचनाओं में कहीं पर भी दृष्टिगोचर नहीं होते ।

45. आवश्यकसूत्र (आवस्सयं)

आवश्यकसूत्र जीवन-शुद्धि और दोष-परिमार्जन का महासूत्र है। आवश्यक साधक की आत्मा को परखने एवं निखारने का महान उपाय है। 'अवश्य' से आवश्यक बना है, अर्थात् जो चतुर्विध संघ के लिए प्रतिदिन अवश्य करने योग्य है, वह आवश्यक है। आवश्यक के छः प्रकार बताये गये हैं – 1. सामायिक 2. चतुर्विंशतिस्तव 3. वन्दना 4. प्रतिक्रमण 5. कायोत्सर्ग 6. प्रत्याख्यान।

छः अध्ययनों में इनका विवेचन किया गया है। आवश्यक का आध्यात्मिक दृष्टि से तो महत्त्व है ही, दैनिक जीवन में भी इसके पालन से क्षमा, आर्जव आदि गुणों का विकास होता है। यह सूत्र श्रमण-श्रमणियों के साथ-साथ श्रावक-श्राविकाओं के लिए भी पाप-क्रियाओं से बचकर धर्म मार्ग में अग्रसर होने की प्रायोगिक विधि प्रस्तुत करता है।

46. इसिभासियं

प्रत्येक बुद्धों द्वारा भाषित होने से इस प्राकृत ग्रन्थ को ऋषिभाषित कहा है। इसमें नारद, अंगरिसि (अंगिरस) वल्कचीरि, कुम्मापुत्त, महाकासव, मंखलिपुत्त, जण्णवक्क, यावलक्य, बाहुक, रामपुत्त, अम्मड, मायंग, वारत्तय, इसिगिरि, अदालय, दीवायण, सौम, यम, वरुण, वेसमण आदि 45 अध्ययनों में प्रत्येकबुद्धों के चरित्र दिये हुए हैं। इसमें अनेक अध्ययन पद्य में हैं। इस सूत्र पर भद्रबाहु द्वारा निर्युक्ति लिखे जाने का उल्लेख है जो आजकल अनुपलब्ध है। यह ग्रन्थ प्राकत भारती अकादमी, जयपुर एवं जैन विश्व भारती लाडनूं से प्रकाशित है।

47. उत्तराध्ययनसूत्र (उत्तरज्झयणाइं)

उत्तराध्ययन जैन अर्धमागधी आगम साहित्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण आगम ग्रन्थ माना जाता है। इसे महावीर की अन्तिम देशना के रूप में स्वीकार किया गया है। उत्तराध्ययन की विषयवस्तु प्राचीन है। समवायांग एवं उत्तराध्ययननिर्युक्ति में उत्तराध्ययन की जो विषयवस्तु दी गई है, वह उत्तराध्ययन में ज्यों की त्यों प्राप्त होती है। उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययन हैं, इनमें संक्षेप में प्रायः सभी विषयों से सम्बन्धित विवेचन उपलब्ध है। धर्म, दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि की निर्मल धाराएँ इसमें प्रवाहित हैं। जीव, अजीव, कर्मवाद, षड्द्रव्य, नवतत्त्व, पार्श्वनाथ एवं महावीर की परम्परा प्रभृति सभी विषयों का इसमें समावेश हुआ है। दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ-साथ इसमें बहुत सारे कथानकों एवं आख्यानों का भी संकलन हुआ है। इसमें वर्णित नमिप्रव्रज्या, हरिकेशी, चित्त-संभूति, मृगापुत्र, इषुकारीय,

रथनेमि आदि आख्यान सरस एवं रोचक हैं। ये आख्यान जहाँ एक ओर धर्मतत्त्व का प्रतिपादन करते हैं, वहीं दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं को भी प्रकाशित करते हैं। उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन 'विनयसूत्र' में गुरु शिष्य के सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है। विनीत शिष्य का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि –

आणानिद्देसकरे गुरुणमुववायकारए।
इंगियाकारसंपन्ने से विणीए त्ति वुच्चई॥ (गा.1.2)

अर्थात् – गुरु की आज्ञा व निर्देश के अनुसार प्रवृत्ति करने वाला, उसकी सेवा-शुश्रूषा करने वाला तथा उसकी चेष्ठा एवं आकृति से ही उसके आन्तरिक मनोभावों को समझने वाला शिष्य विनीत कहलाता है।

बाइसवें अध्ययन 'रथनेमि' में अपने बोध वचनों के द्वारा संयम से भटके रथनेमि को उद्बोधन देकर सन्मार्ग पर लाती हुई राजीमती नारी के उदात्त रूप को चित्रित करती है। पच्चीसवें अध्ययन में जन्मना जातिवाद का खंडन कर कर्मणा जातिवाद की स्थापना करते हुए सच्चे श्रमण व ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए कहा गया है कि समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, ज्ञान से मुनि एवं तप से तपस्वी होता है। यथा –

समयाए समणो होई, बंभचेरेण बंभणो।
णाणेण य मुणी होइ, तवेण होइ तावसो॥ (गा. 25.32)

पैंतीसवें 'अनगार' नामक अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि केवल घर छोड़ने से कोई अनगार नहीं बन जाता है बल्कि आध्यात्मिक मार्ग में गति-प्रगति उसके लिए आवश्यक है। इसके विभिन्न अध्ययनों में तत्त्व-चर्चा, श्रमण जीवन के आचार, संसार की असारता, कर्म प्रकृति आदि विषयों का निरूपण हुआ है।

48. उत्तराध्ययननिर्युक्ति

इस निर्युक्ति में 600 गाथाएँ हैं। इसमें अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप-पद्धति से व्याख्यान किया गया है। अनेक शब्दों के विविध पर्याय भी दिये गये हैं।

उत्तराध्ययनसूत्र में भगवान् जिनेन्द्र ने छत्तीस अध्ययनों का उपदेश दिया है। अध्ययन पद का निक्षेपपूर्वक व्याख्यान करते हुए निर्युक्तिकार कहते हैं कि नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव इन चार द्वारों से अध्ययन का विचार हो सकता है। भावाध्ययन की व्याख्या करते हुए कहा है कि प्रारब्ध तथा बध्यमान कर्मो के अभाव से आत्मा का जो अपने स्वभाव में आनयन अर्थात् ले जाना है वही अध्ययन है। जिससे जीवादि का पदार्थों का अधिगम अर्थात् परिच्छेद होता है अथवा जिससे अधिक नयन अर्थात् विशेष प्राप्ति होती है अथवा जिससे शीघ्र ही अभीष्ट अर्थ की सिद्धि होती है वही अध्ययन है। चूंकि अध्ययन से अनेक भवों से आते हुए अष्ट प्रकार के कर्मरज का क्षय होता है इसीलिए उसे भावाध्ययन कहते हैं। इसके बाद आचार्य श्रुतस्कन्ध का निक्षेप करते हैं क्योंकि उत्तराध्ययनसूत्र श्रुतस्कन्ध है। तदनन्तर आचार्य छत्तीस अध्ययनों के नाम गिनाते हैं तथा उनके विविध अधिकारों का निर्देश करते हैं। आगे प्रत्येक अध्ययन का विशेष व्याख्यान किया गया है।

क्षुत्पिपासा आदि परीषहों की विशेष व्याख्या करते हुए निर्युक्तिकार ने विविध उदाहरणों द्वारा यह समझाया है कि श्रमण को किस प्रकार परीषहों को सहन करना चाहिए। इस प्रसंग में आचार्य ने जैन परम्परा में आने वाली अनेक महत्त्वपूर्ण एवं शिक्षाप्रद कथाओं का संकलन किया है। आगे नियुक्तिकार ने उदाहरणों की सहायता से यह बताया है कि मनुष्यभव की प्राप्ति कितनी दुर्लभ है, मनुष्य भव प्राप्त हो जाने पर भी धर्मश्रुति कितनी कठिन है, धर्मश्रुति का लाभ होने पर भी उस पर श्रद्धा करना कितना कठिन है, श्रद्धा हो जाने पर भी तप और संयम में वीर्य अर्थात् पराक्रम करना तो और भी कठिन है।

49. उत्तराध्ययनवृत्ति नेमिचन्द्रसूरिकृत

नेमिचन्द्रसूरि का दूसरा नाम देवेन्द्रगणि है। इन्होंने वि.सं. 1129 में उत्तराध्ययनसूत्र पर एक टीका लिखी। इस टीका का नाम उत्तराध्ययन-सुखबोधवृत्ति है। यह वृत्ति वादिवेताल शान्तिसूरिविहित उत्तराध्ययन-शिष्यहितावृत्ति के आधार पर लिखी हुई है। वृत्ति की सरलता एवं सुबोधता को दृष्टि में रखते हुए इसका

नाम सुखबोधा रखा गया है। इसमें उदाहरणरूप अनेक प्राकृत कथानक हैं। वृत्ति के अन्त की प्रशस्ति में उल्लेख है कि नेमिचन्द्राचार्य बृहद्गच्छीय उद्योतनाचार्य के शिष्य उपाध्याय आम्रदेव के शिष्य हैं। इनके गुरु-भ्राता का नाम मुनिचन्द्रसूरि है, जिनकी प्रेकरणा ही प्रस्तुत वृत्ति की रचना का मुख्य कारण है। वृत्ति-रचना का स्थान अणहिलपाटन नगर में सेठ दोहडि का घर है। इसका ग्रन्थमान 12000 श्लोक-प्रमाण है।

50. उद्द्योतनसूरि

कुवलयमालाकहा के रचयिता का नाम दाक्षिण्यचिह्न उद्द्योतनसूरि है। कथा के अन्त में लेखक ने एक 27 पद्यों की प्रशस्ति दी है जिसमें गुरुपरम्परा, रचनासमय और स्थान का निर्देश किया गया है। इससे अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता चलता है। तदनुसार उत्तरापथ में चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नामक नगरी में तोरमाण या तोरराय नामक राजा राज्य करता था। इसके गुरु गुप्तवंशीय आचार्य हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। उनके शिष्य शिवचन्द्रगणि महत्तर भिल्लमाल के निवासी थे, उनके शिष्य यक्षदत्त थे। इनके णाग, बिंद (वृन्द), मम्मड, दुग्ग, अग्निशर्मा, बडेसर (बटेश्वर) आदि अनेक शिष्य थे, जिन्होंने देवमन्दिर का निर्माण कराकर गुर्जर देश को रमणीय बनाया था। इन शिष्यों में से एक का नाम तत्त्वाचार्य था। ये ही तत्त्वाचार्य कुवलयमाला के कर्त्ता उद्द्योतनसूरि के गुरु थे। उद्द्योतनसूरि को वीरभद्रसूरि ने सिद्धान्त और हरिभद्रसूरि ने युक्तिशास्त्र की शिक्षा दी थी। इस ग्रन्थ को उन्होंने जावालिपुर (जालोर) के भ. ऋषभदेव के मंदिर में रहकर चैत्र कृष्ण चतुर्दशी के अपराह्न में, जब कि शक सं. 700 के समाप्त होने में एक ही दिन शेष था, पूर्ण किया था। उस समय नरहस्ति श्रीवत्सराज यहाँ राज्य करता था। यह समय विक्रम सं. 835 आता है और ईस्वी सन् 779 की मार्च 21 को समाप्त हुआ समझना चाहिए।

51. उक्तिव्यक्तिप्रकरण

प्राचीन कोश-ग्रन्थों की परम्परा में पं. दामोदर शास्त्री ने 12वीं शताब्दी में उक्तिव्यक्तिप्रकरण की रचना की, जिसका दूसरा नाम प्रयोग-प्रकाश है। इस कोश-ग्रन्थ में इस बात को अत्यंत सरल ढंग से समझाया गया है कि किस प्रकार

लोक भाषा में प्रचलित देशी शब्द संस्कारित होकर संस्कृत रूप धारण करते हैं।

52. उक्तिरत्नाकर

देशीय शब्दों के ज्ञापन के लिए 17वीं शताब्दी में जैन साधु सुन्दरगणि ने उक्तिरत्नाकर की रचना कर उक्तिमूलक शब्दों का संग्रह किया। इस ग्रन्थ में देशी शब्दों के संस्कृत रूप तो दिये ही हैं, साथ ही ऐसे शब्द भी मिलते हैं, जो संस्कृत से गढ़े गये हैं। यथा – मिठाई > मृश्टाटिका।

53. उपदेशपद (उवएसपद)

उपदेशपद याकिनीमहत्तरा के धर्मपुत्र और विरहांक पद से प्रख्यात हरिभद्रसूरि की रचना है, जो कथा साहित्य का अनुपम भंडार है। ग्रंथकर्त्ता ने धर्मकथानुयोग के माध्यम से इस कृति में मन्द बुद्धिवालों के प्रबोध के लिए जैनधर्म के उपदेशों को सरल लौकिक कथाओं के रूप में संग्रहित किया है। इसमें 1039 गाथायें हैं जो आर्या छन्द से लिखी गई हैं। लेखक ने उत्तराध्ययननिर्युक्ति, नन्दि और सन्मतिप्रकरण आदि की गाथायें अपनी मूल रचना में गर्भित कर ली हैं। उपदेश पद पर स्याद्वादरत्नाकर के प्रणेता वादिदेवसूरि के गुरु मुनिचन्द्रसूरि की सुखबोधिनी नाम की टीका है जो प्राकृत और संस्कृत में पद्य और गद्य में लिखी हैं, और अनेक सुभाषितों और सूक्तियों से भरपूर है। मुनिचन्द्रसूरि प्राकृत और संस्कृत भाषाओं के बड़े अच्छे विद्वान थे, और अणहिल्लपाट नगर में विक्रम संवत् 1194 ईसवी सन् 1117 में उन्होंने इस टीका की रचना की थी। यह मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा से सन् 1923-5 में दो भागों में प्रकाशित है।

54. उपदेशमालाप्रकरण

मलधारि हेमचन्द्रसूरि की दूसरी उल्लेखनीय रचना उपदेशमाला या पुष्पमाला है। भवभावना की भाँति उपदेशमाला भी विषय, कवित्य और शैली की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें 505 गाथाएँ हैं जो निम्नलिखित बीस अधिकारों में विभक्त हैं। : 1अभयदान, 2 ज्ञान, 3 दान, 4 शील, 5 तप, 6 भावना, 7 सम्यक्त्वशुद्धि, 8 चारित्रशुद्धि, 9 इन्द्रियजय, 10 कषायनिग्रह, 11 गुरुकुलवास, 12 दोष विकटना,13 विराग, 14 विनय, 15 वैयावृत्य, 16 स्वाध्याय, 17 अनायतन-त्याग, 18 परपरिवाद निवृत्ति, 19 धर्मस्थिरता, 20 परिज्ञान। इस पर लेखक के

कथनानुसार जिनवचनरूपी कानन से सुंदर पुष्पों को चुनकर सुवर्ण (सुन्दर शब्द सुन्दर रंग) और असदृश गुणों गुण डोरा) से युक्त इस श्रेष्ठ पुष्पमाला (उपनाम कुसुममाला)की रचना की गई है। इस कृति में जैन तत्वोपदेश, कर्मो के क्षय का उपाय प्रतिपादित किया गया है। इस कृति में तत्वोपदेश संबंधी कितनी ही महत्वपूर्ण धार्मिक और लौकिक कथायें विशद शैली में ग्रथित हैं। यह ऋषभदेव केशरीमल संस्था द्वारा सन् 1936 में इन्दौर से प्रकाशित है।

55. उपदेशमाला (उवएसमाला)

विविध पुष्पों से गूंथी हुई माला की भाँति धर्मदासगणि ने पूर्व दृष्टान्त पूर्वक जिनवचन के उपदेशों को इस उपदेशमाला में गुंफित किया है। इस कथा को वैराग्य प्रधान कहा गया है जो संयम और तप में प्रयत्न न करने वाले व्यक्तियों को सुखकर नहीं होती। उपदेशमाला में कुल मिलाकर 542 प्राकृत गाथायें हैं जिनमें 70 कथानक गुंफित्त हैं। ग्रंथकार ने अपनी इस कृति को शांति देनेवाली, कल्याणकारी, मंगलकारी आदि विशेषणों द्वारा महत्त्वपूर्ण बताया है। ग्रन्थकार ईसवीं सन् की चौथी पाँचवी शताब्दी के विद्वान् जान पड़ते हैं। विद्वानों का मानना है कि इन ग्रंथ की गाथाओं में पाये जाने वाले आख्यान जैन साहित्य के प्राचीन स्तर तक जाते हैं, जिनकी तुलना निर्युक्ति प्रकीर्णकों के आख्यानों से की जा सकती है। इस महत्वपूर्ण ग्रंथ पर अनेक विद्वानों ने टीकाओं की रचना की हैं।

इसमें चार विश्राम हैं। पहले विश्राम में रणसिंह, चंदनबाला, प्रसन्नचंद्र, भरत और ब्रम्हदत्त आदि की कथायें हैं। दूसरे विश्राम में मृगावती, जम्बूस्वामी, भवदेव, कुबेरदत्त, मकरदाढ़ा, वैश्या, भौताचार्य, चिलातिपुत्र, हरिकेश, वज्रस्वामी, वसुदेव आदि की कथायें हैं। जम्बूस्वामी की कथा में योगराज और एक पुरुष का संवाद है। तीसरे विश्राम में शालिभद्र, मेतार्यमुनि, प्रदेशी राजा, कालकाचार्य, वारत्रक मुनि, सागरचन्द्र, गोशाल, श्रेणिक, चाणक्य, आर्य महागिरि, सत्यकि, अन्निकापुत्र, चार प्रत्येक बुद्ध आदि की कथायें हैं। चतुर्थ विश्राम में शेलकाचार्य, पुडरीक, कंडरीक, दर्दुर, सुलस, जमालि आदि की कथायें हैं।

56. उपदेशरत्नाकर (उवएसरयणायर)

इसके कर्ता सोमसुन्दरसूरि के शिष्य सहस्त्रावधानी मुनिसुन्दरसूरि हैं, जो बाल

सरस्वती और वादिगोकुलषण्ड के नाम से सम्मानित किये जाते थे। उपदेशरत्नाकर विक्रम संवत् 1476 (ईसी सन् 1319) के आसपास की रचना है जो लेखक के स्वोपज्ञविवरण से अलंकृत है। यह ग्रंथ तीन तटों में विभक्त हैं प्रथम, मध्यम आर अपर। प्रथम दो भागों में चार-चार अंश और फिर प्रत्येक अंश में तरंग हैं। अन्तिम तट के आठ विभाग हैं और इनमें प्रथम चार को तरंग कहा गया है। अनेक दृष्टान्तों द्वारा यहाँ धर्म का प्ररूपण किया है। अनेक आचार्यों, श्रेष्ठियों और मंत्रियों आदि के संक्षिप्त कथानक विवरण में दिये हैं। महाभारत, महानिशीथ, व्यवहारभाष्य, उत्तराध्ययनवृत्ति, पंचाशक, धनपाल की ऋषभपंचाशिका आदि कितने ही ग्रंथों के उद्धरण यहाँ दिये गये हैं। सर्प, आमोषक, चोर, ठग, वणिक, वन्ध्या, गाय, नट, वेणु, सखा, बन्धु, पिता-माता और कल्पतरू इन बारह दृष्टान्तों द्वारा योग्य अयोग्य गुरु का स्वरूप बताया है। गुरूओं के निबोली, प्रियालु, नारियल और केले की भाँति चार भेद किये हैं। जैसे जल, फल, छाया और तीर्थ से विरहित पर्वत आश्रित जनों को कष्टप्रद होते हैं, उसी प्रकार रुत, चारित्र, उपदेश और अतिशय से रहित गुरु अपने शिष्यों के लिए क्लेशदायी होते हैं। इस ग्रन्थ के प्रथम दो भाग स्वोपज्ञवृत्ति सहित देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रंथमाला में सन् 1914 में बंबई से प्रकाशित है। ग्रंथ की संपूर्ण आवृत्ति चन्दनसागर जी के गुजराती अनुवाद एवं प्रोफेसर हीरालाल कापड़िया की प्रस्तावना सहित जैन पुस्तक प्रचार संस्था द्वारा वि.स. 2005 में प्रकाशित है।

57. उपाध्ये, ए. एन.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये प्राकृत अपभ्रंश, संस्कृत के उच्चकोटि के विद्वान् थे। सम्पादन-कला के आप मर्मज्ञ थे। प्राकृत के अनेक ग्रन्थों का आपने सम्पादन-अनुवाद किया है। उनकी अंग्रेजी प्रस्तावनाएँ देश-विदेश में आज भी ज्ञान-कोश मानी जाती है। प्रो. उपाध्ये का जन्म 6 फरवरी 1906 को कर्नाटक के बेलगांव जिले के सदलगा गांव में हुआ था। कोल्हापुर आपका कार्यक्षेत्र रहा। 1930 में आपने एम.ए. किया तथा 1939 ई. में बम्बई यूनिवर्सिटी से आपको डी.लिट. की उपाधि प्राप्त हुई। राजाराम कालेज, कोल्हापुर में वे अर्धमागधी के प्रोफेसर रहे

और 1971 में आप जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग, मैसूर विश्वविद्यालय में विभागाध्यक्ष भी रहे। आप अंग्रेजी, कन्नड़, मराठी, गुजराती, हिन्दी, जर्मन, फ्रेंच भाषाओं में प्रवीण विद्वान् थे।

प्रो. उपाध्ये की प्रसिद्ध सम्पादित पुस्तकों में प्रवचनसार, कुवलयमाला, परमात्मप्रकाश, धूर्ताख्यान, वृहत्कथाकोश, वरांगचरित, पंचविंशति, आदि प्रमुख हैं, जिनके सम्पादन–अनुवाद और प्रस्तावनाओं ने विद्वानों को आकर्षित किया है। डॉ. ए. एन. ने सैकड़ों शोधपत्र लिखे हैं, जो डॉ. उपाध्येज–पेपर्स के नाम से बाद में प्रकाशित हुए हैं। डॉ. ए.एन. उपाध्ये देश–विदेश की कई अकादमिक संस्थाओं और सम्मेलनों के अध्यक्ष रहे। भारतीय ज्ञानपीठ की मूर्तिदेवी ग्रंथमाला के वर्षों तक जनरल एडीटर के रूप में आपने कार्य किया। प्रो. उपाध्ये ने 1971 में केनबरा, 1973 में पेरिस, जर्मनी और इंग्लैण्ड तथा 1974 में बेल्जियम की भी यात्राएँ कर वहाँ पर विद्वत्तापूर्ण भाषण दिये। मैसूर से लौटकर 8 अक्टूबर 1975 को प्रो. उपाध्ये का कोल्हापुर में देहावसान हुआ। किन्तु आपकी विद्वत्ता एवं सज्जनता आज भी जीवन्त है।

58. उवसग्गहर थोत्त

पाँच गाथाओं का यह स्तोत्र जैनों में बहुत लोकप्रिय है। णमोकार–मंत्र के बाद इसका ही नंबर आता है। इसमें विषधरस्फुलिंग मंत्र (ओं नमिऊण पास विसहर वसह जिण फुलिंग) का समावेश माना जाता है। यह स्तोत्र अनेक बार प्रकाशित हो चुका है। हर्मन याकोबी द्वारा संपादित, अंग्रेजी अनुवाद सहित, कल्पसूत्र 1991 सप्तस्मरण के साथ जिनप्रभसूरि सिद्धचन्द्रगणि और हर्षकीर्तिसूरि की व्याख्याओं सहित देवचन्द लालाभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला की ओर से सन् 1933 में बंबई से प्रकाशित है। हीरालाल रसिकदास कापड़िया द्वारा **उवसग्गहरथोत्त एक अध्ययन** मोहनलाल जी ग्रंथ बंबई 1964 से प्रकाशित है।

59. उपासकदशांग (उवासगदसाओ)

अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में उपासकदशांग का सातवाँ स्थान है। यह सूत्र धर्मकथानुयोग के रूप में प्रस्तुत हुआ है। भगवान् महावीर युग के दस उपासकों के पवित्र चरित्र का इसमें वर्णन है, जिन्होंने प्रभु महावीर के धर्म उपदेशों से प्रभावित

होकर अपने जीवन को सार्थक कर दिया। अतः इसका नाम उपासकदशांग सार्थक प्रतीत होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में एक श्रुतस्कन्ध व दस अध्ययन हैं। इन दस अध्ययनों में क्रमशः आनंद, कामदेव, चुलणीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता और जोलिनीपिता श्रमणोपासकों के कथानक हैं। उपासकदशांग में वर्णित ये दसों उपासक विभिन्न जाति और विभिन्न व्यवसाय करने वाले थे। इनके कथानकों द्वारा जैन गृहस्थों के द्वारा पालनीय धार्मिक नियम समझाये गये हैं। इनकी जीवनचर्या के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि धर्म का पालन करने में अनेक विघ्न एवं प्रलोभन सामने आते हैं, लेकिन श्रावक जीवन में रहकर भी परीषहों को सहन कर विभिन्न साधनाएँ की जा सकती हैं। अंगसूत्र में यह एक मात्र सूत्र है, जिसमें सम्पूर्णतया श्रावकाचार का निरूपण हुआ है। इस दृष्टि से यह ग्रन्थ आचारांग का पूरक है, क्योंकि आचारांग में मुनिधर्म का विस्तृत वर्णन हुआ है और इसमें श्रावकधर्म का विस्तार से निरूपण किया गया है।

60. उपासकाध्ययनं-उपासयाज्झयण

प्राकृत गाथाओं द्वारा आचार्य वसुनन्दि ने उपासयाज्झयण (उपासकाध्ययनं) ग्रन्थ में श्रावकधर्म का विस्तृत निरूपण किया है। इसमें 546 गाथाएँ हैं। आचार्य ने ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति में बताया है कि कुन्दकुन्दाम्नाय में श्रीनन्दि, नयनन्दि, नेमिचन्द और वसुनन्दि हुए। वसुनन्दि के गुरु नेमिचन्द्र हैं, इन्हीं के प्रसाद से आचार्य परम्परागत प्राप्त उपासकाध्ययन को वात्सल्य और आदरभाव से भव्य जीवों के कल्याण हेतु रचा है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल का निश्चित पता नहीं है, पर इतना निश्चित है कि पंडित आशाधर जी के ये पूर्ववर्ती हैं। आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की टीका में वसुनन्दि का स्पष्ट उल्लेख किया है। अतः इनका समय ई. 1239 के पहले है। यह ग्रन्थ सन् 1952 ई. में भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित है।

61. उषानिरुद्ध (उसाणिरुद्धो)

उषाणिरुद्ध प्राकृत का सरस खंडकाव्य है। इस काव्य की कथा चार सर्ग में

विभाजित है। इसकी कथा का आधार श्रीमद् भागवत है। इस खंडकाव्य के रचयिता भी रामपाणिवाद हैं। यह कंसवध के पहले की रचना है। यह एक सरस प्रेमकाव्य है, जिसमें बाणासुर की कन्या उषा तथा श्रीकृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध के प्रणय एवं विवाह की घटना का काव्यात्मक वर्णन हुआ है। बाण की कन्या ऊषा कृष्ण के पौत्र अनिरुद्ध से प्रेम करती है। बाण को जब यह मालूम होता है तो वह अनिरुद्ध को जेल में डाल देता है। श्रीकृष्ण अपने पौत्र को छुड़ाने के लिए बाण से युद्ध करते हैं। पराजित होकर बाण अपनी कन्या का विवाह अनिरुद्ध से कर देते हैं। अन्तिम सर्ग में उषा एवं अनिरुद्ध को देखने आने वाली नारियों की विचित्र मनोदशा का काव्यात्मक वर्णन हुआ है। प्रणयकथा की प्रधानता होने के कारण शृंगार रस इस काव्य का प्रमुख रस है। नायक-नायिका दोनों के ही चरित्र-चित्रण में प्रणय-तत्त्व को प्रमुखता दी गई है। शृंगार रस के साथ-साथ युद्ध आदि प्रसंग में वीर रस की भी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह समृद्ध रचना है। घटनाओं का विन्यास क्रम सुनियोजित है। उत्प्रेक्षा, रूपक, काव्यलिंग, अलंकारों का सुन्दर नियशेषन हुआ है। इस खण्डकाव्य पर कर्पूरमंजरी तथा अन्य संस्कृत काव्यों का प्रभाव परिलक्षित होता है।

62. औपपातिक सूत्र (उववाइयं)

औपपातिकसूत्र अर्धमागधी जैन वाङ्मय का प्रथम उपांग है। इसके दो अध्ययन हैं - समवसरण एवं उपपात। अभयदेवसूरि ने वृत्ति में लिखा है कि उपपात अर्थात् देव और नारकियों के जन्म या सिद्धिगमन का वर्णन होने से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है। इसमें विभिन्न सम्प्रदायों के तापसों, परिव्राजकों, श्रमणों आदि को उनकी साधनाओं के द्वारा प्राप्त होने वाले भवान्तरों का मार्मिक वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में एक ओर जहाँ धार्मिक एवं दार्शनिक विवेचन मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर राजनैतिक, सामाजिक तथा नागरिक तथ्यों की चर्चा भी हुई है। यह आगम वर्णन प्रधान शैली में रचित है। चम्पा नगरी, वनखण्ड, चैत्य, राजा, रानी आदि के वर्णनों की दृष्टि से यह अन्य आगमों के लिए सन्दर्भ ग्रन्थ के रूप में जाना जाता है। जिन विषयों का इसमें विवेचन है, वह सम्पूर्णता के साथ है। इसमें भगवान् महावीर के

समस्त अंगोपांगों का विशद् वर्णन किया गया है। भगवान् के समवसरण का सजीव चित्रण एवं उनकी महत्त्वपूर्ण उपदेश – विधि भी इसमें सुरक्षित है। श्रमण जीवन एवं स्थविर जीवन के वर्णन में द्वादशविध तप का भी इसमें विस्तृत विवेचन हुआ है। वस्तुतः यह आगम ज्ञान, दर्शन, चारित्र एवं तप के साधकों के लिए आचरणीय है।

इसमें एक ओर जहाँ राजनैतिक, सामाजिक तथा नागरिक तथ्यों की चर्चा हुई है तो दूसरी ओर धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्य भी प्रतिपादित हुए हैं। इस आगम की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जिन विषयों की चर्चा की गई है उनका पूर्ण विवेचन किया गया है। अन्य आगमों में, यहाँ तक कि अंगसूत्रों में भी इन्हीं वर्णनों का संदर्भमात्र दिया गया है। भगवान महावीर के आ-नख-शिख समस्त अंगोपांगों का इतना विशद वर्णन अन्य किसी भी आगम में नहीं है। भगवान की शरीर-सम्पत्ति को जानने के लिए यही एकमात्र आधारभूत आगम है। उनके समवसरण का सजीव चित्रण और भगवान की महत्त्वपूर्ण उपदेशविधि भी इसमें सुरक्षित है।

भगवान महावीर के जो सन्त थे वे उग्र, भोग, राजन्य, ज्ञात और कौरव कुलों के क्षत्रिय, भट, योद्धा, सेनापति, श्रेष्टि एवं इभ्य पुत्र थे। उनके मल, मूत्र,थूक और हस्तादिक के स्पर्श से रोगी पूर्ण स्वस्थ हो जाते थे। अनेक श्रमण मेधावी, प्रतिभासंपन्न, कुशलवक्ता और आकाशगामी विद्या में निष्णात थे। वे कनकावली, एकावली, क्षुद्रसिंहनि क्रीडित, महासिंहनि कीडित, भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा, आयंबिल, वर्धमान मासिक भिक्षुप्रतिमा, क्षुद्रमोकप्रतिमा, महामोकप्रतिमा, यवमध्यचन्द्रप्रतिमा और वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा आदि तपविशेष का आचरण करते थे। वे विद्यामंत्र में कुशल, परवादियों के मानमर्दन करने में पटु,

द्वादशांगवेत्ता और विविध भाषाओं के ज्ञाता थे। बारह प्रकार के तप आदि में सदा निमग्न रहते थे।

चम्पानगरी धन-धान्यादि से समद्ध और मनुष्यों से आकीर्ण थी। सैकड़ों हलों द्वारा यहाँ खेती की जाती थी, किसान अपने खेतों में ईख, जौ और चावल बोते

तथा गाय, भैंस और भेड़ें पालते थे। यहाँ के लोग आमोद–प्रमोद के लिए कुक्कुटों और साँड़ों को रखते थे। यहाँ सुन्दर आकार के चैत्य तथा पण्य तरुणियों के मोहल्ले थे। लांच लेनेवालों, गंटकतरों, तस्करों और कोतवालों (खंडरक्खिअ–दंडपाशिक) का यहाँ अभाव था। श्रमणों के यथेच्छ भिक्षा मिलती थी। नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले) मल्ल, मौष्टिक (मुष्टि से लड़ने वाले) विदूषक, कथावाचक, प्लवक (तैराक), रास गायक, शुभाशुभ बखान करने वाले, लंख (बाँस के ऊपर खेल दिखलाने वाले), मंख (चित्र दिखाकर भिक्षा माँगने वाले), तूणा बजानेवाले, तुंब की वीणा बजाने वाले और ताल देकर खेल करने वाले यहाँ रहते थे। यह नगरी आराम, उद्यान, कूप, दीर्घिका (बावड़ी) और पानी की क्यारियों से जोभित थी। चारों ओर से खाई और खात से मंडित थी तथा चक्र, गदा, मुसुंढि, उरोह (छाती को चोट पहुँचाने वाला) शतघ्नी तथा निश्छिद्र कपाटों के कारण इसमें प्रवेश करना दुष्कर था। यह नगरी वक्र प्राकार (किला) वेजित, कपिशीर्षकों (कंगूरों) से शोभित तथा अट्टालिका, चरिका (गृह और प्राकार के बीच में हाथी आदि के जाने का मार्ग) द्वार गोपुर और तोरणों से मंडित थी। गोपुर के अर्गल (मूसल) और इन्द्रकील (ओट) कुशल शिल्पियों द्वारा बनाये गये थे। यहाँ के बाजारों में वणिक् और शिल्पी, अपना–अपना माल बेचते थे। चम्पा नगरी के राजमार्ग सुन्दर थे और हाथियों, घोड़ों, रथों और पालकियों के आवागमन से आकीर्ण रहते थे। –सूत्र 1।

वार्तानिवेदक से महावीर के आगमन का समाचार पाकर राजा कूणिक अत्यन्त प्रसन्न हुआ। उसने तुरंत ही अपने सेनापति को आदेश दिया– हे देवानुप्रिय ! शीघ्र ही हस्तिरत्न को सज्जित करो, चतुरंगिणी सेना को तैयार करो और सुभद्रा और रानियों के लिए अलग–अलग यानों को सजाओ। नगरी के गली–मोहल्लों को साफ करके उनमें जल का छिड़काव करो, नगरी को मंचों से विभूषित करो, जगह–जगह ध्वजा और पताकाएँ फहरा दो तथा गौशीर्ष और रक्तचन्दन के थापे लगवाकर सब जगह गन्धगुटिका आदि धूप महका दो (28–29)। सेनापति न नगररक्षकों को बुलाकर उन्हें नगर में छिड़काव आदि करने का आदेश दिया। सब तैयारी हो जाने पर सेनापति ने राजा कूणिक के पास पहुँचकर सविनय निवेदन किया कि महाराज गमन के लिए तैयार हो जायें– (30)।

तत्पश्चात् कूणिक अनेक गणनायक, दण्डनायक, माण्डलिक, राजा, युवराज, कोतवाल, सीमाप्राप्त के राजा, परिवार के स्वामी, इभ्य, श्रेष्ठी सेनापति, सार्थवाह, दूत और सन्धिरक्षकों के साथ बाहर की उपख्यानशाला (दरबार आम) में आकर हाथी पर सवार हुआ। सबसे आगे आठ मंगल द्रव्य, फिर पूर्ण कलश, छत्र, पताका और चामर सहित वैजयन्ती सजाये गये। तत्पश्चात्, दण्ड, छत्र, सिंहासन, पादपीठ और पादुका वहन करने वाले अनेक किंकर और कर्मकर खड़े हुए। इनके पीछे लाठी, भाला, धनुष, चामर, पाश (फाँसी) पुस्तक, फलक, ढाल, आसन, वीणा, कुतुप (तैलपात्र) और पानदान (हडप्फ) बहन करने वाले खड़े हुए। उनके पीछे अनेक दण्डी मुण्डी, शिखण्डी (शिखाधारी), जटी (जटावाल) पिंछीवाले, विदूषक, चाटुकार, भांड आदि हँसते-बोलते और नाचते-गाते तथा जय जय कार करते थे। तत्पश्चात् घोड़े, हाथी और रथ थे और उनके पीछे असि, शक्ति (सांग), भाला, तोमर, शूल, लकुट, भिंडिपाल (लम्बाभाला) और धनुष से सज्जित पदाति खड़े थे। कूणिक राजा का वक्षस्थल हार से, मुख कुण्डल से और मस्तक मुकुट से शोभायमान था। उसके सिर पर छत्र शोभित था और चामर डुल रहे थे। इस प्रकार बड़े ठाठ-बाठ से कूणिक ने हाथी पर सवार होकर पूर्णभद्र चैत्य की ओर प्रस्थान किया। उसके आगे बड़े घोड़े और घुड़सवार, दोनों ओर हाथी और हाथीसवार तथा पीछे-पीछे रथ चल रहे थे। शंख, पणव, छोटा ढोल) पटह, भेरी, झल्लरी, खरमुही (झांझ) हुडुक्का, मुरज, मृदंग और दुंदुभि के नाद से आकाश गुंजित हो उठा था-(31)।

अम्मड परिव्राजक कंपिल्लपुर नगर में केवल सौ घरों से आहार लेता था, और सौ घरों में वसति ग्रहण करता था। उसने छट्ठमछट्ठ तपोकर्म से सूर्य के अभिमुख ऊर्ध्व बाहु करके आतापना भूमि से आतापना करते हुए अवधिज्ञान प्राप्त किया। वह जल में प्रवेश नहीं करता, गाड़ी आदि में नहीं बैठता, गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का शरीर में लेप नहीं करता। अपने लिए बनाया हुआ आधाकर्म, औद्देशिक आदि भोजन ग्रहण नहीं करता। कांतार भक्त, दुर्भिक्ष-भक्त, प्राघूर्णक-भक्त (अतिथियों के लिए बनाया भोजन), तथा दुर्दिन में बनाया हुआ भोजन ग्रहण नहीं करता। अपध्यान, प्रमादचर्या, हिंसाप्रधान और पाप कर्म का

उपदेश नहीं देता। वह कीचड़ रहित बहता हुआ, छाना हुआ, मगध देश के आधे आढक के प्रमाण में स्वच्छ जल केवल पीने के लिए ग्रहण करता थाली, चम्मच धोने अथवा स्नान आदि करने के लिए नहीं। अर्हत् और अर्हत् चैत्यों को छोड़कर शाक्य आदि किसी और धर्मगुरु को नमस्कार नहीं करता। सल्लेखनापूर्वक कालधर्म को प्राप्त कर वह ब्रह्मलोक में उत्पन्न हुआ। देवलोक से च्युत होकर अम्मड परिव्राजक महाविदेह में उत्पन्न हुआ। उसके जन्म दिवस की खुशी में पहले दिन ठिइवडिय (स्थितिपतिता) उत्सव, दूसरे दिन चन्द्रसूर्यदर्शन और छठे दिन जागरिक रात्रिजागरण उत्सव मनाया गया। उसके बाद ग्यारहवें दिन सूतक बीत जाने पर बारहवें दिन नामसंस्करण किया गया और बालक दृढ़प्रतिज्ञ नाम से कहा जाने लगा। आठ वर्ष बीत जाने पर उसे शुभ तिथि और नक्षत्र में पढ़ने के लिए कलाचार्य के पास भेजा गया। वहाँ उसे 72 कलाओं की शिक्षा दी गई।

63. ओघनिर्युक्ति (ओहणिज्जुत्ती)

ओघ का अर्थ है सामान्य। विस्तार में गये बिना अर्धमागधी प्राकृत ग्रन्थ ओघनिर्युक्ति में सामान्य समाचारी का कथन किया गया है। इसके कर्त्ता भद्रबाहु हैं। इसे आवश्यकनिर्युक्ति का अंश माना जाता है। इसमें 811 गाथाएँ हैं, जिनमें साधुओं के आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया है। साध्वाचार का ग्रन्थ होने के कारण कहीं-कहीं ओघनिर्युक्ति की गणना छेदसूत्रों में भी की जाती है। जैन श्रमण संघ के इतिहास का संकलन की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।

64. ऋषिदत्ताचरित

इसमें ऋषि अवस्था में हरिषेण प्रीतिमती से उत्पन्न पुत्र ऋषिदत्ता और राजकुमार कनकरथ का कौतुकतापूर्ण चरित्र वर्णित है। कनकरथ एक अन्य राजकुमार रुकमणी से विवाह करने जाता है पर मार्ग में एक वन में ऋषिदत्ता से विवाहकर लौट आता है। रुक्मणी ऋषिदत्ता को एक योगिनी के द्वारा राक्षसी के रूप में कलंकित करती है। उसे फाँसी की भी सजा होती है। पर ऋषिदत्ता अपने शील के प्रभाव से सब विपत्तियों को पार कर जाती है और अपने प्रिय से समागम करती है। इस आकर्षक कथानक को लेकर संस्कृत, प्राकृत में कई कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इस कथा पर सबसे प्राचीन रचना प्राकृत में है जो परिमाण में

1550 ग्रन्थाग्र है। इसकी रचना नाइलकुल के गुणपाल मुनि ने की है। लेखक की अन्य रचना जम्बूचरियं भी मिलती है। इसिदत्ताचरियं (ऋषिदत्ताचरित्र) की प्राचीन प्रति सं. 1264 या 1288 की मिलती है। इससे यह उक्त काल के पूर्व की रचना है। गुणपाल मुनि का समय भी 9-10वीं शताब्दी के बीच अनुमान किया गया है।

65. कंसवहो

कंसवध के रचयिता रामपाणिवाद मलावर प्रदेश के निवासी थे। इनका समय ई. सन् 1707-75 तक माना गया है। प्रस्तुत खंडकाव्य में 4 सर्ग एवं 233 पद्य हैं। इस काव्य की कथावस्तु का आधार श्रीमद् भागवत है। अक्रूरजी गोकुल आकर श्रीकृष्ण एवं बलराम को कंस के छल के बारे में बताते हैं कि धनुष यज्ञ के बहाने कंस ने उन्हें मारने का षड्यन्त्र रचा है। श्रीकृष्ण निमंत्रण स्वीकार कर बलराम सहित अक्रूर के साथ मथुरा जाते हैं। वहाँ धनुषशाला में जाकर धनुष को तोड़ देते हैं। आगे कुवलयापीड हाथी एवं अम्बष्ट को पछाड़ने, चाणूर एवं मुष्टिक मल्ल को मल्लयुद्ध में हराने की घटना वर्णित हुई है। अन्त में क्रुद्ध कंस स्वयं तलवार लेकर उनके सामने उपस्थित होता है। श्रीकृष्ण तत्क्षण ही कंस का वध कर देते हैं। समस्त कथानक इसी घटना के इर्द-गिर्द घूमता है। इस संक्षिप्त कथानक को लेकर कवि ने इस खंडकाव्य की रचना की है। श्री कृष्ण द्वारा कंस का वध करने का प्रसंग इस काव्य की केन्द्रिय घटना है। अतः इसी घटना के आधार पर काव्य का नाम कंसवहो रखा गया है। यह एक सरस काव्य है, जिसमें लोकतत्त्व, वीरता एवं प्रेमतत्त्व का निरूपण एक साथ हुआ है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, कहीं-कहीं शौरसेनी का भी प्रयोग हुआ है। मथुरानगरी, प्रभात, कंस वध, गोपियों का विलाप, बलराम का अन्तर्द्वन्द्व, कृष्ण की बाल लीला आदि के वर्णनकाव्यात्मक हैं। बलराम के अन्तर्द्वन्द्व का मनोवैज्ञानिक चित्रण दृष्टव्य है-

पवट्टए चावमहं ति कोदुअं णिवट्टए वंचण-साहणं ति तं।
दुहा वले भादर भाव-बंधणं मह त्ति तं जंपइ रोहिणी-सुओ॥..(गा.27)

अर्थात् - रोहिणी पुत्र (बलराम) कहते हैं, हे भाई! मुझे दो प्रकार का भाव उत्पन्न हो रहा है। एक ओर धनुष यज्ञ देखने का कौतूहल उत्पन्न हो रहा है, तो दूसरी ओर वह धनुष यज्ञ कपट का साधन है। इस कारण मन निवृत्त हो रहा है।

66. कक्कुक शिलालेख

9 वीं –10 वीं सदी के कक्कुक शिलालेख में जो कि जोधपुर के पास घटयाला ग्राम में एक स्तम्भ पर टंकित हैं, उसमें प्रतिहार-वंश की उत्पत्ति एवं उसके राजवंश की नामावली प्रस्तुत की गई। इस शिलालेख में राजा कक्कुक द्वारा एक जैनमंदिर के निर्माण तथा सभी प्रजाजनों की सुविधा के लिए चहारदीवार से घिरे हुए सुरक्षित एक हाट-बाजार के बनाए जाने की चर्चा की गई है। जैनों के सर्वधर्म-समन्वयकारी तथा सार्वजनिक कल्याणकारी कार्यो के इतिहास की जानकारी की दृष्टि से इस शिलालेख का विशेष महत्व है।

वर्तमानकालीन बाजारों की परम्परा भारत में सम्भवतः राजा कक्कुक के समय से प्रारम्भ हुई। इसकी आवश्यकता इसलिए पड़ी होगी, क्योकि वह समय विदेशी आक्रमणों का था, उसके कारण राजनैतिक अस्थिरता सामाजिक अवस्था, आर्थिक दुरवस्था सर्वत्र असुरक्षा एवं भय के व्याप्त होने के कारण नागरिकों को उससे उबारने तथा दैनिक आवश्यकताओं की सामग्री एवं खाद्यान्नादि की पूर्ति-हेतु एक दो द्वारवाले सुरक्षित चतुर्दिक घेरेबन्दी में सुविधा-सम्पन्न हाट-बाजार की परम्परा का आविष्कार किया गया। कक्कुक-शिलालेख के अनुसार उस समय राजा कक्कुक ने रोहिंसकूप (घट्याला, जोधपुर राजस्थान) में महाजनों, ब्राम्हणों, सेना तथा व्यापारियों के लिए एक विशाल हाट-बाजार बनवाकर अपनी कीर्ति का विस्तार किया था। यथा-

"सिरिकक्कुएण हट्टं मह्रजणं विप्प-पयई-वणि-बहुलं।
रोहिंसकूवगामे णिवेसिआइं कित्तिविड्ढीए॥ 20॥"

67. कथानककोश (कहाणयकोस)

इसे कथाकोश या कथाकोशप्रकरण भी कहा गया है। बृहट्टिप्पणिका के अनुसार यह प्राकृत ग्रन्थ है जिसमें 239 गाथाएँ हैं। लेखक ने प्रारम्भ में एक गाथा में कहा है कि वह इस कोश में कुछ नयों और दृष्टान्त कथाओं को कह रहा है जिनके श्रवण से मुक्ति सम्भव है। गाथाओं में कथाओं का आकर्षक नामों से उल्लेख किया गया है। कहीं-कहीं एक ही दृष्टान्त की एकाधिक कथायें दी गई

हैं। उदाहरण के लिए पूजा की भावना मात्र से स्वर्गसुख की प्राप्ति होती है, इसके लिए चौथी गाथा में जिनदत्त, सूरसेना, श्रीमाली और रोरनारी के नाम दृष्टान्त रूप में दिये गये हैं। प्रथम 17 गाथाओं में सब कथाएँ जिनपूजा और साधुदान से सम्बन्धित हैं। गाथाओं पर गद्य-पद्य मिश्रित एक संस्कृत टीका है पर उसमें दृष्टान्त कहानियाँ प्राकृत में दी गई हैं। कथाकार ने इसमें आगमवाक्य तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश के कुछ पद्यों को उद्धृत किया है।

68. कथाकोश

जिनेश्वर ने भी 239 गाथाओं में कथाकोश की रचना की है। इसकी वृत्ति प्राकृत में है। जिनभद्र ने कथासमास (उपदेशमाला) नामक कथाकोश की प्राकृत में रचना की। इसका समय अज्ञात है।

69. कथाकोश (भरतेश्वरबाहुबलिवृत्ति)

सोमसुन्दर के पट्टशिष्य सहस्त्रावधानी मुनि सुन्दरगणि के शिष्य शुभशीलगणि ने वि.सं. 1509 (ईसवी 1452) में कथाकोश (भद्रेश्वरबाहुबलि वृत्ति) की रचना की (मूल और वृत्ति सहित देवचन्द्र लालभाई पुस्तकोद्धार, बम्बई, 1932, 1937, दो भागों में प्रकाशित) मूलग्रंथ में प्राकृत की 13 गाथायें हैं जिनका आरंभ भरहेसर बाहुबलि पद से होता है। इन गाथाओं में सूचक-शब्दों द्वारा 100 कथानकों में धर्मपरायण स्त्री पुरुषों के नामों की श्रृंखला प्रस्तुत है। सूचक शब्दप्रधान इन गाथाओं की तुलना निर्युक्ति-गाथाओं से की जा सकती है। अधिकांश कथायें प्राचीन जैन साहित्य में उपलब्ध होती हैं। प्रस्तुत संस्कृत वृत्ति में गद्य-पद्यमिश्रित कथायें दी हुई है, बीच-बीच में प्राकृत उद्धरण हैं। यह वृत्ति कथाओं का कोश है। शत्रुंजय कथाकोश शुभशीलगणि का दूसरा कथाकोश ह जिसे धर्मघोषकृत शत्रुंजयकल्प की वृत्ति के रूप में वि.स. 1518(ईसवी सन् 1431) में रचा। यह वृत्ति विस्तृत कथाओं का कोश है। इसमें 100 धर्मात्मा गिनाये गये हैं। इनमें 53 पुरुष (पहला भरत और अन्तिम मेघकुमार) और 47 स्त्रियाँ (पहली सुलसा और अन्तिम रेणा) हैं जो धर्म और तप साधनाओं के लिए जैनों में सुख्यात हैं। अधिकांशतः ये प्राचीन जैन कथा-साहित्य में उपलब्ध कथाओं के ही पात्र हैं। टीका में सब कथाएँ ही कथाएँ हैं, इसलिए इसे कथाकोश भी कहा जाता है।

70. कथाकोश प्रकरण (कहाणयकोस)

कथाकोषप्रकरण वर्धमानसूरि के शिष्य सुप्रसिद्ध श्वेतांबर आचार्य जिनेश्वरसूरि की रचना है जिसे उन्होंने वि.स. 1108 (सन् 1051) में लिखकर समाप्त किया था। सुरसुंदरीचरियं के कर्ता धनेश्वर, नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि, संवेगरंगशाला आदि के प्रणेता जिनचन्द्रसूरि, आदिनाथचरित आदि के रचयिता वर्धमानसूरि और महावीरसूरि के शिष्य प्रशिष्यों में हैं जिन्होंने बड़े आदरपूर्वक उनका स्मरण किया है। सोमतिलकसूरि में अपनी धनपालकथा में जिनेश्वरसूरि की साहसिकता और कार्य तत्परता की तुलना शिवजी के उन भक्तों से की है जो अपने कंधों में गड्ढे बनाकर उनमें दीपक जलाते हुए प्रयाण करते हैं। जिनेश्वरसूरि ने दूर-दूर तक भ्रमण किया था और विशेषकर गुजरात, मालवा और राजस्थान इनकी प्रवृत्तियों के केन्द्र थे। इन्होंने और भी अनेक प्राकृत और संस्कृत के ग्रंथों की रचना की है जिनमें हरिभद्रकृत अष्टक पर वृत्ति चैत्यवन्दनविवरण, षट्स्थानकप्रकरण (अथवा श्रावकवक्तव्यता), पंचलिंगीप्रकरण, लीलावतीकथा (अथवा निर्वाणलीलावतीकथा) आदि मुख्य है।

कहारयणकोस में कुल 30 गाथायें हैं और इनके ऊपर प्राकृत में टीका है जिसमें 36 मुख्य और 4-5 अवांतर कथायें हैं। ये कथायें प्राय: प्राचीन जैन ग्रन्थों से ली गई हैं जिन्हें लेखक ने अपनी भाषा में निबद्ध किया है। कुछ कथायें स्वयं जिनेश्वरसूरि की लिखी हुई मालूम होती हैं। जिनपूजा, साधुदान, जैनधर्म में उत्साह आदि का प्रतिपादन करने के लिये इन कथाओं की रचना की गई है। इन कथाओं में तत्कालीन समाज, आचार-विचार, राजनीति आदि का सरस वर्णन मिलता है। कथाओं की भाषा सरल और बोधगम्य हैं, समासपदावली, अनावश्यक शब्दाडंबर और अलंकारों का प्रयोग यहाँ नहीं है। कहीं अपभ्रंश के भी पद्य हैं, जिनमें चउप्पदिका (चौपाई) का उल्लेख है। जिनेश्वरसूरि के कथाकोषप्रकरण के सिवाय और भी कथाकोष प्राकृत में लिखे गये हैं। अनेक कथारत्नकोशों की रचना हुई है।

मूल कथा-ग्रन्थ की 30 प्राकृत गाथाओं में जिन कथाओं के नाम निर्दिष्ट हैं,

उनका विस्तार वृत्ति में किया गया है। इनमें से कुछ कथाएँ पुराने ग्रन्थों में मिलती हैं तथा कुछ ग्रन्थकार द्वारा कल्पित हैं। इस ग्रन्थ की कथाएँ बड़ी ही सरस एवं सुन्दर है। इन कथाओं के माध्यम से कर्म सिद्धान्त की सर्वव्यापकता की सुन्दर प्रतिष्ठा की है। प्रत्येक प्राणी के वर्तमान जन्म की घटनाओं का कारण उसके पूर्वजन्म के कृत्यों को माना है। जन्म-परम्परा एवं प्रत्येक भव के सुख-दु:ख में कारण एवं कार्य के सम्बन्ध को समझाते हुए व्रताचरण के पालन पर बल दिया है। इन कथाओं के माध्यम से जिनपूजा, जिनस्तुति, वैयावृत्य, धर्मउत्साह की प्रेरणा, साधु-दान आदि का फल बड़ी ही सरल एवं सुन्दर शैली में प्रतिपादित किया गया है। भाषा सरल एवं बोधगम्य है। कहीं-कहीं अपभ्रंश के पद्य भी हैं। सांस्कृतिक दृष्टि से यह कथा-ग्रन्थ अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्व, धातुवाद, रसवाद और अर्थशास्त्र आदि के विषय में इसमें महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ उपलब्ध हैं।

यह ग्रन्थ सामान्य श्रोताओं को लक्ष्य में रखकर बनाया गया है। इसके प्रारंभ की 7 कथाओं में जिन भगवान् की पूजा का फल, 8वीं में जिनस्तुति का फल, 9वीं में साधुसेवा का फल, 10-25वीं तक 16 कथाओं में दानफल, इसके आगे 3 कथाओं में जैनशासन-प्रभावना का फल, 2 कथाओं में मुनियों के दोष दिखाने का कुफल, 1 कथा में मुनि-अपमान-निवारण का सुफल, 1 कथा में जिनवचन पर अश्रृद्धा का कुफल, 1 कथा में धर्मोत्साह प्रदान करने का सुफल, 1 कथा में गुरुविरोध का फल, 1 में शासनोन्नति करने का फल तथा अन्तिम कथा में धर्मोत्साह प्रदान करने का फल वर्णित है।

71. कप्पूरमंजरी

कर्पूरमंजरी प्राकृत सट्टक परम्परा का प्रतिनिधि सट्टक है। इसके रचयिता 10वीं शताब्दी के कविराज यायावरवंशीय राजशेखर हैं। राजशेखर ने कर्पूरमंजरी की चार जवनिकाओं में राजा चन्द्रपाल एवं कर्पूरमंजरी की प्रणय कथा निबद्ध की है। कथावस्तु पूर्णरूप से काल्पनिक है। राजा चन्द्रपाल के द्वारा अद्‌भुत दृश्य देखने का अनुरोध करने पर योगी भैरवानंद अपनी योग शक्ति से विदर्भ की

राजकुमारी अपूर्व सुन्दरी कर्पूरमंजरी को राजा के समक्ष प्रस्तुत करता है। राजा उसके अनुपम सौन्दर्य को देखकर विमुग्ध हो जाता है। कर्पूरमंजरी राजमहिशी विभ्रमलेखा की मौसेरी बहन है, अतः रानी विभ्रमलेखा अन्तरंगता के कारण उसे अपने पास रखने का अनुरोध करती है। इसके पश्चात् कर्पूरमंजरी एवं राजा चन्द्रपाल के प्रणय, विरह-व्याकुलता, रानी के कठोर नियंत्रण तथा अन्त में कर्पूरमंजरी एवं राजा चन्द्रपाल का विवाह, राजा द्वारा चक्रवर्ती पद की प्राप्ति आदि घटनाओं के साथ सट्टक की सुखद समाप्ति होती है।

कर्पूरमंजरी सट्टक में कथावस्तु का विनियोजन इस प्रकार हुआ है कि अन्त तक रोचकता बनी रहती है। प्रारम्भ से अन्त तक नृत्य, संगीत एवं मनोरंजन की प्रचुरता विद्यमान है। सट्टक के सभी शास्त्रीय लक्षण इसमें विद्यमान हैं। नायक धीर, ललित, सौंदर्य प्रेमी एवं निश्चित स्वभाव वाला है। नायिका कर्पूरमंजरी मुग्धा, नवकामिनी एवं अपूर्व सौन्दर्य की स्वामिनी है। राजमहिषी मानिनी है, किन्तु राजा के चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा के कारण उन्हें कर्पूरमंजरी के साथ विवाह करने की स्वीकृति दे देती है। शृंगार रस एवं प्रेम का वातावरण प्रारम्भ से अंत तक व्याप्त है। इस सट्टक में चर्चरी नामक नृत्य का भी प्रयोग हुआ है। शृंगार रस के साथ-साथ हास्य रस का भी अनूठा चित्रण है। तृतीय जवनिका में विदूषक का स्वप्न रोचक एवं विनोदपूर्ण है। इस सट्टक की भाषा शौरसेनी प्राकृत है। लोकोक्तियों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह सट्टक महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन लोक संस्कृति का इसमें प्रचुर चित्रण हुआ है। सिद्धयोगी भैरवानंद तत्कालीन तन्त्र-विद्या का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रसंगवश कौल धर्म की विशेषताओं का भी उल्लेख इसमें हुआ है।

काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से कर्पूरमंजरी अद्वितीय कृति है। इसका पदलालित्य एवं नाद-सौन्दर्य अनुपम है। इसके सभी पद्य सुन्दर हैं। छन्द अलंकारों का इस सट्टक में सुन्दर विनियोजन हुआ है। कवि ने सुन्दर शब्दों के चयन द्वारा अनेक मौलिक उपमाओं का प्रयोग किया है। यथा – कर्पूरमंजरी के मुख सौन्दर्य की अभिव्यंजना करने वाला यह पद्य दृष्टव्य है –

मा कहं पि वअणेण विब्भमो होउइति तुह णुणामिन्दुणा।
लांछणच्छलमसीविसेसओ पेच्छ बिम्बफलये णिए कओ ॥(3.32)

अर्थात् – निश्चय ही तुम्हारे मुख से लोगों को (चन्द्रमा की) भ्रान्ति न हो जाए, इसलिए देखो! चन्द्रमा के द्वारा अपने चन्द्र बिम्ब में मृगचिन्ह के बहाने काला धब्बा धारण कर लिया गया है।

वस्तु–वर्णन में अनुप्रास माधुर्य एवं ज्ञेयता का समावेश इस प्रकार हुआ है कि वर्ण्य विषय का चित्र आँखों के सामने प्रत्यक्ष उपस्थित हो जाता है। झूला झूलती कर्पूरमंजरी का यह चित्र दृष्टव्य है –

रणन्तमणिणेउरं झणझणंतहारच्छडं
कलक्कणिदकिंडिणीमुहरमेहलाडम्बरं।
विलोलवलआवलीजणिदमंजुसिंजारवं
ण कस्स मणमोहणं ससिमुहीअहिन्दोलणं? ॥(2.32)

अर्थात् – रत्ननिर्मित नूपुरों की झंकार से युक्त, मुक्ताहारों की झनझनाहट से परिपूर्ण, कटिसूत्र (करधनी) की घण्टियों की मनोहर आवाज से युक्त, चंचल कंगनों की पंक्ति से उत्पन्न हुए सुन्दर शब्दों से युक्त, यह चन्द्रमुखी कर्पूरमंजरी के झूलने की क्रिया किसके मन को नहीं मोह लेती है, अर्थात् सभी के मन को आकर्षित कर रही है।

72. कर्मप्रकृति (कम्मपयडि)

कर्मप्रकृति के लेखक आचार्य शिवशर्म हैं, जिनका समय अनुमानतः विक्रम की 5 वीं शताब्दी माना गया है। इसमें 425 गाथाओं में बंधन, संक्रमण, उद्धर्तन, अपवर्तन, उदीरणा, उपशमना, निधत्ति और निकाचना इन आठ करणों एवं उदय और सत्ता का विवेचन है। इस पर टीका लिखी है। यह ग्रंथ मलयगिरिकृत वृत्तिसहित देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बंबई 1912, मलयगिरि एवं यशोविजयवृत्ति सहित जैनधर्मसभा प्रसारक भावनगर 1917, चूर्णी तथा मलयगिरि और यशोविजय कृत वृत्तियों सहित मुक्ताबाई ज्ञानमंदिर, डभोई द्वारा सन् 1937 में प्रकाशित है। मूल संस्कृत छाया और गुजराती अनुवाद के साथ माणेकलाल चुनीलाल की ओर से सन् 1938 में प्रकाशित है। जिनरत्नकोश में कर्म प्रकृति नाम के आठ ग्रन्थों का निर्देश मिलता है।

73. करलक्खण

यह सामुद्रिक शास्त्र का अज्ञातकर्तृक ग्रन्थ है। इसमें 61 गाथाओं में हस्त रेखाओं का महत्व, पुरुषों के लक्षण, पुरुषों का दाहिना और स्त्रियों का बाँया हाथ देखकर भविष्यकथन आदि विषयों का वर्णन किया गया है। विद्या, कुल, धन, रूप और आयुसूचक पाँच रेखायें होती हैं। हस्तरेखाओं से भाई-बहन, और सन्तानों की संख्या का भी पता चलता है। कुछ रेखाएँ धर्म और व्रत की सूचक मानी जाती है। यह ग्रन्थ प्रफुल्लकुमार मोदी द्वारा संपादित और भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा सन् 1954 में प्रकाशित है।

74. कल्पसूत्र

दशाश्रुतस्कंध जिसे दसा, आयारदसा अथवा दसासुय भी कहा जाता है, चौथा छेदसूत्र है। कुछ लोग दसा के साथ कप्प को जोड़कर ववहार को अलग मानते हैं। और कुछ दसा को अलग करके कल्प व्यवहार को एक स्वीकर करते हैं। इससे इस सूत्र की उपयोगिता स्पष्ट है। इसके आठवें अध्ययन को कल्पसूत्र कहा गया है। दशाश्रुतस्कंध के कर्त्ता भद्रबाहु माने जाते हैं। इस पर निर्युक्ति है। निर्युक्ति के कर्त्ता भद्रबाहु छेदसूत्रों के कर्त्ता भद्रबाहु से भिन्न है। आठवें अध्ययन को पर्यूषण पर्व में पढ़े जाने के कारण इसे पंज्जोसणाकल्प अथवा कल्पसूत्र कहा जाता है। इसके प्रथम भाग जिनचरित में श्रमण भगवान् महावीर का च्यवन, जन्म संहरण, दीक्षा, केवलज्ञान और मोक्ष का विस्तृत वर्णन है। कहीं काव्यमय भाषा का प्रयोग भी हुआ है। जिनप्रभ, धर्मसागर, विनयविजय, समयसुन्दर, रत्नाकर, संघविजय, लक्ष्मीवल्लभ आदि अनेक आचार्यों ने इस पर टीकायें लिखी हैं। वर्षा ऋतु में जैनश्रमणों के एक स्थान पर स्थिर वास करने को पर्युषण कहते हैं। इसे पर्युषण के दिनों में साधु लोग अपने व्याख्यानों में पढ़ते हैं। इसमें महावीरचरित के पश्चात् पार्श्व, नेमी, ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरों के चरित लिखे गये हैं। कल्पसूत्र के दूसरे भाग स्थविरावली में स्थविरों के गुण, शाखा और कुलों का उल्लेख है, जिनमें से अनेक मथुरा के ईसवी सन् की पहली शताब्दी के शिलालेखों में उत्कीर्ण हैं। यह स्थविरावली नन्दीसूत्र की स्थविरावलि से कुछ भिन्न है। तीसरे भाग समाचारीं में साधुओं के नियमों का विवेचन है।

75. कल्पावतंसिका (कप्पवडंसिया)

शाब्दिक दृष्टि से कल्पावतंसिका का अर्थ है - विमानवासी देव। इस अर्धमागधी के उपांग-ग्रन्थ में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रेणिक राजा के दस पौत्रों पउम, महापउम, भद्द, सुभद्द, पउमभद्द, पउमसेन, पउमगुल्म, नलिनीगुल्म, आणंद और नन्दन के भगवान् महावीर के पास श्रमण दीक्षा ग्रहण करने, देवलोक जाने, अन्ततः महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर सिद्धत्व प्राप्त करने के वर्णन हैं। इस उपांग में व्रताचरण द्वारा जीवन-शोधन की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है कि जिनके पिता अपने कषायों के कारण नरक गति को प्राप्त हुए, उन्हीं के पुत्र रत्नत्रय रूप धर्म की सम्यक् आराधना करने के कारण देवलोक में गये। कर्म सिद्धान्त की सुन्दर व्याख्या करता हुआ यह उपांग मनुष्य के उत्थान एवं पतन का कारण कर्म को ही स्वीकार करता है।

76. कल्पिका (कप्पिया)

इस अर्धमागधी उपांग में 10 अध्ययन हैं। प्राचीन मगध का इतिहास जानने के लिए यह उपांग अत्यन्त उपयोगी है। पहले अध्ययन में कुणिक अजातशत्रु का जन्म, पिता श्रेणिक के साथ मन मुटाव, पिता को कारागार में बन्द कर कुणिक का स्वयं राज्य सिंहासन पर बैठना, श्रेणिक का आत्म-हत्या को कर लेना, कुणिक का वैजोली के गणराजा चेटक के साथ युद्ध करने का वर्णन है। इसमें कुणिक का विस्तृत परिचय प्राप्त होता है।

77. कविदर्पण

नन्दिषेणकृत 'अजितशान्तिस्तव' के ऊपर लिखी जिनप्रभ की टीका में कविदर्पण का उल्लेख प्राप्त होता है। इस रचना के मूल कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है। विद्वानों ने इसका रचनाकाल लगभग 13वीं शताब्दी माना है। इसमें छः उपदेश हैं। प्रथम उद्देश में मात्रा, वर्ण तथा दोनों के मिश्रण से छंद के तीन प्रकार बताये हैं। द्वितीय उद्देश में 11 प्रकार के मात्रा छंदों का वर्णन है। तृतीय उद्देश में सम, अर्धसम और विशम वर्णिक छंदों का तथा चतुर्थ उद्देश में समचतुष्पदी, अर्धसमचतुष्पदी तथा विशमचतुष्पदी का वर्णन है। पाँचवें उद्देश में उभय छंदों का तथा छठे उद्देश में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि प्रत्ययों का वर्णन है। इस ग्रन्थ में

छंदों को समझाने हेतु हेमचन्द्र के छंदोनुशासन, श्री हर्ष की रत्नावली नाटिका आदि के उदाहरण मिलते हैं।

नन्दिषेणकृत अजितशान्तिस्तव के ऊपर लिखी हुई जिनप्रभ की टीका में कवि दर्पण का उल्लेख मिलता है। यह टीका संवत् 1365 में लिखी गई थी। दुर्भाग्य से कविदर्पण और उसके टीकाकार का नाम अज्ञात है। मूल ग्रन्थकर्ता और टीकाकार दोनों जैन थे और दोनों ने हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन के उद्धरण दिये हैं। जिनप्रभ के समय छन्द का यह ग्रन्थ सुप्रसिद्ध था, इसलिए अजितशान्तिस्तव के छन्दों को समझाने के लिए जिनप्रभ ने हेमचन्द्र के छन्दोनुशासन के स्थान पर कविदर्पण का ही उपयोग किया है। प्रोफेसर वेलनकर ने कविदर्पण का रचनाकाल ईसवी सन् की 13वीं शताब्दी माना है। छन्दोनुशासन के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में भी हर्ष की रत्नावलि नाटिका तथा जिनसूरि, सूरप्रभसूरि और तिलकसूरि की रचनाओं के उद्धरण दिये हैं। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, भीमदेव और शांकभरिराज नामके राजाओं का यहाँ उल्लेख है। टीका में सूर पिंगल और त्रिलोचनदास की संस्कृत कृतियों में से तथा स्वयंभू मनोरथ और पादलिप्त की प्राकृत कृतियों में से उद्धरण दिये गये हैं।

78. कल्लाणलोयणा

कल्लाणालोयणा के कर्त्ता अजितब्रह्म या अजितब्रह्मचारी हैं। इनका समय विक्रम की 16 वीं शताब्दी माना जाता है। इनके गुरु का नाम देवेन्द्रकीर्ति था, और भट्टारक विद्यानन्दि के आदेश से भृगुकच्छ में इन्होंने हनुमच्चरित्र की भी रचना की थी। यह ग्रंथ 54 गाथाओं में समाप्त होता है।

79. कसायपाहुडं

आचार्य धरसेन के समकालीन आचार्य गुणधर हुए हैं। आचार्य गुणधर को द्वादशांगी का कुछ श्रुत स्मरण था। वे पाँचवें ज्ञानप्रवादपूर्व की दशम वस्तु के तीसरे कसायपाहुड के पारगामी थे। इसी आधार पर उन्होंने कषायप्राभृत नामक सिद्धान्त ग्रन्थ की रचना शौरसेनी प्राकृत में की। आचार्य गुणधर ने इसकी रचना कर नागहस्ति और आर्यमंक्षु को इसका व्याख्यान किया था। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से क्रोधादि कषायों की राग-द्वेष परिणति, उनके प्रकृति, स्थिति, अनुभाग

और प्रदेश बंध सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन किया गया है। अतः इसका दूसरा नाम पेज्जदोसपाहुड भी प्रचलित है। यह ग्रन्थ 233 गाथा सूत्रों में विरचित है। ये सूत्र गूढ़ार्थ आध्यात्मिक रहस्यों को अपने में समेटे हुए हैं। इस ग्रन्थ में 15 अधिकार हैं–

1. पेज्जदोसविभक्ति	2. स्थितिविभक्ति	3. अनुभागविभक्ति
4. प्रदेशविभक्ति – झीणाझीणस्थित्यन्तिक		5. बन्धक अधिकार
6. वेदक अधिकार	7. उपयोग अधिकार	8. चतुःस्थान अधिकार
9. व्यंजन अधिकार	10. दर्शनमोहोपशमना	11. दर्शनमोहक्षपणा
12. संयमासंयमलब्धि	13. संयमलब्धि अधिकार	14. चारित्रमोहोपशमना
15. चारित्रमोहक्षपणा।		

इनमें प्रारम्भ के आठ अधिकारों में संसार के कारणभूत मोहनीय कर्म की और अन्तिम सात अधिकारों में आत्म-परिणामों के विकास से शिथिल होते हुए मोहनीय कर्म की विविध दशाओं का वर्णन है। मोहनीय कर्म किस स्थिति में किस कारण से आत्मा के साथ सम्बन्धित होते हैं और उस सम्बन्ध का आत्मा के साथ किस प्रकार सम्मिश्रण होता है, किस प्रकार उनमें फलदानत्व घटित होता है, और कितने समय तक कर्म आत्मा के साथ लगे रहते हैं, इसका विस्तृत और स्पष्ट विवेचन इस ग्रन्थ में हुआ है। मोहनीय कर्म में दर्शन-मोहनीय एवं चारित्र-मोहनीय दोनों ही गर्भित हैं। मोहनीय कर्म का इतना सूक्ष्मतम एवं मौलिक विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है।

आचार्य यतिवृषभ ने इस ग्रन्थ पर 6,000 श्लोक-प्रमाण **पाहुडचुण्णिसुत्त** नामक चूर्णि की रचना की है, जिसमें राग-द्वेष का विशेष विवेचन अनुयोगद्वारों के आधार पर किया गया है। कषायपाहुड पर आचार्य वीरसेन और उनके शिष्य जयसेन ने जयधवला टीका लिखी। 20,000 श्लोक-प्रमाण लिखने के पश्चात् आचार्य वीरसेन स्वर्गवासी हो गये। तब उनके शिष्य आचार्य जिनसेन ने अवशिष्ट भाग पर 40,000 श्लोक-प्रमाण लिख कर ई. सन् 837 में इस टीका ग्रन्थ को पूरा किया।

80. कहाणयं (धम्माखाणयं)

इसमें 140 प्राकृत गाथाएँ हैं जिनपर संस्कृत में विनयचन्द्र की टीका है। इस ग्रंथ का नाम धम्मक्खाणयकोस भी है। पाटन भण्डार में इसकी हस्तलिखित प्रति है, जिसमें वि. सं. 1166 रचना या लिपि का समय दिया गया है।

81. कथारत्नकोश (कहारयणकोसो)

कथारत्नकोश प्राकृत कथाओं का संग्रह ग्रन्थ है। नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि के शिष्य देवभद्रसूरि (गुणचन्द्र) ने वि. सं. 1158 में भड़ौच में इस ग्रन्थ की रचना की थी। गुणचन्द्रगणि देवभद्रसूरि नवांगीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्रसूरि के सेवक और मुमतिवाचक के शिष्य थे। इस ग्रन्थ में 2 अधिकार हैं। प्रथम अधिकार में 33 एवं दूसरे अधिकार में 17 कथाएँ हैं। सम्यक्त्व, व्रत, संयम आदि शुष्क विषयों को कथाओं के माध्यम से सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इस कथा-ग्रन्थ की सभी कथाएँ धार्मिक होते हुए भी रोचक एवं मनोरंजक हैं। इन कथाओं के माध्यम से एक ओर शारीरिक सुखों की अपेक्षा आध्यात्मिक सुखों को महत्त्व दिया गया है, वहीं दूसरी ओर जातिवाद का खण्डन कर मानवतावाद की प्रतिष्ठा की गई है। जीवन शोधन के लिए व्यक्ति का आदर्शवादी होना आवश्यक है। इस कृति की विभिन्न कथाओं का उद्देश्य यही है कि उपशांत होकर व्यक्ति आदर्श गृहस्थ का जीवन-यापन करे। सुदत्ताख्यान द्वारा गृहकलह के दोषों का सुन्दर प्रतिपादन किया गया है। काव्यात्मक वर्णनों की दृष्टि से भी यह कथा-ग्रन्थ समृद्ध है।

कथारत्नकोश (सन् 1101 में लिखित) गुणचन्द्रगणि की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसमें अनेक लौकिक कथाओं का संग्रह है। इसके अतिरिक्त इन्होंने पासनाहचरियं, महावीरचरियं, अनंतनाथस्तोत्र, वीतरागस्तव, प्रमाणप्रकाश आदि ग्रंथों की रचना की है। कथारत्नकोश में 50 कथानक हैं जो गद्य और पद्य में अलंकार प्रधान प्राकृत भाषा में लिखे गये हैं। संस्कृत और अपभ्रंश का भी उपयोग किया है। सुदत्तकथानक में गृहकलह का बड़ा स्वाभाविक चित्रण किया गया है - कोई बहू कुँए से जल भरकर ला रही थी, उसका घड़ा फूट गया। यह

देखकर उसकी सास ने गुस्से में उसे एक तमाचा जड़ दिया। बहू की लड़की ने जब यह देखा तो उसने अपनी दादी के गले का नौ लड़ियों का हार तोड़ ड़ाला। बहू की ननद अपनी माँ का यह अपमान देखकर मूसल हाथ में उठाकर अपनी भतीजी को मारने दौड़ी जिससे उसका सिर फट गया और उसमें से लहु बहने लगा। यह देखकर बहू भी अपनी ननद को मूसल से मारने लगी। इस प्रकार प्रतिदिन किसी न किसी बात पर सारे घर में कलह मचा रहता और घर का मालिक लज्जावश किसी से कुछ नहीं कह सकता था। इस ग्रन्थ की एक दूसरी कथा इस प्रकार है –

किसी ब्राह्मण के चार पुत्र थे। जब ब्राह्मण की जीविका का कोई उपाय न रहा तो उसने अपने पुत्रों को बुलाकर सब बात कही। यह सुनकर चारों पुत्र धन कमाने चल दिये। पहला पुत्र अपने चाचा के यहाँ गया। पूछने पर उसने कहा कि पिता जी ने अपना हिस्सा माँगने के लिए मुझे आपके पास भेजा है। यह सुनकर चाचा अपने भतीजे को भला-बुरा कहने लगा, और गुस्से में आकर चाचा ने उसका सिर फोड़ दिया। मुकदमा राजकुल में पहुँचा। चाचा ने किसी तरह 500 द्रम्म देकर अपना पिंड छुड़ाया। लड़के ने यह रुपया अपने पिता को ले जाकर दे दिया। दूसरा पुत्र त्रिपुड आदि लगाकर किसी योगाचार्य के पास गया और रौब में आकर उसे डाँटने-फटकारने लगा। योगाचार्य डर कर उसके पैरों में गिर पड़ा और उसने उसे बहुत सा सोना दान में दिया। तीसरे पुत्र ने धातुविद्या सीख ली और अपनी विद्या से वह लोगों को ठगने लगा। उसने किसी बनिये से दोस्ती कर ली। अपनी विद्या के बल से वह एक माशा सोने का दो माशा बना देता था। एक बार बनिये ने लोभ में आकर उसे बहुत सा सोना दे दिया, और वह लेकर चंपत हो गया। चौथा पुत्र प्रचुर रिद्धिधारी किसी लिंगी का शिष्य बन गया और उसकी सेवा करने लगा। एक दिन आधी रात के समय वह उसका सब धन लेकर चंपत हुआ।

इस कथाकोश के पहले अधिकार का नाम धर्माधिकारी-सामान्य-गुण-वर्णन है। इसमें 9 सम्यक्त्व पटल की तथा 24 सामान्य गुणों की इस तरह 33 कथायें हैं। द्वितीय धर्माधिकारी-विशेषगुण-वर्णनाधिकार में बारह व्रतों तथा

वन्दन-प्रतिक्रमण आदि से संबंधित 17 कथायें हैं। इस कथाकोश का उद्देश्य यह है कि अच्छा साधु और अच्छा श्रावक वही है जो अपने-अपने व्रतों में निष्णात है। बिना अच्छा श्रावक बने कोई भी अच्छा श्रमण नहीं बन सकता है। जो अणुव्रतों का पालन कर सकता है वही महाव्रतों का पालन कर सकता है। सुश्रावक के सामान्य गुण 33 हैं जिनमें सम्यग्दृष्टि और उसके आठ अतिचार, धर्म में श्रद्धा, देवमन्दिर और मुनिसंघ की श्रद्धापूर्वक सहायता करना और करुणा, दया आदि मानवीय वृत्तियों का पोषण करना समाविष्ट हैं। विशेष गुण 17 हैं जिनमें पाँच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत, संवरण, आवश्यक और दीक्षा समाविष्ट हैं। इन गुणों के महत्त्व को प्रकाशित करनेवाली कथाएँ ही इस कथाकोश में दी गई हैं।

यह कथाकोश अधिकांश प्राकृत पद्यों में ही लिखित है, कहीं-कहीं कुछ अंश गद्य में भी दिये गये हैं। बीच-बीच में संस्कृत और अपभ्रंश के पद्य भी दिये गये हैं। कथाओं द्वारा धार्मिक और औपदेशिक शिक्षा देना ही इस कथाकोश का प्रधान लक्ष्य है। ग्रन्थ का परिमाण 12300 श्लोक-प्रमाण है। इस कथाकोश की सभी कथाएँ रोचक हैं। उपवन, ऋतु, रात्रि, युद्ध, मशान, राजप्रासाद, नगर आदि के सरस वर्णनों के द्वारा कथाकार ने कथा-प्रवाह को गतिशील बनाया है। इन कथाओं में सांस्कृतिक महत्त्व की बहुत सामग्री है। नागदत्तकथानक में कुलदेवता की आराधना के लिए उठाये गये कष्टों से उस काल के रीति-रिवाजों तथा नायक के चरित्र और वृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। सुदत्तकथा में गृहकलह का प्रतिपादन करते हुए सास, बहू, ननद और बच्चों के स्वाभाविक चित्रणों में कथाकार ने पूरी कुशलता प्रदर्शित की है। सुजसश्रेष्ठी और उसके पुत्रों की कथा में बाल-मनोविज्ञान के अनेक तत्त्व चित्रित हैं। धनपाल और बालचन्द्र की कथा में वृद्धा वेश्या का चरित्र-चित्रण सुन्दर हुआ है।

82. कथावलि

प्राकृत कथाओं का एक विशाल ग्रंथ है जिसे अभयदेवसूरि के गुरु भद्रेश्वरसूरि ने लिखा है। भद्रेश्वर का समय ईसवी सन् की 12वीं शताब्दी का मध्य माना जाता है। इस ग्रन्थ में त्रिषष्टिशलाका पुरुषों का जीवनचरित संग्रहित

है। इसके सिवाय कालकाचार्य से लगाकर हरिभद्रसूरि तक के प्रमुख आचार्यों का जीवन चरित यहाँ वर्णित है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण के भंडार में हैं।

इस ग्रन्थ में तिरेसठ महापुरुषों का चरित्र वर्णित है। इसकी रचना प्राकृत गद्य में की गई है पर यत्र-तत्र पद्य भी पाये जाते हैं। ग्रन्थ में किसी प्रकार के अध्यायों का विभाग नहीं। कथाओं के आरम्भ में 'रामकहा भण्णइ', 'वाणरकहा भण्णइ' आदि रूप से निर्देश मात्र कर दिया गया है। यह कृति पश्चात् कालीन त्रिशष्टिशलाकापुरुषमहाचरित (हेमचन्द्र) आदि रचनाओं का आधार है। इसके ऐतिहासिक भाग 'थेरावलीचरियं' की सामग्री का हेमचन्द्र ने 'परिशिष्टपर्व' अपरनाम 'स्थविरावलीचरित' में उपयोग किया है। इसमें रामायण की कथा विमलसूरिकृत 'पउमचरियं' का अनुसरण करती है।

83. कार्तिकेयानुप्रेक्षा : (स्वामी कार्तिकेय)

स्वामी कार्तिकेय अथवा कुमार के द्वारा रचित अनुप्रेक्षा ग्रन्थ को कार्तिकेयानुप्रेक्षा नाम से जाना जाता है। इस ग्रन्थ में कुल 489 प्राकृत गाथाएँ हैं जिनमें अध्रुव, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचित्व, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक, बोधिदुर्लभ और धर्म इन बारह अनुप्रेक्षाओं का वर्णन विस्तार से किया गया है। इस ग्रन्थ के रचयिता कार्तिकेय के सबंध में विद्वानों ने पर्याप्त शोध की है। इन्हें उमास्वामी का समकालीन विद्वान माना जाता है। बारह अनुप्रेक्षाओं की जो कुन्दकुन्द, बट्टकेर, और शिवार्य की परम्परा है, उससे भिन्न उमा-स्वामी की अनुप्रेक्षाओं की परम्परा को कार्तिकेय ने अपने इस ग्रन्थ में अपनाया है।

कार्तिकेयानुप्रेक्षा के रचयिता, स्वामी कार्तिकेय हैं। इनके समय को लेकर विद्वान एक मत नहीं हैं। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने इनका समय छठी शताब्दी माना है। इस ग्रन्थ में 489 गाथाएँ हैं, जिनमें चंचल मन एवं विषय-वासनाओं के विरोध के लिए बारह अनुप्रेक्षाओं का विस्तार से निरूपण हुआ है। प्रसंगवश इसमें जीव, अजीव आदि सात तत्त्व, द्वादशव्रत, दान, संलेखना, दशधर्म, सम्यक्त्व के आठ अंग, बारह प्रकार के तप, ध्यान के भेद-प्रभेद आदि का विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ की गाथाओं की अभिव्यंजना बड़ी सशक्त है।

आचार्य कुन्दकुन्दकृत बारसअणुवेक्खा और इस ग्रन्थ में विषय और भाषा-शैली की दृष्टि से बहुत समानता देखी जा सकती है।

84. कालकाचार्य

पट्टावलियों के अध्ययन से यह परिज्ञात होता है कि कालकाचार्य नाम के तीन आचार्य थे। एक का वीर निर्वाण 376 में स्वर्गवास हुआ था। द्वितीय गर्दभिल्ल को नष्ट करने वाले कालकाचार्य हुए। उनका समय वीर निर्वाण 456 है और तृतीय कालकाचार्य जिन्होंने संवत्सरी महापर्व पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को मनाया था, उनका समय वी. नि. 993 है।

इन तीन कालकाचार्यों में प्रथम कालकाचार्य जिन्हें श्यामाचार्य भी कहते हैं, उन्होंने पट्टावलियों के अभिमतानुसार प्रज्ञापना की रचना की। किन्तु पट्टावलियों में उनको 23 वाँ स्थान पट्ट-परंपरा में नहीं दिया है। अन्तिम कालकाचार्य प्रज्ञापना के कर्त्ता नहीं हैं क्योंकि नंदी, जो वीर निर्वाण 993 के पहले रचित है उसमें प्रज्ञापना को आगम सूची में स्थान दिया गया है। परम्परा की दृष्टि से निगोद की व्याख्या करने वाले कालक और श्याम ये दोनों एक ही आचार्य हैं क्योंकि ये दोनों शब्द एकार्थक हैं। परम्परा की दृष्टिसे वीर निर्वाण 335 में वे युगप्रधान हुए और 376 तक वे जीवित रहे।

85. कालिदास के नाटक

महाकवि कालिदास की गणना चौथी शताब्दी के श्रेष्ठतम् नाटककारों में की गई है। अभिज्ञानशाकुन्तलम्, मालविकाग्निमित्रम् एवं विक्रमोर्वशीयम् ये तीन इनके प्रसिद्ध नाटक हैं। इन तीनों ही नाटकों में कवि कालिदास ने प्राकृत भाषा का बहुलता से प्रयोग किया है। उनके नाटकों में गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत का तथा पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है। अभिज्ञानशाकुन्तलम् में दुष्यंत व शकुन्तला की प्रेम कथा वर्णित है। प्रेम व सौन्दर्य की अद्‌भुत अनुभूति उपस्थित करने वाला यह नाटक तत्कालीन राजनैतिक एवं सामाजिक जीवन की मर्मस्पर्शी झांकी भी प्रस्तुत करता है। विभिन्न प्राकृत भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से राजा का साला शौरसेनी में बोलता

है। नपुंसक, ज्योतिषी और विक्षिप्त भी शौरसेनी का प्रयोग करते हैं। स्त्री पात्र एवं शिशु महाराष्ट्री का तथा पुलिस कर्मचारी, मछुए, सर्वदमन आदि मागधी का प्रयोग करते हैं। सप्तम अंक में तापसी के कथनों में प्रयुक्त प्राकृत भाषा को देखने से कालिदास की प्राकृत सम्बन्धी योग्यता और समृद्धता दोनों का अनुमान लगाया जा सकता है। यथा –

इमस्स बालअस्स दे वि संवादिणी आकिदी त्ति विम्हाविदम्हि।
अपरिइदस्स वि दे अप्पडिलोमो संवुत्तो त्ति अ॥

अर्थात् – इस बालक की और आपकी आकृति समान है। ऐसा (देखकर) मैं विस्मित हूँ। अपरिचित आपके लिए (यह) अनुकूल हो गया है।

कालिदास द्वारा प्रयुक्त प्राकृत भाषा बोलचाल की प्राकृतों से भिन्न व्याकरण के नियमों से रूढ़ है। प्राकृत के अनेक मुहावरों एवं लोकोक्तियों का भी इसमें प्रयोग हुआ है। मालविकाग्निमित्रम् की कथावस्तु तो प्राकृत सट्टक परम्परा का ही पूर्ण अनुकरण करती प्रतीत होती है। इसमें राजमहिशी की परिचारिका मालविका और राजा अग्निमित्र की प्रणय कथा वर्णित है। इस नाटक में अधिकांश स्त्री पात्र हैं और उन्होंने प्राकृत भाषा का ही प्रयोग किया है। इन पात्रों द्वारा प्रयुक्त प्राकृत के संवाद सरस एवं मधुर हैं। कालिदास का विक्रमोर्वशीयम् नाटक तो एक प्रकार का प्राकृत सट्टक ही है। इसमें राजा पुरुवर तथा अप्सरा उर्वशी की प्रेमकथा वर्णित है। मेनका, रम्भा, सहजन्या, चित्रलेखा, उर्वशी आदि अप्सराएँ, यवनी, चेटी, राजमहिषी, तापसी आदि स्त्री पात्र एवं विदूषक प्राकृत ही बोलते हैं। अपभ्रंश के भी कुछ सुंदर पद्य इसमें मिलते हैं। यथा–

हउँ पइँ पुच्छिमि आअक्खहि गअवरुललिअपहारें णासिअतरुवरु।
दूरविणिज्जिअ ससहरुकंती दिट्ठि पिआ पइँ सम्मुह जंती॥ (4.22)

अर्थात् – सुन्दर प्रहारों से वृक्षों का नाश करने वाले, हे श्रेष्ठ हाथी! मैं तुमसे पूछ रहा हूँ कि, कहो तुम्हारे द्वारा दूर से ही चन्द्रमा की शोभा को हरण करने वाली क्या मेरी प्रिया के सम्मुख जाती हुई देखी गई है?

86. काव्यप्रकाश

काव्यप्रकाश 12वीं शताब्दी के प्रसिद्ध अलंकारशास्त्री मम्मट की महत्त्वपूर्ण रचना है। काव्यप्रकाश में प्राकृत की 49 गाथाएँ उद्धृत हैं। इस ग्रन्थ पर अनेक टीका ग्रन्थ लिखे गये हैं।

87. काव्यानुशासन

12वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट के काव्यप्रकाश के आधार पर काव्यानुशासन की रचना कर काव्य की समीक्षा प्रस्तुत की है। इस पर उनकी स्वोपज्ञवृत्ति भी है। मूल ग्रन्थ एवं वृत्ति में मिलाकर प्राकृत के 78 पद्य उद्धृत हैं। ये पद्य प्रायः शृंगार, नीति एवं वीरता सम्बंधी हैं। उदाहरण गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी, रत्नावली आदि से लिये गये हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करते हुए नायक की मनोदशा का यह चित्र दृष्टव्य है। यथा –

एकत्तो रुअइ पिया अण्णत्तो समरतूरनिग्घोसो।
नेहेण रणरसेण य भडस्स दोलाइयं हिअअम्॥ (3.2 टीका 187)

अर्थात् – एक ओर प्रिया रो रही है, दूसरी ओर युद्ध की रणभेरी बज रही है। प्रेम व युद्ध रस के बीच में योद्धा का हृदय दोलायमान हो रहा है।

88. काव्यालंकार

काव्यालंकार के रचयिता आचार्य रुद्रट हैं। इनका समय लगभग 9वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने अपने ग्रन्थ काव्यालंकार में अलंकारशास्त्र के समस्त सिद्धान्तों, भाषा, रीति, रस, वृत्ति, अलंकार आदि का विस्तार से वर्णन प्रस्तुत किया है। अलंकारों का वर्णन इनके ग्रन्थ की विशेषता है। कवि ने भाषा के छः भेद बताये हैं – प्राकृत , संस्कृत, मागधी, पैशाची, शौरसेनी एवं अपभ्रंश। इन छः भाषाओं के उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने संस्कृत-प्राकृत -मिश्रित गाथाओं की रचना की है।

89. काव्यादर्श

काव्यादर्श के रचयिता आचार्य दण्डी अलंकारशास्त्र जगत के बहुत बड़े विद्वान माने जाते हैं। इनका समय ई. सन् की 7-8वीं शताब्दी के मध्य माना जाता है। अपने इस ग्रन्थ में उन्होंने काव्य की शोभा को बढ़ाने वाले अलंकारों का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में भाषा के संस्कृत, प्राकृत , अपभ्रंश

और मिश्र ये चार भेद किये हैं। सूक्ति प्रधान होने के कारण महाराष्ट्री को उत्कृष्ट प्राकृत माना है। शौरसेनी, गौड़ी, लाटी एवं अन्य देशों में बोली जाने वाली भाषाओं को प्राकृत तथा गोप, चाण्डाल और जकार आदि द्वारा बोली जाने वाली भाषाओं को अपभ्रंश कहा है। बृहत्कथा को भूत-भाषामयी और अद्‌भुत अर्थ वाली बताया है।

90. कुन्दकुन्द आचार्य

प्राकृत भाषा के महान् विद्वान् तथा जैन सिद्धान्त साहित्य के प्ररूपक आचार्य कुन्दकुन्द का नाम जैनाचार्यों में सर्वप्रथम लिया जाता है। भगवान् महावीर एवं गौतम गणधर के पश्चात् मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो कहकर किसी भी मंगल कार्य के प्रारंभ में उनका स्मरण किया जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने भारतीय संस्कृति को तत्त्वज्ञान ही नहीं, अध्यात्म प्रधान आचार-विचार भी प्रदान किये हैं। उन्होंने आत्म-ज्ञान एवं आध्यात्मिक साहित्य द्वारा भौतिक सुखों एवं सांसारिक लिप्सा को त्यागने का मार्ग बताकर भौतिकता के अंधकार में आध्यात्मिकता की ज्योति को प्रज्वलित किया। उनके अनुसार ज्ञान एवं दर्शन के साथ चारित्र का समन्वय करने पर ही मुक्ति शीघ्रतागामी हो सकती है। आत्मा की मुक्ति के लिए उन्होंने बाह्य संयमित जीवन के साथ-साथ ध्यान एवं तपश्चरण पर भी बल दिया।

भारतीय चिन्तकों और ग्रन्थकारों में आचार्य कुन्दकुन्द का अग्रपंक्ति में स्थान है। उन्होंने अपने विपुल वाङ्मय के द्वारा भारतीय संस्कृति को तत्त्वज्ञान और अध्यात्मप्रधान विचार तथा आचार प्रदान किया है। भारतीय साहित्य में प्राकृत भाषा के महापण्डित और इस भाषा में निबद्ध सिद्धान्त-साहित्य के रचयिता के रूप में इनका नाम दूर अतीत काल से निश्रुत है। आचार्य कुन्दकुन्द एक महान् प्रभावशाली आचार्य हुए हैं, जो पिछले दो हजार वर्षों में हुए हजारों आचार्यो में अद्वितीय एवं असाधारण है। उनके उत्तरवर्ती अनके ग्रन्थकारों ने अपने ग्रन्थों में उन्हें सश्रद्ध स्मरण किया है। इतना ही नहीं, शिलालेखों में भी उनकी असाधारण विद्वत्ता, संयम, अद्‌भुत इंद्रिय-विजय, प्राप्त ऋद्धि-सिद्धियों आदि का विशेष उल्लेख किया गया है। पट्टावलियों में विदित हैं कि उन्होंने 11 वर्ष की अवस्था में ही साधु-दीक्षा ले ली थी और समग्र जीवन संयम और तपोनुजान-पूर्वक व्यतीत किया था। वे लगभग 95 वर्ष तक जिये और इस लम्बे जीवन में उन्होंने दीर्घ,

चिन्तन, मनन एवं ग्रन्थ-सृजन किया।

जैन पट्टावलियों के अध्ययन से स्पष्ट है कि अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को आम्नाय-परम्परा में परम तपस्वी आचार्य कुन्दकुन्द हुए। उनके ही पवित्र वंश में आचार्य उमास्वामी हुए। मूलसंघ के नायक अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के शिष्य श्री माघनन्दी भट्टारक हुए और पूज्य माघनन्दी के शिष्य मुनीन्द्र जिनचन्द्र हुए। कुन्दकुन्द के दीक्षागुरु यही जिनचन्द्र कहे गये है। कुन्दकुन्द की शौरसेनी प्राकृत रचनाओं में बारसअनुवेक्खा में इनके नाम का उल्लेख मिलता है। इन्होनें अपने अष्टपाहुड के बोधपाहुड में अपने गुरू का नाम श्रतुकेवली भद्रबाहु बतलाया है। इसी पट्टावली में कुन्दकुन्द के पाँच नामों का उल्लेख मिलता है-एलाचार्य, गृध्रपिच्छ, वक्रगीव, पद्मनन्दी और कुन्दकुन्द। बहुत कुछ खोजबीन करने पर भी आचार्य कुन्दकुन्द के बचपन के नाम का पता नहीं चलता है। श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि पर्वत के पार्श्वनाथ मन्दिर के नवरंग में अंकित प्रशस्ति तथा शिलालेखों में एवं पट्टावलियों में कोण्डकुन्द यतीन्द्र; से यह निश्चित है कि यह मुनि अवस्था का नाम है। किन्तु नन्दिसंघ की पट्टावली से यह ज्ञात होता है कि दीक्षा अवस्था के समय का नाम पद्मनन्दी था।

आचार्य कुन्दकुन्द दक्षिण भारत के निवासी थे। आचार्य इन्द्रनन्दी के उल्लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कुन्दकुन्द कोण्डकुण्डपुर निवासी थे। श्री पी. वी. देसाई के विवरण से पता चलता है कि दक्षिण भारत में अनन्तपुर जिले के गुटी तालुके में स्थित गुन्टकाल रेलवे स्टेशन से दक्षिण की ओर लगभग चार मील दूर कोण्डकुण्डल ही वह स्थान है जहाँ पर कुन्दकुन्द का जन्म हुआ था। वहाँ के रहने वाले लोग आज भी इस स्थान को कोण्डकुन्दि कहते है। कन्नड़ में कुण्ड तथा कोण्ड शब्द का अर्थ पहाड़ी या पर्वतीन उपत्यका स्थान है।

कहा जाता है कि 'पोन्नूर' नामक ग्राम में आचार्य कुन्दकुन्द ने घोर तपस्या की थी। पोन्नूर ग्राम की स्थिति तमिलनाडु के आकार्ड जिले में मद्रास से 80 मील दूर वर्तमान पोन्नर हिल कही जाती है। पोन्नूर का अर्थ है-सोना। अतः इसे हेमग्राम भी कहते है। आचार्य कुन्दकुन्द की तपोभूमि के साथ-साथ यह रचनास्थली भी रही है। पोन्नूर हिल पर आसीन होकर उन्होंने समयसार प्रवचनसार, नियमसार,

पंचास्तिकाय आदि महान् ग्रन्थों की रचना की थीं। नन्दिसंघ की पट्टावली में आचार्य कुन्दकुन्द के गुरु का नाम जिनचन्द्र लिखा हुआ मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द ने गमकगुरु के रूप में श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्मरण करते हुए लिखा है-

सद्दवियारो हूओ भासासुत्तेसु चं जिणे कहियं।
तो तह कहियं णायं सीसेण य भद्दबाहुस्स ॥
वारसअंगवियाणं चउदसपुव्वगं विउलवित्थरणं।
सुयणाणी भद्दबाहु गमयगुरु भयवओ जयओ ॥

बोधबाहुड, गा 61, 62

अर्थात् जिनेन्द्र भगवान् महावीर ने अर्थ रूप से जो कहा है वह भाषा-सूत्रों में शब्द-विकास को प्राप्त हुआ है अनेक प्रकार से गूंथा गया है। भद्रबाहु के मुझ शिष्य ने उसको उसी रूप से जाना है और कथन किया है। बारह अंगों और चौदह पूर्वो के वेत्ता गमकगुरु भगवान् श्रुतज्ञानी, श्रुतकवेली भद्रबाहु जयवन्त हों। केवल बोधपाहुड में ही समयसार तथा नियमानुसार के मंगलाचरण में भी उन्होंने श्रुतकेकवली का स्मरण किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय पर अनेक विद्वानों ने ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विचार किया है। स्वर्गीय पण्डित जुगलकिशोर 'मुख्तार' मुख्तार ने अनेक प्रमाणों से विक्रम की पहली शताब्दी इनका समय निर्धारित किया है। मूल संघ की उपलब्ध प्राकृत पट्टावली के अनुसार भी यही समय विक्रम सम्वत् 49 माना गया है। डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने सभी के मान्य समयों पर गहरा ऊहापोह करके ईसवी सन् का प्रारम्भ उनका अस्तित्व समय निर्णीत किया है। उनके जन्म को 2 हजार वर्ष होने पर अभी सन् 2000 में सारे देश में पूज्य आचार्य विद्यानन्द जी महाराज की सत्प्रेरणा से आचार्य कुन्दकुन्द द्विसहस्त्रादि वर्ष मनाया गया है। इन दो हजार वर्षों में आचार्य कुन्दकुन्द के शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थों ने परवर्ती साहित्य को बहुत प्रभावित किया है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने अपनी ग्रन्थ-रचना के लिए प्राकृत , पाली और संस्कृत इन तीन प्राचीन भारतीय भाषाओं में से प्राकृत को चुना, क्योंकि प्राकृत उस

समय जन–भाषा के रूप में प्रसिद्ध थी और वे जन–साधारण तक अपने चिन्तन को पहुँचाना चाहते थे। इसके अतिरिक्त षट्खण्डागम्, कषायपाहुड जैसे आर्ष ग्रन्थ प्राकृत में ही निबद्ध होने से प्राकृत की दीर्घकालीन प्राचीन परम्परा भी उन्हें प्राप्त थी। अतएव उन्होंने अपने प्राय: सभी ग्रन्थों की रचना प्राकृत भाषा में ही की है। उनकी यह प्राकृत शौरसैनी प्राकृत है। इसी शौरसेनी प्राकृत में दिगम्बर परम्परा के आगम ग्रन्थों के अलावा अनेक उत्तरवर्ती आचार्यो ने भी अपने ग्रन्थ रचे हैं। इसमें सन्देह नहीं कि प्राकृत साहित्य के निर्माताओं में आचार्य कुन्दकुन्द का सर्वाधिक उच्च एवं मूर्धन्य स्थान है। इन्होंने जितना प्राकृत वाङ्मय रचा है उतना अन्य मनीषी ने नहीं लिखा। कहा जाता है कि कुन्दकुन्द ने 84 पाहुड़ों (प्राभृतों, प्रकरण-ग्रन्थों) तथा आचार्य पुष्पदन्त भूतवली द्वारा रचित षट्खण्डागम आर्ष ग्रन्थ की परिकर्म नामकी विशाल टीका की भी रचना की थी। पर आज वह सब ग्रन्थ–राशि उपलब्ध नहीं है। फिर भी उनके जो ग्रन्थ प्राप्त हैं उनसे जैन वाङ्मय ही नहीं, भारतीय वाङ्मय भी समृद्ध एवं दैदीप्यमान है। उनकी इन उपलब्ध कृतियों का यहाँ संक्षेप में परिचय दिया जाता है–

1.प्रवचनसार– इसमें तीन अधिकार है। (1) ज्ञानाधिकार, (2) ज्ञेयाधिकार और (3) चारित्राधिकार। इन अधिकारों में विषय के वर्णन का अवगम उनके नामों से ही ज्ञात हो जाता है। अर्थात् पहले अधिकार में ज्ञान का, दूसरों में ज्ञेय का और तीसरे में चारित्र (साधु–चारित्र) का प्रतिपादन है। इस एक ग्रन्थ के अध्ययन से जैन तत्वज्ञान अच्छी तरह अवगत हो जाता है। इस पर दो व्याख्यायें उपलब्ध है-एक आचार्य अमृतचन्द्र की है और दूसरी आचार्य जयसेन की।

2.पंचास्तिकाय– इसमें दो श्रुतस्कन्ध अधिकार है–(1) षड्द्रव्य– पंचास्तिकाय, और (2) नवपदार्थ। इनमें विषय का वर्णन उनके नामों से स्पष्ट है। इस पर भी उक्त दोनों आचार्यो की संस्कृत में टीकाएँ हैं और दोनों मूलको स्पष्ट करती है।

3.समयसार– इसमें दस अधिकार हैं 1. जीवाजीवाधिकार, 2. कर्त्ताकर्माधिकार, 3. पुण्यपापाधिकार, 4. आस्रवाधिकार 5. संवराधिकार, 6. निर्जराधिकार, 7. बन्धाधिकार, 8. दीक्षाधिकार 9. सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार, 10. स्याद्वादाधिकार।

इन अधिकारों के नाम से उनके प्रतिपाद्य विषयों का ज्ञान हो जाता है।

4. नियमसार **5. अष्ट पाहुड**

6. बारस अणुवेक्खा **7. दस भक्ति-**

इन रचनाओं के सिवाय कुछ विद्वान् 'रयणसार' को भी कुन्दकुन्द की रचना बतलाते है।

कुन्दकुन्द की उपलब्ध सभी रचनाएँ तात्विक चिन्तन से ओतप्रोत है। समयसार और नियमसार में जो शुद्ध आत्मा का जैसा और जिस प्रकार का विशद् और विस्तृत विवेचन है वैसा और उस प्रकार का वह अन्यत्र अलभ्य है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इन तीन भेदों का (मोक्षपाहुड गाथा 4-5) कथन उनसे पहले किसी अन्य में उपलब्ध नहीं है। सम्यग्दर्शन के आठ अंगों का निरूपण (स.सा. 229-236), अणुमात्र राग रखने वाला सर्वशास्त्रज्ञ भी स्वसमय का ज्ञाता नहीं (पंचा.167), जीवकों सर्वथा कर्मबद्ध अथवा सर्वथा कर्म-अबद्ध बतलाना नयपक्ष (एकान्तवाद) है और दोनों का ग्रहण न करना समयसार है (स.सा. 141-143) तीर्थंकर भी वस्त्रधारी हो तो वह सिद्ध नहीं हो सकता (द. पा. 23) आदि तात्विक विवेचन कुन्दकुन्द की अनुपम देन है। कुन्दकुन्द महान् व्यक्तित्व- सम्पन्न व्यक्ति थे। अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावों में वे पवित्र थे। उनका व्यक्तित्व शान्त, भव्य उदात्त एवं तेजस्वी था। अपना परिचय देते हुए वे कहते हैं-

एगो में सासदो अप्पा णाण-दंसण-लक्खणो।
सेसा में बाहिरा भावा सव्वे संजोग- लक्खणा ॥

नियमसार, गाथा,102 भावपाहुड़ गा. 59

आचार्य कुन्दकुन्द आगम-परम्परा के संवाहक आचार्य थे। उन्होंने जिन सिद्धान्त और अनेकान्त दर्शन के सम्बन्ध में वही कहा है जो आगम-परम्परा में प्रचलित था। उन्होंने अपनी ओर से कुछ भी नहीं कहा। वे विनम्र भाव से समययार (गाथा- 5) में स्पष्ट कहते हैं कि मैं उस एकत्व विभक्त आत्म-स्वरूप को अपनी आत्मा के निज वैभव में दर्शाता हूँ। यदि मैं उस शुद्धता का वर्णन बतला

सकूँ तो उसे स्वीकार कर लेना और यदि उसमें कहीं चूक जाऊँ तो विपरीत अभिप्राय छल ग्रहण न कर लेना। आचार्य कुन्दकुन्द तात्विक विवेचन में अपनी मौलिकता रखते हैं। उनके द्वारा किया शुद्धात्मा का विशद विवेचन अन्यत्र दुर्लभ है। आत्मा के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परम्परा इन तीनों भेदों तथा उनके स्वरूप का प्रतिपादन भी अद्वितीय है।

आचार्य कुन्दकुन्द की रचनाओं में लोक-कल्याण की भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। रचना में प्रवृत्त होने का एक मात्र कारण जीव- मात्र की भलाई करना रहा है। वे कहते हैं कि जितने वचनपथ हैं, उतने नयवाद है। और जितने नयवाद हैं उतने मत है। सभी मत और सम्प्रदाय मानव के कल्याण के लिए होने चाहिए। मानव श्रेष्ठ हैं वह कितनी मत एवं सम्प्रदाय के पीछे नहीं है। इसलिए किसी भी मत और धर्म के पालन के लिए मनुष्य को रोक-टोक नहीं होना चाहिए। मानव अपने गुणों के कारण संसार के सब प्राणियों में श्रेष्ठ है। शरीर वन्दन योग्य नहीं होता, कुल और जाति भी वन्दनीय नहीं होते। गुणहीन श्रमण या श्रावक की कोई वन्दना नहीं करता (दर्शनपाहुड गाथा 27)। अतः मानवीय गुणों का धर्म-साधना के द्वारा विकास करने की प्रेरणा आचार्य कुन्दकुन्द प्रदान करते है।

वस्तुतः आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने वाङ्मय द्वारा मानव मात्र के हित का मार्ग प्रशस्त किया है। उनके उपदेश मानवीय गुणों के विकास का ही संदेश देते हैं। लोक-कल्याण की भावना उनकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। **बोधपाहुड** में धर्म की परिभाषा देते हुए उन्होंने कहा है **धम्मो दया विसुद्धो**(गा. 25) अर्थात् धर्म वही है जो दया या अनुकंपा से युक्त हो। उनका मानना था कि धर्म में सच्ची श्रद्धा मनुष्य को पापरहित, दृढ़ एवं मानवीय गुणों से युक्त बनाती है। आचार्य कुन्दकुन्द आगम परम्परा के संवाहक आचार्य के साथ ही एक ऐसे क्रान्तिकारी सन्त थे, जिन्होंने अनेकान्त शैली अपनाकर दर्शन एवं आचार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये। उनकी दृष्टि सहिष्णु व उदार थी। अन्य धर्मों के प्रति भी उनके मन में आदर एवं सम्मान था। उनका कहना था कि सभी सम्प्रदाय एवं मत मानव के कल्याण के लिए होने चाहिये। अतः किसी भी धर्म या मत के पालन में मनुष्य को रोक-टोक नहीं होनी चाहिए। आचार्य

कुन्दकुन्द की रचनाएँ उनके बहुआयामी व्यक्तित्व की द्योतक हैं। मानव के आध्यात्मिक विकास हेतु उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनकी सभी रचनाएँ शौरसेनी प्राकृत में हैं। कुन्दकुन्द के शौरसेनी प्राकृत साहित्य में शौरसेनी प्राकृत के स्वरूप को जानने की महत्त्वपूर्ण सामग्री है।

91. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ

श्री देवकुमार सिंह कासलीवाल द्वारा तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री मोतीलाल वोरा की उपस्थिति में दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम ट्रस्ट, इन्दौर के अन्तर्गत अक्टूबर 1987 में कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की स्थापना की गई। प्रारंभ से ही संस्था का संचालन का महत्त्वपूर्ण प्रभार मानद् सचिव के रूप में डॉ. अनुपम जैन देख रहे हैं। विगत 24 वर्षों में इस संस्थान द्वारा उल्लेखनीय प्रगति दर्ज की गई है, जो विशिष्ट केन्द्र का दर्जा प्रदान करती है। कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ की स्थापना मूलतः शोध संस्थान के रूप में ही की गई है। इसके अन्तर्गत आधारभूत सुविधाओं के विकास की श्रृंखला में संदर्भ ग्रंथालय (पुस्तकालय) का विकास, त्रैमासिक शोध पत्रिका, **अर्हत् वचन** के प्रकाशन के साथ शोध गतिविधियों के विकास के क्रम में जैनशास्त्र भंडारों के सूचीकरण हेतु सूचीकरण परियोजना का क्रियान्वयन, व्याख्यानमालाओं का आयोजन, श्रेष्ठ शोध आलेखों के लेखन को प्रोत्साहित करने हेतु अर्हत्वचन पुरस्कार योजना एवं जैन विद्याओं के क्षेत्र में मौलिक लेखन को प्रोत्साहित करने हेतु कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ को शोध केन्द्रों के रूप में मान्यता प्रदान करायी गई है।

92. कुन्दकुन्द भारती जैन-शोध संस्थान

आचार्य श्री विद्यानन्द जी मुनिराज की पावन प्रेरणा से सन् 1974 में स्थापित, तथा राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान (भारत सरकार) नई दिल्ली तथा कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय द्वारा क्रमशः मान्यता प्राप्त श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान नई दिल्ली ने प्राकृत भाषा एवं जैन साहित्य के प्रकाश तथा प्रचार-प्रसार में पिछले लगभग तीन दशकों में अभूतपूर्व कार्य किया है। संस्थान ने सन् 1995 से श्रुतपंचमी पर्व को प्राकृत भाषा दिवस के रूप में मनाये जाने का भारत व्यापी आन्दोलन किया तथा उसके उत्साहवर्धक परिणाम भी सम्मुख आये हैं। कुन्दकुन्द भारती ने सर्वप्रथम अनुभव किया कि भारत सरकार ने मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं

की जननी प्राकृतभाषा की दुखद उपेक्षा है, अतः उसने उसके समाधान हेतु निम्न प्रकार सराहनीय प्रयत्न किये–

1. अखिल भारतीय शौरसेनी प्राकृत संसद की स्थापना,

2. आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति (वार्षिक) व्याख्यानमाला का आयोजन

3. प्राकृत–शिक्षण 4. प्रकाशन 5. प्राकृतविद्या पत्रिका

6. पुरस्कार 7. प्राकृत दिवस एवं प्राकृत संगोष्ठियाँ

93. कुमारवालचरियं (द्व्याश्रयकाव्य)

विशुद्ध आचरण करने वाले महापुरुषों एवं न्यायपूर्ण जीवन जीने वाले राजाओं की जीवनियाँ जैन साहित्य में धर्मकथानुयोग के अन्तर्गत कई ग्रन्थों में लिखी गयी हैं। ऐसे ग्रन्थों को ऐतिहासिक काव्य भी कहा जा सकता है, यद्यपि उनमें काव्यतत्व अधिक एवं इतिहास तत्व कम प्राप्त होता है। आचार्य हेमचन्द्रकृत द्व्याश्रयकाव्य इसी कोटि की रचना है। इसमें काव्य, इतिहास, जीवनी एवं व्याकरण प्रयोग इन सबका मिश्रण है।

कुमारवालचरियं (द्व्याश्रयकाव्य) के रचयिता 12 वीं शताब्दी के वैयाकरण आचार्य हेमचन्द्र हैं। इस काव्य में आचार्य ने राजा कुमारपाल के चरित वर्णन के माध्यम से प्राकृत व्याकरण के नियमों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। द्व्याश्रयकाव्य होने के कारण इसमें व्याकरण के नियमों के साथ–साथ काव्य–तत्त्व भी प्रचुरता से विद्यमान हैं। यह महाकाव्य दो विभागों में है। प्रथम विभाग के 20 सर्गों में सिद्धहेमशब्दानुशासन के प्रारम्भिक सात अध्यायों में वर्णित संस्कृत व्याकरण के नियमों को समझाया गया है। दूसरे विभाग में आठ सर्ग हैं, जिनमें आठवें अध्याय में वर्णित प्राकृत व्याकरण के नियमों को समझाया गया है। दूसरे विभाग के प्रथम छः सर्गों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम समझाये गये हैं तथा शेष दो सर्गों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका–पैशाची और अपभ्रंश भाषा के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। इस महाकाव्य की कथावस्तु अत्यंत लघु है। राजा कुमारपाल के एक दिन की घटनाओं को विभिन्न अलंकृत वर्णनों द्वारा प्रस्तुत

किया गया है। नायक के समग्र जीवन का वर्णन तथा अवान्तर कथाओं के अभाव के कारण कथानक में रोचकता नहीं है। कथावस्तु अत्यन्त शिथिल है। उसमें जीवन का उतार-चढ़ाव वर्णित नहीं है। बीच-बीच में व्याकरण के उदाहरणों को समाविष्ट कर देने के कारण काव्य में कृत्रिमता आ गई है। किन्तु सजीव वस्तु-वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के मनोरम चित्रण एवं अलंकारों के उत्कृष्ट विन्यास के कारण यह उच्चकोटि का काव्य माना गया है। अणहिल नगर के वर्णन में कवि की यह मौलिक उपमा दृष्टव्य है -

जस्सिं सकलंकं वि हु रयणी-रमणं कुणंति अकलंकं।
संखधर-संख-भंगोज्जलाओ भवणंसु-भंगीओ॥ ... (गा. 1.16)

अर्थात् - जिस नगर में शंख, प्रवाल, मोती, रत्न आदि से ज्योतिर्मय भवनों की उज्जवल किरणें कलंकित चन्द्रमा को भी निष्कलंक बना देती है।

आचार्य हेमचन्द्र ने द्वयाश्रयकाव्य के द्वारा दोहरे उद्देश्य की पूर्ति की है। एक ओर चौलुक्यवंशी राजाओं के जीवन चरित का वर्णन हो जाता है एवं दूसरी ओर संस्कृत-प्राकृत के शब्दों को व्याकरण के उदाहरण के रूप में प्रस्तुत कर दिया जाता है। अतः काव्य का द्वयाश्रय विशेषण सार्थक हो जाता है।

जैनाचार्यों में आचार्य हेमचन्द्र बहुमुखी प्रतिभा के धनी कवि हैं। उनका जन्म गुजरात के धुन्धका नाम गांव में वि. स. 1145 (सन् 1088) की कार्तिक पूर्णिमा को हुआ था। हेमचन्द्र के पिता चांगदेव/चाचिगदेव शैवधर्म को मानने वाले वणिक् थे। उनकी पत्नी का नाम पाहिनी था। हेमचन्द्र का बचपन का नाम चांडदेव था। चांडग्देव बचपन से ही प्रतिभासम्पन्न एवं होनहार बालक था। उसकी विलक्षण प्रतिभा एवं शुभ लक्षणों को देखकर आचार्य देवचन्द्रसूरि ने माता पाहिनी से चांगदेव को मांग लिया एवं उसे अपना शिष्य बना लिया। आठ वर्ष की अवस्था में चांगदेव की दीक्षा सम्पन्नहुई। दीक्षा के उपरान्त उसका नाम सोमचन्द्र रखा गया। सोमचन्द्र ने अपने गुरु से तर्क, व्याकरण, काव्य दर्शन, आगम आदि अनेक ग्रन्थों का गहन, अध्ययन किया। उनकी असाधारण प्रतिभा और चारित्र के कारण सोमचन्द्र को 21 वर्ष को अवस्था में वि.स. 1166 सूरिपद प्रदान किया गया। तब सोमचन्द्र का हेमचन्द्रसूरि रख दिया गया।

हेमचन्द्रसूरि का गुजरात के राज्य परिवार से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। उनके पाण्डित्य से प्रभावित होकर गुर्जरेश्वर जयसिंह सिद्धराज ने उन्हें व्याकरण ग्रन्थ लिखने की प्रेरणा दी थी। हेमचन्द्रसूरि ने अपनी अनन्य प्रतिभा का प्रयोग करते हुए जो संस्कृत और प्राकृत भाषा का प्रसिद्ध व्याकरण लिखा उसका नाम सिद्धहेमव्याकरण रखा, जिससे सिद्धराज का नाम भी अमर हो गया। हेमचन्द्र का कुमारपाल के साथ भी घनिष्ट संबंध था। कुमारपाल का राज्याभिषेक वि.स.1194 में हुआ था किन्तु इस राज्यप्राप्ति की भविष्यवाणी हेमचन्द्र ने सात वर्ष पहले ही कर दी थी। कुमारपाल ने हेमचन्द्र से बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त की थी।

कुमारपाल चरित नामक यह काव्य यद्यपि चरित नामान्त है, किन्तु इसमें नायक कुमारपाल के चरित का विश्लेषण करने के लिए कवि के पास विस्तृत कथावस्तु नहीं है। कथावस्तु का आयाम इतना छोटा है कि चरितकाव्य की विशेषताएँ इसमें दी नहीं जा सकी हैं। इस ग्रन्थ को महाकाव्य कहा जाता है। काव्यात्मक दृष्टि से इस रचना में महाकाव्य के लक्षण विद्यमान हैं। किन्तु कवि के व्याकरणात्मक उद्देश्य की प्रधानता होने के कारण ग्रन्थ के काव्य बीज अधिक प्रस्फुटित नहीं हो सके हैं। फिर भी कवि ने इस ग्रन्थ में सुन्दर, मनोहारी वर्णनों की योजना कर अलंकारों का सुन्दर प्रयोग है। ग्रन्थ में उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, दीपक, अतिश्योक्ति, रूपक, भ्रान्तिमान आदि अलंकारों का प्रयोग काव्य को सुन्दर बना देता है। जिन मंदिर में जिनस्तुति करते हुए कुमारपाल कहता है कि हे भगवन्! जैसे खाई का जल अनेक कमलों से सुशोभित होता है, जैसे जंगल कदम्ब वृक्षों में मनोहारी लगता है उसी प्रकार से हे जगत् के शोभारूप! कदम्ब पुष्पों की माला से सुशोभित आपके चरणों से यह सम्पूर्ण पृथ्वी सुशोभित हो रही है –

फलिहा–जलं वहुव्ठम्बुजेहि जह–जह वणं च नीमेहि।
जग-सिरि –नीवावेडय सहइ मही तह तह पएहिं ॥ 2.54 ॥

कुमारपालचरियं का काव्यात्मक महत्त्व ही नहीं हैं अपितु यह प्राकृत भाषा एवं व्याकरण की दृष्टि से भी अद्भुत रचना है। संस्कृत साहित्य में जो भट्टिकाव्य का महत्त्व है, प्राकृत सहित्य में वही स्थान कुमारपालचरियं ने प्राप्त

किया है। इसमें प्राकृत के इतने शब्द रूपों का प्रयोग हुआ है कि यह ग्रन्थ प्राकृत के शब्दकशेष जैसा है। इस ग्रन्थ में प्रथम सर्ग से लेकर सांतवे सर्ग की 93 वीं गाथा तक महाराष्ट्री प्राकृत के नियमों के अनुसार संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, कृदन्त आदि शब्दों के उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं जैसे-

तइया वणिब सुसाहिं निव सुण्हा -वल्लहाओ ता दिट्ठा।
पाहाण-पुब्ठिआहि व पासाण व थम्भ -लग्गाहि ॥ 2.68 ॥

94. कुमारपालप्रतिबोध (कुमारवालपडिबोहो)

सोमप्रभसूरि ने वि. सं. 1241 में महाराष्ट्री प्राकृत में कुमारपालप्रतिबोध ग्रन्थ की रचना की थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच प्रस्ताव हैं। पाँचवां प्रस्ताव अपभ्रंश में है। इस ग्रन्थ में गुजरात के राजा कुमारपाल का चरित्र वर्णित है। राजा कुमारपाल आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों से प्रभावित होकर जैन धर्म को अंगीकार करते हैं। उनको प्रदान की गई शिक्षाओं के दृष्टांतों के रूप में इस ग्रन्थ में कई कथानक गुम्फित हुए हैं। श्रावक के 12 व्रतों एवं उनके अतिचारों के रहस्यों को अवगत कराने के लिए विभिन्न लघु कथानक आए हैं। तीसरे प्रस्ताव में शीलव्रत का पालन करने वाली शीलवती की कथा उपदेशप्रद एवं मनोरंजक है। द्यूतक्रीड़ा के दोष को दिखलाने के लिए नल की कथा आई है। इन लघु कथाओं के माध्यम से व्यक्ति के नैतिक उत्थान एवं चारित्रिक विकास का प्रबल प्रयास किया गया है। उपदेश तत्त्व एवं धार्मिक वातावरण की प्रधानता होते हुए भी काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्वितीय है। दमयंती के स्वयंवर प्रसंग की यह गाथा दृष्टव्य है, जहाँ रूपक एवं अनुप्रास अलंकार का माधुर्य एक साथ प्रस्फुटित हुआ है -

कलयंठकंठि! कंठे कलिंगवइणो जयस्स खिव मालं।
करवालराहुणा जस्स कवलिया वेरि-जस-ससिणो ॥... (प्रथम प्रस्ताव)

अर्थात् - हे कोयलकंठी! कलिंगपति जय के गले में माला डाल, जिसकी तलवार रूपी राहू के द्वारा वेरी रूपी चन्द्रमा ग्रसित किया गया है।

कुमारपालप्रतिबोध को जिनधर्मप्रतिबोध भी कहा जाता है। सोमप्रभ क जन्म प्राग्वाट कुल के वैश्य परिवार में हुआ था। संस्कृत और प्राकृत के ये प्रकांड

पंडित थे। आचार्य हेमचन्द्र के उपदेशों से प्रभावित हो गुजरात के चालुक्य राजा कुमारपाल ने जैनधर्म को अंगीकार किया था, उनके प्रबोध के लिये इस कृति की रचना की गई है। राजा कुमारपाल को मृत्यु के ग्यारह वर्ष पश्चात् इस ग्रंथ की रचना हुई थी। यह ग्रंथ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है, बीच-बीच में अपभ्रंश और संस्कृत का भी उपयोग किया गया है। अनेकानेक सूक्तियों की यहाँ भरमार है। इसमें पाँच प्रस्ताव हैं, पाँचवा अप्रस्ताव अपभ्रंश में है। सब मिलकर इसमें 54 कहानियाँ हैं जो गद्यपद्य में लिखी गई हैं, अधिकांश कहानियाँ प्राचीन जैन शास्त्रों से ली गई है। ग्रन्थकार की अन्य रचनाओं में सुमइनाहचरिय (सुमतिनाथचरित) सिन्दूरप्रकर (अथवा सूक्तिमुक्तावलि, शतार्थी, काव्य और श्रृंगार वैराग्यतरंगिणी आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

इस ग्रन्थ में पहले प्रस्ताव में अहिंसा, द्यूत, परदारगमन, वैश्यागमन, मद्यपान और परधन हरणसंबंधी मूलदेव अमरसिंह, दामन्नक, अभयसिंह और कुन्द की कथायें आती हैं। दूसरे प्रस्ताव में देवपूजा के समर्थन में देवपाल सोम भम, पद्मोत्तर और दीपशिखा की कथायें हैं। तीसरे प्रस्ताव में चंदनबाला, धन्य, कुरुचन्द्र, कृतपुण्य और भरत चक्रवर्ती की कथायें हैं। शीलव्रत पालन में शीलवती की कथा बड़ी मनोरंजक है। चौथे प्रस्ताव मे अहिंसा, सत्य आदि बारह व्रतों की बारह कथायें लिखी गई हैं। मकरध्वज, पुरंदर और जयद्रथ की कथायें संस्कृत में हैं। जयद्रकथा में कुष्माण्डी देवी का उल्लेख है। पाँचवा प्रस्ताव अपभ्रंश में हैं। इसका अध्ययन एल्सडोर्फ ने किया है। कवि सिद्धपाल द्वारा कथित जीवमन करणसंलापकथा धार्मिक कथाबद्ध रूपक काव्य है जिसमें जीव, मन और इन्द्रियों में वार्तालाप होता है। देह नामक नगरी लावश्य लक्ष्मी का निवास स्थान है। नगरी के चारों ओर आयुकर्म का प्रकार हैं, जिसमें सुख-दुख, क्षुधा, तृषा, हर्ष, शोक आदि अनेक प्रकार की नालियाँ अनेक मार्ग हैं। इस नगरी में आत्मा नामका राजा अपनी बुद्धि नामकी महादेवी के साथ राज्य करता है। मन उसका प्रधान मंत्री है, पाँच इन्द्रियाँ पाँच प्रधान पुरूष हैं। आत्मा मन और इन्द्रियों में वाद-विवाद छिड़ जाने पर मन ने अज्ञान को दु:ख का मूल कारण बताया। आत्मा ने मन को दोषी ठहराया और मन ने इन्द्रियों पर दोषारोपण किया।

यह प्रधानतः प्राकृत में लिखी गद्य-पद्यमयी रचना है। इसमें 54 कहानियों का संग्रह है। ग्रंथकार ने दिखलाया है कि इन कहानियों के द्वारा हेमचन्द्रसूरि ने कुमारपाल को जैनधर्म के सिद्धान्त और नियम समझाये थे। इसकी अधिकांश कहानियाँ प्राचीन जैनशास्त्र से ली गई हैं। इसमें श्रावक के 12 व्रतों के महत्त्व सूचन करने के लिए तथा पाँच-पाँच अतिचारों के दुष्परिणामों को सूचित करने के लिये कहानियाँ दी गई हैं। अहिंसाव्रत के महत्त्व के लिए अमरसिंह, दामन्नक आदि, देवपूजा का माहात्म्य बताने के लिए देवापाल पद्मोत्तर आदि की कथा, सुपात्रदान के लिए चन्दनबाला, धन्य तथा कृतपुण्यकथा, शीलव्रत के महत्त्व के लिए शीलवती, मृगावती आदि की कथा, द्यूतक्रीड़ा का दोष दिखलाने के लिए नलकथा, परस्त्री-सेवन का दोष बतलाने के लिए द्वारिकादहन तथा यादवकथा आदि आई हैं। अन्त में विक्रमादित्य, स्थूलभद्र, दषार्णभद्र कथाएँ भी दी गई हैं।

95. कुम्मापुत्तचरियं

कूर्मापुत्रचरित की गणना प्राकृत के चरितकाव्य तथा खण्डकाव्य दोनों में ही की जाती है। कवि अनंतहंस ने लगभग 16वीं शताब्दी में इस ग्रन्थ की रचना की थी। इसमें 198 गाथाएँ हैं, जिनमें राजा महेन्द्रसिंह और उनकी रानी कूर्मा के पुत्र धर्मदेव के जीवन की कथा वर्णित है। कथा के प्रारम्भ में कूर्मापुत्र के पूर्वजन्म का वृत्तांत वर्णित है। मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी गुम्फित हुई हैं। अवान्तर कथाएँ सरस एवं रोचक हैं। इन छोटी-छोटी कथाओं के माध्यम से तप, दान, दया, शील, भावशुद्धि आदि शुष्क उपदेशों को सरस बनाकर प्रस्तुत किया गया। दान, तप, शील एवं भाव के भेदों से धर्म को चार प्रकार का बताया है। भाव को सर्वश्रेष्ठ तथा मोक्ष प्रदान करने वाला कहा है। यथा-

दाणतवसीलभावणभेएहि चउव्विहो हवइ धम्मो।
सव्वेसु तेसु भावो महप्पभावो मुणेयव्वो॥ ... (गा. 5)

इन प्रमुख खंडकाव्यों के अतिरिक्त प्राकृत में मेघदूत के अनुकरण पर लिखा गया भृंगसंदेश भी प्राप्त होता है, जिसके कवि अज्ञात हैं।

कुर्मापुत्रचरित के कर्ता जिनमाणिक्य अथवा उनके शिष्य अनन्तहंस माने

जाते हैं। ग्रन्थ की रचना का समय सन् 1513 है। सम्भवत: इसकी रचना उत्तर गुजरात में हुई है। कुम्मापुत्तचरियं की भाषा सरल है, अलंकार आदि का प्रयोग यहाँ नहीं है। व्याकरण के नियमों का ध्यान रखा गया है। कुम्मापुत्त की कथा में भावशुद्धि का वर्णन है। दान, शील, रूप आदि की महिमा बताई गई है। अन्त में गृहस्थावस्था में रहते हुए भी कुम्मापुत्त को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। प्रसंगवश मनुष्यजन्म की दुर्लभता, अहिंसा की मुख्यता, कर्मो का क्षय, प्रमाद का त्याग आदि विषयों का यहाँ प्ररूपण किया गया है।

ऋषिभाषित सूत्र में सप्तम अध्ययन कुम्मापुत्त प्रत्येकबुद्ध से सम्बन्धित दिया गया है। इसके चरित्र पर भी दो काव्य उपलब्ध हुए हैं। पहला काव्य प्राकृत की 207 गाथाओं में निर्मित है। कथानक संक्षेप में इस प्रकार है- एक समय भगवान् महावीर ने अपने समवसरण में दान, तप, शील और भावना रूपी चार प्रकार के धर्म का उपदेश देकर कुम्मापुत्त (कूर्मापुत्र) का उदाहरण दिया कि भावशुद्धि के कारण वह गृहवास में भी केवलज्ञानी हो गया था। कुम्मापुत्त राजगृह के राजा महिन्दसिंह और रानी कुम्मा का पुत्र था। उसका असली नाम धर्मदेव था पर उसे कुम्मापुत्त नाम से भी कहते थे। उसने बाल्यावस्था में ही वासनाओं को जीत लिया था और पीछे केवलज्ञान प्राप्त किया। यद्यपि उसे घर में रहते सर्वज्ञता प्राप्त हो गई थी पर माता-पिता को दु:ख न हो, इसलिए उसने दीक्षा नहीं ली। उसे गृहस्थावस्था में केवलज्ञान इसलिए प्राप्त हुआ था कि उसने पूर्व जन्मों में अपने समाधिमरण के क्षणों में भावशुद्धि रखने का अभ्यास किया था।

96. कुवलयमालाकहा

आचार्य हरिभद्रसूरि के शिष्य दाक्षिणात्य उद्द्योतनसूरि ने ई. सन् 779 में जालोर में कुवलयमालाकहा की रचना की है। यह कथा-ग्रन्थ गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया है। अपनी इसी विशिष्ट शैली के कारण कई प्राकृत विद्वान इसे कथा-ग्रन्थ की श्रेणी में न रखकर 'प्राकृत चंपूकाव्य' की श्रेणी में रखते हैं, लेकिन स्वयं ग्रन्थकार उद्द्योतनसूरि ने इसे कथा-ग्रन्थ ही माना है। कुवलयमाला में मुख्य रूप से कुमार कुवलयचन्द एवं राजकुमारी कुवलयमाला की प्रणय कथा वर्णित है। इस कथा-ग्रन्थ में कवि ने अनेक नवीन उद्‌भावनाएँ कर अपनी मौलिक

प्रतिभा का परिचय दिया है। विषय एवं कथा-विस्तार की दृष्टि से कदली के स्तंभ की तरह मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ गुम्फित हुई हैं। मूल कथानक के पात्रों के पूर्वभवों के कथानक को समाहित करते हुए क्रोध, मान, माया, लोभ एवं मोह इन पाँचों अमूर्त्त पात्रों को मूर्त्त पात्रों का रूप देकर उनकी कथावस्तु को मूल कथानक के साथ प्रस्तुत किया है। प्राकृत साहित्य में इस प्रकार की प्रतिकात्मक शैली का प्रयोग करने वाले उद्द्योतनसूरि प्रथम आचार्य थे। सम्पूर्ण कथानक में पूर्वजन्म एवं कर्मफल की सम्बंध शृंखला को विवेचित करते हुए अंत में आत्मशोधन द्वारा मुक्ति प्राप्ति का मार्ग दिखाया गया है। वस्तुतः कुवलयमालाकहा द्वारा असद्वृत्तियों पर सद्वृत्तियों की विजय का संदेश देकर आचार्य ने व्यक्ति के नैतिक आचरण को उठाने का प्रयास किया है। चंडसोम, मानभट्ट, मायादित्य, लोभदेव और मोहदत्त ये पाँचों पात्र अपने-अपने नाम एवं गुण के अनुसार अपनी पराकाष्ठा को लांघते हुए दुष्कत्य, पाप आदि में लिप्त रहते हैं, जिनका फल नरक की यातना भोगने के अलावा कुछ नहीं हो सकता है, लेकिन आचार्य ने मानव जीवन के इस अंधकारमय पहलू को प्रकाशित करने के लिए इन पात्रों के अगले चार जन्मों की कथा का निर्माण किया। अपने अगले भवों में ये पात्र, स्व-निरीक्षण, पश्चाताप एवं आत्मशोधन द्वारा असद्मानसिक-वृत्तियों का परिष्कार कर संयम एवं तप द्वारा उन्हें सद्वृत्तियों में परिवर्तित कर मोक्ष मार्ग पर अग्रसर होते हैं।

जहाँ अपनी मौलिक कथावस्तु के कारण कुवलयमालाकहा प्राकृत कथा-ग्रन्थों में विशिष्ट स्थान रखती है, वहीं इसकी महत्ता अपनी भाषागत समृद्धि के कारण कहीं अधिक है। संस्कृत, प्राकृत , अपभ्रंश, पैशाची, आदि सभी भाषाओं के उद्धरण इसमें मिलते हैं। 18 देशी भाषाओं का इसमें उदाहरण सहित प्रयोग हुआ है। काव्यात्मक सौंदर्य की दृष्टि से भी यह कथाग्रन्थ अद्वितीय है। रस, छंद, अलंकार योजना में कवि सिद्धहस्त हैं। तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के महत्त्वपूर्ण पहलू इसमें उजागर हुए हैं। आठवीं शताब्दी के अभिजात्य वर्ग, शासन व्यवस्था, धार्मिक जगत, आर्थिक-जीवन, वाणिज्य-व्यापार, शिक्षा आदि के यथार्थ चित्र इसमें अंकित हैं।

दाक्षिण्यचिन्ह उद्द्योतनसूरि ने सन् 779 में जावालिपुर (जालोर) में कुवलयमाला को लिखकर समाप्त किया था। यह स्थान जोधपुर के दक्षिण में है, नरहस्ति श्रीवत्सराज यहाँ राज्य करता था। ग्रन्थ के अन्त में दी हुई प्रशस्ति से ग्रन्थकार के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का पता लगता है। उत्तरापथ में चन्द्रभागा नदी के तट पर पव्वइया नामक नगरी थी जहाँ तोरमाण अथवा तोरराय नाम का राजा राज्य करता था। इस राजा के गुरु गुप्तवंशीय आचार्य हरिगुप्त के शिष्य महाकवि देवगुप्त थे। देवगुप्त के शिष्य शिवचन्द्रगणि महत्तर भिल्लमाल के निवासी थे। उनके शिष्य यक्षदत्त थे। इनके णाक, बिंद (वृन्द),मम्मड, दुग्ग, अग्निशर्मा, बडेसर (बटेश्वर) आदि अनेक शिष्य थे जिन्होंनें देवमन्दिर का निर्माण कराकर गुर्जर देश को रमणीय बनाया था। इन शिष्यों में एक का नाम तत्वाचार्य था, ये ही तत्त्वाचार्य कुवलयमाला के कर्त्ता उद्द्योतनसूरि के गुरु थे। उद्द्योतनसूरि को वीरभद्रसूरि ने सिद्धान्त और हरिभद्रसूरि ने युक्तिशास्त्र की शिक्षा दी थी।

कुवलयमाला काव्य शैली में लिखा हुआ प्राकृत कथा साहित्य का एक अनुपम ग्रन्थ है। गद्य-पद्यमिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसादपूर्ण रचना चंपू की शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री के साथ इसमें पैशाची, अपभ्रंश और कहीं संस्कृत का प्रयोग हुआ है जिससे प्रतीत होता है कि उद्द्योतनसूरि ने दूर-दूर तक भ्रमण कर अनेक देशी भाषाओं की जानकारी प्राप्त की थी। मठों में रहनेवाले विद्यार्थियों और बनिज, व्यापार के लिये दूर-दूर तक भ्रमण करने वाले वणिकों की बोलियों का इसमें संग्रह है। प्रेम और शृंगार आदि के वर्णनों से युक्त इस कृति में अलंकारों का सुंदर प्रयोग हुआ है। बीच-बीच में सुभाषित और मार्मिक प्रश्नोत्तर प्रहेलिका आदि दिखाई दे जाते हैं। ग्रन्थ के आद्योपान्त पढ़ने से लेखक के विशाल अध्ययन और सूक्ष्म अन्वेक्षण का पता लगता है। सांस्कृतिक सामग्री ये यह रचना पूर्ण है जो भारतीय सांस्कृतिक इतिहास लेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। ग्रन्थ की रचना शैली पर बाण की कादंबरी, त्रिविक्रम की दमयंतीकथा और हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा आदि का प्रभाव परिलक्षित होता है। प्रौढ़ शैली में लिखे हुए इसके वर्णनों की तुलना संघदासगणिवाचककृत वसुदेवहिंडि से की जा सकती है।

लेखक ने पादलिप्त (पालित्तय और उनकी तरंगवती) सातवाहन, षट्पर्णक, गुणाढय (और उनकी वड्डुकहा, 3, 23) व्यास, वाल्मीकी, बाण (असौर उनकी कांदबरी), विमल रविषेण, जडिल रायरिसि देवगुप्त, रायरिसि प्रभंजन और हरिभद्र, तथा सुलोचना नामक धर्मकथा का उल्लेख किया है। क्रोध मान, माया, लोभ और मोह आदि का परिणाम दिखाने के लिये यहाँ अनेक सरस कथाओं का संग्रह किया गया है। महाराष्ट्री और देशीभाषा के वर्णनों से निबद्ध प्राकृत भाषां में रचित यह रचना सकलकथा ही है जिसमे तापस, जिन और सार्थवाहों को प्रस्तुत किया गया है। कथासुंदरी की नववधू के साथ तुलना करते हुए उद्द्योतनसूरि ने लिखा है-

सालंकारा सुहया ललियपाया मउय-मंजु-संलावा।
सहियाण देइ हरिसं उव्वूढा णववहू चेव॥

अलंकार सहित, सुभग, ललितपदवाली, मृदु और मंजु संलाप से युक्त कथा सुंदरी सहृदयजनों का आनन्द प्रदान करने वाली परिणीत नववधू के समान शोभित होती है।

आठवीं शताब्दी के इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के सांस्कृतिक अध्ययन के लिये आवश्यक विषयों का प्रतिपादन पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है। तक्षशिला का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वहाँ कोई भी ऐसा व्यक्ति न था जो मैले-कुचैले वेश में रहता हो (64, 30)। तक्षशिला से शूर्पारक (नाला सोपारा, जिलाजाणा) जानेवाले सार्थवाह का अत्यन्त सरस वर्णन यहाँ किया गया है। शूर्पारक में देशी व्यापारियों का एक मंडल (देसियावाणियमेली) था जिसकी ओर से देश-देशान्तर से आये हुए व्यापारियों का गंध, तांबूल मालार्पण आदि से सत्कार किया जाता था। ये व्यापारी अपने अपने अनुभव सुनाकर सब का मनोरंजन करते थे। कोई कहता वह घोड़े लेकर कौशल देश गया था, वहाँ के राजा ने घोड़ों के बदले हथिनी के शिशु दिये। कोई उत्तरापथ जाकर सुपारी बेचकर घोड़े खरीद कर लाया था। कोई पूर्व देश में मुक्ता बेचकर चामर खरीद कर लाया था। कोई द्वारका से शंख खरीदकर लाया था। कोई बर्बरकूल में वस्त्र बेचकर वहाँ से हाथीदाँत और मुक्ता लेकर लौटा था। कोई सुवर्णद्वीप (सुमात्रा) में पलाश के

पुष्प बेचकर वहाँ से सोना लेकर आया था। कोई चीन (इंडो-चाइना) और महाचीन (चीन) में भैंस और मृगनाभि लेकर गया था और चीनांशुक लेकर लौटा था। कोई पुरुषों को लेकर स्त्रीराज्य (केरला, दक्षिण भारत) गया था और बदले में सोना लेकर लौटा था। कोई नीम के पत्ते लेकर रत्नद्वीप गया था और वहाँ से रत्नराशि लेकर लौटा था (65, 22-66, 4)

इस ग्रन्थ में खन्यविद्या का उल्लेख है। इसमें गड़े हुए खजाने का पता लगाया जाता था जमीन खोदने से पहले निम्नलिखित मंत्र का पाठ किया जाता था। **णमो इंदस्स, णमो धरणिंदस्स, णमो धणयस्स, णमो धनपालस्स** (104, 31-32) आयुर्वेद (आयु सत्थ) का प्रमाण उद्धत किया गया है (114, 22-28)। राजशुक का उल्लेख है जो अक्षरज्ञान, नाट्य धनुर्विद्या तथा गज, गवय, मृग, कुक्कुट, अश्व, पुरुष और महिला के लक्षणों का जानकार था (123, 24-25)। सामुद्रिकशास्त्र से प्राकृत की गाथायें उद्धृत की गई हैं (129, 8-131, 23)। तीर्थकरों के चिन्हों का उल्लेख है (128, 11) प्रसन्न हुए धरणेन्द्र द्वारा नमि और विनमि को अनेक प्रकार की विद्याओं के प्रदान किये जाने का उल्लेख है। इनमें से कितनी ही विद्यायें वंशकुंज में, कितनी ही चौराहों पर, कितनी ही महाअटवियों में, पर्वतों पर, कापालिक, मातंग, राक्षस, वानर, पुलिंद और शबर आदि का वेश धारण कर सिद्ध की जाती थीं। शबरी महाविद्या सिद्ध करने का विस्तृत वर्णन किया गया है (1321, 33-133, 13-14)

उद्योतनसूरिकृत कुवलयमालाकहा प्राकृत साहित्य में अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इसमें प्रथम बार कथा के भेद प्रभेदों में संकीर्णकथा के स्वरूप का परिचय दिया गया है, जिसका उदाहरण यह कृति स्वयं है। गद्य-पद्य की मिश्रित विधा होने से चम्पूकाव्य के यह निकट है। इसमें गाथा के अतिरिक्त अन्य छंदों का प्रयोग हुआ है, जिससे गलीतक, चित्तक, एवं जम्मेहिका आदि नये छन्द प्रकाश में आये हैं। क्रोध आदि अमूर्त भावों को प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करने से कुवलयमालाकहा को भारतीय रूपात्मक काव्य परम्परा का जनक कहा जा सकता है। इसकी कथावस्तु कर्मफल, पुनर्जन्म एवं मूलवृत्तियों के परिशोधन जैसी सांस्कृतिक विचारधाराओं पर आधृत है। कुवलयमालाकहा के भौगोलिक

विवरण से ज्ञात होता है कि इस समय तक गुर्जरदेश और मरुदेश (मारवाड़) की सीमाएँ निश्चित हो गयी थीं। दक्षिण भारत में व्यापारिक और शैक्षणिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विजयानगरी आधुनिक रत्नगिरि जिले का विजयदुर्ग नामक नगर है। उद्द्योतनसूरि ने 34 जनपदों एवं 40 नगरों के उल्लेख के साथ ग्रामसंस्कृति को उजागर करने के लिए अन्य ग्रामों के साथ चिन्तमणिपल्लि एवं म्लेच्छपल्लि का भी वर्णन किया है। इससे आर्य और अनार्य संस्कृति के निवास-स्थानों की भेदरेखा स्पष्ट होती है। एशिया के 17 प्रमुख देशों के नाम कुवलयमाला में उल्लिखित हैं।

आठवीं शताब्दी के सामाजिक जीवन का यथार्थ चित्र उद्द्योतनसूरि ने प्रस्तुत किया है। श्रोत-स्मार्त वर्ण व्यवस्था उस समय व्यवहार में स्वीकृत नहीं थी। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता होते हुए भी उनकी क्रियाएँ शिथिल हो रही थीं। शूद्र आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने से प्रगति कर रहे थे। क्षत्रियों के लिए जाकुर शब्द प्रयुक्त होने लगा था। जातियों का विभाजन हिन्दू, जैन, ईसाई आदि धर्म के आधार पर न होकर आर्य-अनार्य संस्कृति के आधार पर था। प्रादेशिक जातियों में गुर्जर, सोरट्ठ, मरहट्ठ, आदि अस्तित्व में आ रही थीं। आधुनिक अरोड़ा जाति आरोट्ठ के रूप में प्रचलित थी। विदेशी जाति हूण का क्षत्रिय और शूद्रों में विलय हो रहा था। चावला, खन्ना, आदि जातियों का सम्बन्ध इन्हीं से है। उद्द्योतन ने तज्जिकों के उल्लेख द्वारा अरबों के प्रवेश की सूचना दी है। श्रेष्ठिवर्ग का तत्कालीन राज्यव्यवस्था में भी प्रभाव था। महाराजाधिराज, परमेश्वर आदि उपाधियाँ राजाओं की प्रभुत्ता की द्यौतक थीं। स्वामियों की सेवा के लिए ओलग्गउ शब्द प्रयुक्त होता था, जो सामान्तकालीन जमींदारी प्रथा का प्राचीन रूप था सुरक्षा की दृष्टि से इस समय राजकीय कर्मचारियों एवं अधिकारियों में वृद्धि हो रही थी। नगरमहल्ल, द्रंग, दंडवासिय, व्यावहारिन् आदि उनमें प्रमुख थे।

समाज की यह समृद्धि वाणिज्य एवं व्यापार की प्रगति पर आधृत थी। अच्छे बुरे हर प्रकार के साधन धनोपार्जन के लिए प्रचलित थे। देशान्तर-गमन, सागर सन्तरण एवं साझीदारी व्यापार में दुहरा लाभ प्रदान करती थी। स्थानीय व्यापार में विपणिमार्ग और मण्डियाँ क्रय-विक्रय के प्रमुख केन्द्र थे। दक्षिण में विजयपुरी

उत्तर में वाराणसी एवं पश्चिम में सोपारक और प्रतिष्ठान देशी-विदेशी व्यापार के मेरुदण्ड थे। सोपारक में 18 देशों के व्यापारियों का एकत्र होना एवं **देसिय बणिय मेलीए** (व्यापारी मण्डल) का सक्रिय होना इस बात का प्रमाण है। साहसी सार्थवाह पुत्रों ने जल-थल मार्गों द्वारा न केवल भारत में अपितु पड़ोसी देशों से भी सम्पर्क साध रखे थे। तक्षशिला, नालन्दा आदि परम्परागत शिक्षा-केन्द्रों का उल्लेख न कर उद्द्योतन ने अपने युग के वाराणसी और विजयपुर को शिक्षा के प्रधान केन्द्र माना है। विजयपुरी का मठ सम्पूर्ण शैक्षणिक प्रवृत्तियों से युक्त था। देश के विभिन्न भागों के छात्र यहाँ आकर अध्ययन करते थे। उनकी दैनिकचर्या आधुनिक छात्रावासों के समकक्ष थी।

कुवलयमालाकहा को अप्रतिम उपयोगिता उसकी भाषागत समृद्धि के कारण है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश एवं पैशाची के स्वरूप मात्र का परिचय लेखक ने नहीं दिया, अपितु ग्रन्थ में इन सबके उदाहरण भी दिये हैं। उनको जांचने पर ज्ञात होता है कि समाज के प्राय: सभी वर्गों की बातचीत में अपभ्रंश प्रयुक्त होती थी। भाषावैज्ञानिक दृष्टि से 18 देशों (प्रान्तों) की भाषा के नमूने एक स्थान पर पहली बार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत किये गये हैं।

उद्द्योतनसूरि ने ललित कलाओं में ताण्डव एवं लास्य नृत्य तथा नाट्यों का उल्लेख किया है। इन सन्दर्भों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अभिनय एवं वेशभूषा द्वारा पात्रों के चरित्र का यथावत् अनुकरण नाट्यों द्वारा किया जाता था, जो समाज को रसानुभूति कराने में सक्षम होते थे। भित्तिचित्र एवं पटचित्र दोनों के प्रचुर उल्लेख कुवलयमालाकहा में हैं। पटचित्रों द्वारा संसार दर्शन कराया गया है। पटचित्रों की लोकपरम्परा में उद्द्योतन का यह महत्त्वपूर्ण योगदान है। ग्रन्थ के कथात्मक पटचित्र ने पावू जी की पड़ आदि को आधार प्रदान किया है। उद्द्योतन द्वारा प्रयुक्त चित्रकला के परिभाषिक शब्दों में भाव, ठाणय, माण, दट्ठुं, वत्तिणी, वण्ण विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। भारतीय स्थापत्य के क्षेत्र में उद्द्योतन ने प्रतोली को रक्षामुख तथा अश्व क्रीड़ा के केन्द्र को बाह्याली कहा है। बाह्याली के वर्णन से ज्ञात होता है वह आधुनिक पोलो खेल के मैदान जैसा था। आठवीं सदी के धार्मिक जगत् का वैविध्यपूर्ण चित्र उद्द्योतनसूरि ने कुवलयमाला में अंकित

किया है। शैवधर्म के कापालिक, महाभैरव, आत्मवधिक गुग्गलधारक, कारुणिक आदि सम्प्रदाय, अर्धनारीश्वर, महाकाल, शशिशेखर रूप शिव तथा रुद्र, स्कन्द, गजेन्द्र, विनायक आदि इस समय प्रभावशाली थे। कात्यायनी और कोट्टजा देवियाँ शैवों द्वारा पूजित थी। वैदिकधर्म में कर्मकाण्डी, वानप्रस्थों, तापसों की क्रियाएँ प्रचलित थीं। भारतीय दर्शनों में बौद्धदर्शन की हीनयान शाखा का उद्द्योतन ने उल्लेख किया हैं। लोकायतदर्शन के प्रसंग में आकाश तत्व का उल्लेख पंचभूत के प्रभाव का परिणाम है। जैनधर्म को अनेकान्तदर्शन कहा जाता था। सांख्यकारिका का पठन-पाठन सांख्यदर्शन के अन्तर्गत मठों में होता था। त्रिदण्डी, योगी एवं चरक इस दर्शन का प्रचार कर रहे थे। दूसरी ओर कुछ सांख्य-आलोचक भी थे। कुष्ट-निवारण के लिए मूलस्थान भट्टारक के उल्लेखों से तत्कालीन सूर्योपासना का स्वरूप स्पष्ट होता है। जैनधर्म के प्रमुख सिद्धान्तों का दिग्दर्शन ग्रन्थकार ने अनेक प्रसंगों में प्रस्तुत किया है, जो उनका प्रतिपाद्य था।

कुवलयमालाकहा ग्रन्थ एक ओर जहाँ उद्योतनसूरि के अगाध पाण्डित्य और धर्म विशद ज्ञान का परिचायक है, वहाँ दूसरी ओर प्राचीन भारतीय समाज, धर्म और कलाओं का दिग्दर्शक भी। पूर्वमध्यकालीन भारत के सांस्कृतिक इतिहास के निर्माण में इस ग्रन्थ के प्रामाणिक तथ्य सुदृढ़ आधार सिद्ध होंगे। साहित्य वृत्तिपरिष्कार के द्वारा नैतिक मार्ग में प्रवृत्त करता है। कुवलयमालाकहा को धार्मिक एवं सदाचारपरक दृष्टि साहित्य के इस उद्देश्य को भी चरितार्थ करती है।

97. कोट्याचार्य

कोट्याचार्य ने आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के अपूर्ण स्पोपज्ञ भाष्य को पूर्ण किया और विशेषावश्यकभाष्य पर एक नवीन वृत्ति भी लिखी है पर उन्होंने वृत्ति में आचार्य हरिभद्र का कहीं पर भी उल्लेख नहीं किया है। इससे यह ज्ञात होता है कि ये हरिभद्र के समकालीन या पूर्ववर्त्ती होंगे। कोट्याचार्य ने जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का श्रद्धास्निग्ध स्मरण किया है। मलधारी आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी विशेषावष्यकभाष्यवृत्ति में कोट्याचार्य का प्राचीन टीकाकार के रूप में उल्लेख किया है। प्रभावकचरितकार ने आचार्य शीलांक और

कोट्याचार्य को एक माना है परन्तु शीलांक और कोट्याचार्य दोनों का समय एक नहीं है। कोट्याचार्य का समय विक्रम की आठवीं शती है तो शीलांक का समय विक्रम की नौवीं-दसवीं शती है अतः वे दोनों पृथक-पृथक हैं। विवरण में जो कथायें प्राप्त की हैं वे प्राकृत भाषा में हैं।

98. कोऊहल

लीलावई महाकाव्य के रचयिता कोऊहल कवि हैं। इन्होंने अपने वंश का परिचय देते हुए लिखा है कि इनके पितामह का नाम बहुलादित्य था, जो बहुत बड़े विद्वान् और यज्ञयागादि अनुष्ठानों के विशेषज्ञ थे। ये इतना अधिक यज्ञानुष्ठान करते थे कि चन्द्रमा भी यज्ञ धूम से काला हो गया था। इनका पुत्र भूषणभट्ट हुआ, वह भी बहुत बड़ा विद्वान था। इनका पुत्र असारमति कोतूहल कवि हुआ। इस ग्रंथ में कवि ने अपने नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, पर जिस क्रम से अपना वंश परिचय दिया है, उससे कोतुहल नाम भी उचित जान पड़ता है। यशस्तिलक और पउमचरिउ (स्वयंभू)काव्य ग्रंथों में कोहुल का उल्लेख मिलता है। अनुमान है कि कोऊहल हरिभद्र के अनन्तर और आनन्दवर्धन से पूर्व हुए हैं। अतः उनका समय 9 वीं शताब्दी का प्रथम पाद है। कवि वैष्णव धर्मानुयायी है।

लीलावईकहा के कर्ता का नाम कौतुहल (कोऊहल) का उल्लेख ग्रन्थ की गाथा 25, 921, 1310 में प्राप्त होता है। टीकाकार ने भी इसी का समर्थन किया है। साथ ही कौतुहल के परवर्ती साहित्यकार महाकवि पुष्पदन्त, नयनन्दि एवं सोमदेवसूरि आदि ने भी अपने काव्यों में कोऊहल नाम से इसी कौतुहल कवि को स्मरण किया है। अपना स्वयं का परिचय देते हुए कवि ने सूचना दी है। कि कोऊहल के पितामह का नाम बहुलादित्य एवं पिता का नाम भूषणभट्ट था, जो बड़े साधक एवं विद्वान थे। इस काव्य की पाण्डुलिपियों के लेखनकाल और अन्य कवि एवं आचार्यो के उल्लेखों के कारण विद्वानों ने समीक्षा करके कोऊहल का समय सन् 750 से 840 ई. के मध्य स्वीकार किया है। कोऊहल ने आनन्दवर्द्धन के पूर्व एवं आचार्य हरिभद्र एवं कवि वाक्पतिराज के बाद में इस महाकाव्य की रचना की है।

कोऊहल ने इस लीलावईकहा में सर्व प्रथम मंगलाचरण शरद् वर्णन, सज्जन दुर्जन, वर्णन एवं अपने परिवार का परिचय दिया है तथा प्रसंग के अनुसार कथा के भेदों की चर्चा भी की है। तदनन्तर अपनी पत्नी के आग्रह पर कवि उसे राजा सातवाहन एवं राजकुमारी लीलावती की कथा सुनाता है, जिसमें कई अवान्तर कथाओं का भी समावेश किया गया है। लीलावईकहा में प्रेमी एवं प्रेमिकाओं के सच्चे प्रेम एवं धैर्य की परीक्षा कर उन्हें विवाह-बन्धन में बाधा गया है। इस सांस्कृतिक प्रतिष्ठा के साथ-साथ इस काव्य में तत्कालीन राजाओं के जीवन का भी सुन्दर चित्रण किया गया है। राजा के गुणों एवं कर्त्तव्यों की भी प्रासंगिक चर्चा है। कथा का प्रवाह भी प्रसंग के अनुसार गतिशील हुआ है। पात्रों के मनोनत भावों को सरसता से अंकित किया गया है। भाषा सरल एवं प्रभाव छोड़ने वाली है।

काव्य में अलंकारों और काव्य विधानों का सुन्दर प्रयोग हुआ है। उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, व्यतिरेक, समासोक्ति, अपहनति, आदि अनेक अलंकारों का सटीक प्रयोग हुआ है। भ्रान्तिमान अलंकार का एक प्रयोग यहाँ दृष्टव्य है। किसी नगर की कामनियों के सोए हुए सौन्दर्य का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि जहाँ पर घर के छतों पर सोई कामनियों के कपोलों में प्रतिबिम्बित चन्द्रकला के समूह को हंस मृणाल समझ कर उन्हें प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। यथा-

घरसिर पसुत्त कामिणि -कवोल -संकंत ससिकलावलयं।
हंसेहि अहिलसिज्जइ मुणाल-सद्धालुएहि जहिं ॥63 ॥

प्राकृत साहित्य में लीलावतीकथा की गणना कथाग्रन्थ एवं शास्त्रीय महाकाव्य दोनों ही विधाओं में की गई है। इसके रचयिता 9वीं शताब्दी के महाकवि कोऊहल हैं। दिव्यमानुषी कथा के रूप में प्रसिद्ध इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठान नगर के राजा सातवाहन एवं सिंहलद्वीप की राजकुमारी लीलावती की प्रणय कथा वर्णित है। मूल कथानक के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी गुंफित हुई हैं। यह महाकाव्य किसी धार्मिक या आध्यात्मिक तथ्यों का प्रणयन करने की दृष्टि से नहीं लिखा गया है, लेकिन सामाजिक सन्दर्भों में इस नियम को दृढ़ करता है कि संयत प्रेमी-प्रेमिका यदि अपने प्रेम में दृढ़ हैं तथा विभिन्न प्रेम-परीक्षाओं में

खरे उतरते हैं, तो समाज भी उन्हें विवाह-बंधन की अनुमति प्रदान कर देता है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह महाकाव्य अत्यंत समृद्ध है। राजाओं के जीवन-चरित के वर्णन काव्यात्मक शैली में प्रस्तुत हुए हैं। प्राकृतिक दृश्यों के कलात्मक वर्णन, सरस संवाद एवं अलंकारों का पांडित्यपूर्ण प्रयोग के कारण ही यह कथाग्रन्थ महाकाव्य की कोटि में गिना जाता है।

99. कृष्णाचरित (कण्हचरिय) -

यह चरित श्राद्धदिनकृत्य नामक ग्रन्थ के अन्तर्गत दृष्टान्तरूप में आया है। वहीं से उद्धृत कर स्वतंत्र रूप से प्रकाशित किया गया है। इसमें 1163 प्राकृत गाथाएँ हैं। इसमें वसुदेवचरित, कंसचरित, चारुदत्तचरित, कृष्ण-बलरामचरित, राजीमतीचरित, नेमिनाथचरित, द्रौपदीहरण, द्वारिकादाह, बलदेव-दीक्षा, नेमि-निर्वाण और बाद में कृष्ण के भावि तीर्थंकर-अमम नाम से होने का वर्णन किया गया है। समस्त कथा का आधार वसुदेवहिण्डी एवं जिनसेनकृत हरिवंशपुराण है। यह रचना आदि से अन्त तक कथा प्रधान है।

100. क्षेत्रसमास -

श्वेताम्बर परम्परा में सूर्य और जम्बूद्वीप विषय निरूपण से सम्बद्ध जिनभद्रगणिकृत क्षेत्रसमास और संग्रहणी उल्लेखनीय है। इन रचनाओं के परिमाण में बहुत परिवर्द्धन हुआ है और उनके लघु एवं बृहद् संस्करण टीकाकारों ने प्रस्तुत किए हैं। उपलब्ध बृहत् क्षेत्र समास का दूसरा नाम त्रैलोक्य दीपिका है। इसमें 656 गाथाएँ हैं तथा पाँच अधिकार हैं।

लघु क्षेत्रसमास रत्नशेखरसूरिकृत 262 गाथाओं में उपलब्ध है। रचनाकाल 14वीं शती है। बृहत्क्षेत्रसमास सोमतिलकसूरिकृत 489 गाथाओं में पाया जाता है। इसका भी रचनाकाल 14वीं शती है। इसमें अढ़ाई द्वीप प्रमाण मनुष्य-लोक का वर्णन है।

101. खारबेल प्राकृत शिलालेख

ईसा-पूर्वकालीन सदियों की जैन मूर्तिकला, जैनधर्म के प्रभाव, विस्तार, जैन मुनि सम्मेलन, सम्राट् खारवेल की दक्षिण विजय एवं साहित्यिक-संगीति आदि सम्बन्धी ऐतिहासिक संसूचनाओं की सुरक्षा की दृष्टि से ईसा-पूर्व दूसरी सदी

का उदयगिरि-खण्डगिरि प्राकृत शिलालेख न केवल जैन इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है अपितु नन्दकालीन भारतीय इतिहास, मौर्य-पूर्व की भारतीय प्राच्य मूर्ति शिल्पकला, प्राचीन कलिंग एवं मगध से राजनैतिक सम्बन्ध, दक्षिण भारतीय राज्यों से कलिंग के सम्बन्ध, कलिंग की बहुमुखी प्रगति तथा लोककल्याणकारी राज्य के निर्माण का उसमें सुन्दर वर्णन मिलता है। यही वह शिलालेख है, जिसकी दशवीं पंक्ति में भारत का नाम **भरधवस** मिलने के कारण उसे प्राचीनतम शिलालेखीय प्रमाण मानकर भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद उसकी संविधान-निर्मात्री परिषद् ने उसका संवैधानिक नाम भारतवर्ष घोषित किया था।

उक्त शिलालेख का मूल्यांकन करते हुए सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉ. काशीप्रसाद जायसवाल ने इसे जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करनेवाला अत्यन्त प्रामाणिक दस्तावेज बतलाया है। यही नहीं उनके कथनानुसार- उससे पुराणों की प्राचीन राजवंशावलियों का समर्थन होता है और ई.पू. 450 तक के प्राच्य भारतीय इतिहास के क्रम-निर्धारण में भी वह विशेष सहायक है। इस शिलालेख से यह भी स्पष्ट होता है कि भगवान् महावीर के परिनिर्वाण के लगभग 100 वर्ष बाद ही जैनधर्म कलिंग का राष्ट्रधर्म बन गया था।

102. खरोष्ठी प्राकृत लेख

खरोष्ठी के लेख चीनी तुर्किस्तान तुरफान में भी मिले हैं जिनका अनुसंधान विद्वान् औरल स्टाइन ने किया है। इन लेखों की भाषा का मूल स्थान पेशावर के आसपास पश्चिमोत्तर प्रदेश माना जाता है। इनमें राजा की ओर से जिलाधीशों को आदेश, क्रय-विक्रय सम्बन्धी पत्र आदि उपलब्ध होते हैं। इन लेखों की प्राकृत **निया प्राकृत** नाम से जानी गई है। इस पर ईरानी, तोखारी और मंगोली भाषाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। ये लेख ईसवी सन् की लगभग तीसरी शताब्दी में लिखे गये हैं।

103. गउडवहो

गौडवध प्राकृत का ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसके रचयिता महाकवि वाक्पतिराज हैं। ई. सन् 760 के लगभग कवि वाक्पतिराज ने इस महाकाव्य की

रचना की है। वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मन के आश्रय में रहते थे। अपने आश्रयदाता के प्रशंसार्थ ही उन्होंने इस काव्य की रचना की है। इस काव्य की कथावस्तु में यशोवर्मन द्वारा गौड (मगध) देश के किसी राजा के वध किये जाने की घटना का वर्णन है। इसलिए इसका गउडवहो नाम सार्थक है।

काव्य का प्रारंभ लम्बे मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें 61 गाथाओं में विभिन्न कवि ने प्राकृत काव्यों एवं कवियों के महत्त्व पर प्रकाश डाला है। मूल कथानक का आरंभ करीब 92वीं गाथा के बाद होता है। कथानक के प्रारम्भ में कवि ने अपने आश्रयदाता यशोवर्मन की बहुत प्रशंसा की है। उसे पौराणिक राजा पृथु से महान् बताते हुए विष्णु के अवतार के रूप में चित्रित किया है। इसके पश्चात् यशोवर्मन की वीरता एवं विजय यात्रा का वर्णन क्रम है, जिसमें वह सर्वप्रथम गौड (मगध) देश के राजा का वध करता है। इसके पश्चात् बंगराज, कोंकण, मरुदेश, महेन्द्र पर्वत के निवासी आदि पर विजय प्राप्ति का वर्णन हुआ है। अंत में इस विजय यात्रा के बाद यशोवर्मन कन्नौज लौट जाता है। नायक के उत्तरार्ध जीवन का वर्णन इस काव्य में नहीं है। यह एक सरस काव्य है। जीवन के मधुर एवं कठोर दोनों ही पक्ष समान रूप से चित्रित किए गए हैं। एक ओर विजय यात्रा के प्रसंग में आए अनेक तालाब, नदी, पर्वत आदि के काव्यात्मक चित्रण हैं, तो दूसरी ओर शत्रु पक्ष की विधवाओं के मार्मिक विलाप का जीवंत वर्णन भी प्रस्तुत हुआ है। ऋतु, वन, पर्वत, सरोवर, संध्या आदि के अलंकृत वर्णनों तथा प्रकृति-चित्रण की सजीवता के कारण ही यह उत्कृष्ट महाकाव्य कहलाता है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यंगोक्ति, दृष्टान्त आदि अलंकारों का आद्योपांत चारु विन्यास है। राजघराने के आतंक को व्यंगोक्ति के माध्यम से स्पष्ट करने वाला यह पद दृष्टव्य है-

पत्थिवघरेसु गुणिणोवि णाम जइ को वि सावयासव्व।
जणसामण्णं तं ताण किं पि अण्णं चिय निमित्तं॥ ... (गा. 876)

अर्थात् - यदि कोई गुणी व्यक्ति राजमहलों में पहुँच जाता है, तो इसका कारण यही हो सकता है कि जन साधारण की वहाँ तक पहुँच है अथवा अन्य कोई कारण होगा, उसके गुण तो इसमें कदापि कारण नहीं हो सकते हैं।

ईसा की आठवीं शताब्दी काव्य साहित्य के लिए स्वर्णयुग जैसी थी। संस्कृत के भवभूति जैसे समृद्ध कवि इस युग में हुए, अपभ्रंश के स्वयम्भू महाकवि की काव्य-प्रतिमा इसी समय विकास को प्राप्त हुई। प्राकृत के महान् कथाकार उद्द्योतनसूरि की कुवलयमाला कहा इसी समय की रचना है। पुराणकार जिनसेन इन्हीं के समकालीन थे। ऐसे काव्यमय समृद्ध वातावरण में प्राकृत के महाकवि, वाक्पतिराज ने अपना प्रसिद्ध गउडवहो नामक महाकाव्य लिखा। वाक्पतिराज को कन्नौज के राजा यशोवर्मा का राज्याश्रय प्राप्त था। अतः कवि ने अपने आश्रयदाता यशोवर्मा के द्वारा गौडदेश (मगध) के किसी राजा के वध किये जाने की घटना को अपने इस महाकाव्य का विषय बनाया।

गउडवहो की कथावस्तु पूर्ण नहीं मिलती। अर्थात् गौडदेश के राजा के वध का सम्पूर्ण वर्णन इसमें नहीं है। सम्भवतः यह काव्य इतना ही लिखा गया है, फिर भी यह किसी महाकाव्य से कम नहीं है। इसमें कुल 1209 प्राकृत गाथाएँ हैं। महाकाव्य की प्रचलित परम्परा के अनुसार यह महाकाव्य सर्गों या आश्वासों में विभक्त नहीं है। विभिन्न वर्णनों के कुलक इसमें हैं, किन्तु उनका आकार निश्चित नहीं है। सबसे बड़ा कुलक 150 गाथाओं का है और सबसे छोटा 5 गाथाओं का। यद्यपि यह काव्य कवि द्वारा अपने आश्रयदाता की प्रशस्ति में लिखा गया है; किन्तु काव्यात्मक गुणों से यह परिपूर्ण है। इसके सम्पादक श्री पण्डितजी ने कहा है - This is one of the best and most remarkable parts of the poem and abounds in sentiments of the very highest order."

गउडवहो के रचनाकार महाकवि वाक्पतिराज अपने आश्रयदाता राजा यशोवर्मा के समकालीन थे। राजतरंगिणी के अनुसार यशोवर्मा को ललितादित्य मुक्तापीड ने सन् 736 के आसपास पराजित किया था (4.134)। ललितादित्य का समय सन् 724 से 760 ई. तक माना जाता है। अतः इसी अवधि में यशोवर्मा का गौडदेश का विजयकाल रहा होगा, जिसमें यह महाकाव्य लिखा गया है। गउडवहो की 799वीं गाथा में वाक्पतिराज ने भवभूति के काव्य की प्रशंसा की है और अज्जवि शब्द द्वारा उसे अपना समकालीन बतलाया है। भवभूति का समय भी आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। गउडवहो की 829वीं गाथा में सूर्यग्रहण का

संकेत मिलता है। डॉ. हर्मन याकोबी ने इस सूर्यग्रहण का काल 14 अगस्त 733 ई. निश्चित किया है। अतः इन सब उल्लेखों से वाक्पतिराज का समय आठवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध (725से 750 ई) स्वीकार किया जा सकता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भी अपना यही अभिमत व्यक्त किया है।

गउडवहो की प्रारम्भिक 61 गाथाओं में विष्णु, गणेश, गौरी, सरस्वती, लक्ष्मी, आदि की स्तुति की गयी और बाद की 37 गाथाओं में कवि प्रशंसा के अन्तर्गत कवि और काव्य की महत्ता प्रतिपादित की गयी है। इसी प्रसंग में प्राकृत काव्य का वैशिष्ट्य प्रकट किया गया है और प्राकृत भाषा को सभी भाषाओं का आधार बताया गया है। इसके बाद काव्य की कथा का शुभारम्भ करते हुए कथानायक यशोवर्मा के गुणों को उद्घाटित किया गया है। बाद की 93 गाथाओं में यशोवर्मा की शक्ति और सौन्दर्य का काव्यात्मक वर्णन कवि ने किया है।

यशोवर्मा को बालक हरि का अवतार बतलाते हुए कवि ने प्रलयकाल का वर्णन भी किया है। इस प्रसंग में स्वर्ग की सम्पदाएँ भी वर्णित हुई हैं। यशोवर्मा की वीरता से पराजित शत्रुओं की विधवाएँ जो विलाप करती हैं वह बड़ा ही कारुणिक दृश्य है। यशोवर्मा वर्षा ऋतु के बाद विजय यात्रा पर निकलता है। इसी प्रसंग में शरद ऋतु एवं विन्ध्यवासिनी देवी का वर्णन हुआ है। गौड़ नृप यशोवर्मा के भय से पलायन कर जाता है, किन्तु अन्त में वह युद्ध में मारा जाता है। यही गौड नरेश की वध की प्रमुख घटना इस काव्य की है।

युद्ध के बाद यशोवर्मा समुद्रतट की ओर प्रयाण करता है। वहाँ से बांगदेश और फिर दक्षिण के समुद्रतट की ओर जाता है। पारसीक, कोकण, नर्मदा, मरुदेश, श्रीकण्ठ, कुरुक्षेत्र अयोध्या, आदि स्थानों की यात्रा वर्णन भी कवि ने प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रसंग में तालाब ,नदी, पर्वत, वन वृक्ष आदि के काव्यात्मक वर्णन इस ग्रन्थ में प्राप्त होते हैं। यशोवर्मा की यह विजययात्रा महाराजा रघु की दिग्विजय यात्रा का स्मरण करती है। अन्त में कवि ने अपनी प्रशस्ति लिखी है। ग्रन्थ के कथानायक यशोवर्मा के उतरार्द्ध जीवन की कथा इस काव्य में नहीं है।

महाकाव्यों की जो सुनिश्चित श्रेणियां हैं, उनमें गउडवहो को रखना इसके विशिष्ट्य स्वरूप को सीमित करना है। यह महाकाव्य न पौराणिक है, न पूर्णतया

शास्त्रीय और न ऐतिहासिक ही। वस्तुतः वाक्पतिराज ने संस्कृत-प्राकृत के महाकाव्यों में इसका विशेष स्थान बने इस दृष्टि से इसे अनोखा बनाया है। विभाजन की दृष्टि से इसमें नयापन है। कथावस्तु बहुत छोटी, किन्तु उसका विस्तार बड़ा सार्थक है। यशोवर्मा की प्रशस्ति में लिखा गया यह महाकाव्य चाटुकारिता से कोसों दूर है। फिर भी वस्तुवर्णन और भाववर्णन में बेजोड़ है। अतः प्राकृत महाकाव्यों का गउडवहो एक प्रतिनिधि काव्य है। इसे महाकाव्यों की विशेष कोटि में रखना होगा जिसे प्रशस्ति महाकाव्य कह सकते हैं। या फिर विजय महाकाव्य इसे कहा जा सकता है। क्योंकि प्रत्येक वर्णन का प्रसंग विजय यात्रा से जुड़ा हुआ है। गउडवहो महाकाव्य की एक विशेषता यह भी परिलक्षित होती है कि कवि की दृष्टि ग्राम्यजीवन की नैसर्गिक शोभा से अधिक आकृष्ट हुई है। दूर-दूर बने हुए घरों वाले किसी वनग्राम का वर्णन करते हुए कवि कहता है कि गाँवों में फलों को प्राप्त कर बच्चे प्रसन्न होते हैं, लकड़ी के बने हुए घरों से गाँव रमणीय लगते हैं ऐसे अधिक भीड़-भाड़ से रहित वनग्राम हृदय को हरण कर लेते हैं -

फललम्भमुइयडिम्भा सुदारुघरसंणिवेस रमणिज्जा।
एए हरन्ति हिययं अजणाइण्णा वणग्गामा ॥ 607 ॥

वाक्पतिराज ने वस्तु व्यापार, मनःस्थिति एवं विविध सौन्दर्ययुक्त वर्णनों को अनेक अलंकारों से सजाया है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, आदि के साथ दृष्टान्त अलंकार के प्रयोग में कवि ने विशेष रुचि दिखायी है। कवि अनुभव की बात सरल शब्दों में कहता है कि ऊँचे व्यक्ति को देखकर विस्मय और नीच को देखकर उसी प्रकार शंका होती है जैसे पहाड़ को देखकर विस्मय और कुँए को देखकर शंका होती है। यथा-

तुंगावलोयणे होई विम्हओ णीय-दंसणे संका।
जह पेच्छताण गिरिं जहेय अवडं णियंताण ॥ 897 ॥

गउडवहो में कवि ने लोक से प्राप्त अनेक अपने अनुभवों को पाठकों के समक्ष रखा है। कवि की अनुभूतियाँ अत्यन्त गहरी हैं। उनका सम्बन्ध धनवानों एवं राजघराने के अधिकारियों से रहा है। अतः वे निर्भीकता पूर्वक, कभी-कभी

व्यंग्य में भी अपनी बात कहते हैं। गुण एवं गुणी व्यक्तियों के सम्बन्ध में सज्जन पुरुष एवं लक्ष्मी के विषय में शासक और अधिकारियों के स्वभाव से सम्बन्धित अनेक नीति की बातें भी इस काव्य में उपलब्ध हैं। लोभी एवं लालची व्यक्तियों के विषय में कवि व्यंग्य करता है कि आश्चर्य है, सम्पत्ति की बहुत अधिक ऊँचाई (स्थिति) पर पहुँच कर व्यक्ति सम्पत्ति से तृष्णा नहीं मिटाते हैं। तो क्या वे पर्वत पर चढ़कर अब आकाश में चढ़ना चाहते हैं। यथा-

तण्हा अखंडिअच्चिअ विहवे अच्चुण्णए लहिऊण।
सेलं पि समारूहिऊण किं व गअणस्स आरूढ़ ॥

इस महाकाव्य का विभिन्न दृष्टियों से मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। इस काव्य ने यह नया प्रयोग आवश्यक है कि कथानायक भले ही श्रद्धा और इतिहास का पात्र न हो, ग्रन्थ की विषयवस्तु भी काव्य को लोकप्रिय एवं सार्वभौमिक बना सकती है। कवि की अनुभूतियाँ जनमानस के स्वभाव और प्रवृत्तियों को प्रकट कर दें, यही महाकाव्य की सफलता है। इसमें यह गउडवहो अग्रिम पंक्ति में रखने योग्य है।

104. गणहरहोरा (गणधरहोरा) :

गणहरहोरा नामक यह कृति किसी अज्ञात नामा विद्वान् ने रची है। इसमें 29 गाथाएँ हैं। मंगलाचरण में नमिउण इंदभूइं उल्लेख होने से यह किसी जैनाचार्य की रचना प्रतीत होती है। इसमें ज्योतिष विषयक होरा संबंधी विचार है। इसकी 3 पत्रों की एक प्रति पाटन के जैन भंडार में है।

105. गाहासत्तसई

गाथासप्तशती मुक्तककाव्य की परम्परा का प्रतिनिधि काव्य है। इसकी गणना शृंगार रस प्रधान प्राकृत के सर्वश्रेष्ठ मुक्तककाव्यों में की जाती है। इस काव्य के संकलनकर्त्ता महाकवि वत्सल हाल हैं। इनका समय लगभग ई. सन् की प्रथम शताब्दी माना गया है। कवि हाल ने अनेक कवि एवं कवित्रियों की लगभग 1 करोड़ गाथाओं में से सात सौ सर्वश्रेष्ठ गाथाओं का संकलन कर गाथासप्तशती की रचना की है। इस दृष्टि से यह सत्तसई परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ भी है। इसी ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर आर्यासप्तशती, बिहारीसतसई

आदि की रचना हुई। बाणभट्ट, मम्मट, वाग्भट्ट आदि सभी अलंकारशास्त्रियों ने इस मुक्तककाव्य की प्रशंसा की है। इसका प्राचीन नाम गाहाकोस है, किन्तु सौ-सौ के समूह में सात सौ गाथाओं का संकलन होने के कारण इसका गाथासप्तशती नाम सार्थक है। मुक्तककाव्य की परम्परा में इस काव्य-ग्रन्थ का विशेष स्थान है। इसकी प्रत्येक गाथा स्वतंत्र रूप से भाव अभिव्यक्ति एवं रसानुभूति कराने में सक्षम है।

वस्तुतः प्राकृत लोकभाषा थी, अतः प्राकृत के इस मुक्तककाव्य में लोकजीवन के विविध चित्रों को ही उकेरा गया है। कवि ने प्रकृति की गोद में निवास करने वाले ग्रामवासियों के उन्मुक्त जीवन, उनकी सरलता, आदर्श-प्रेम एवं मानवीय संवेदनाओं की सुन्दर अभिव्यक्ति की है। सामान्य नायक-नायिकाओं को लक्ष्य करके उनके विभिन्न मनोभावों को चित्रित करने का प्रयास किया है। शृंगारिक भावनाओं तथा प्रेम की पीड़ा की अभिव्यक्ति अत्यंत मार्मिक है। यथा -

धण्णा ता महिलाओ जा दइयं सिविणए वि पेच्छन्ति।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्॥ .. (गा. 4.97)

अर्थात् - वे महिलाएँ धन्य हैं, जो प्रिय को स्वप्न में देखती हैं। उसके बिना तो नींद भी नहीं आती। स्वप्न क्या देखेंगीं?

गाथासप्तशती में संकलित गाथाएँ किसी एक विषय से सम्बन्धित नहीं हैं, अपितु ग्रामीण जीवन के विविध चित्रों का इसमें सजीव अंकन हुआ है। ग्रामीण जीवन के कवि ने अनूठे चित्र खींचे हैं। प्रायः अधिकतर गाथाओं के विषय सरल ग्राम जीवन से ही सम्बन्धित हैं। ग्रामीण बाला के उल्लास, खुशी एवं प्रफुल्लता का यह चित्र दृष्टव्य है -

अप्पत्तपत्तअं पाविऊण णवरंगअं हलिअसोण्हा।
उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु॥ ... (गा. 3.41)

अर्थात्- देखो! किसान की मुग्धा बहू, दुर्लभ नवीन साड़ी को पाकर असीम उल्लास से युक्त, वह तन्वी गाँव की चौड़ी गलियों में भी नहीं समा रही है।

शृंगार व प्रेम के अतिरिक्त इसमें सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निंदा, सुभाषित, प्रकृति-चित्रण, ग्रामीण-सौन्दर्य, दरिद्रता आदि से सम्बन्धित मुक्तकों का भी संकलन है। तत्कालीन सामाजिक परम्पराओं का भी इनमें चित्रण मिलता है। विषय की दृष्टि से जहाँ इस ग्रन्थ में विविधता है, वहीं काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से गाथासप्तशती अनुपम कृति है। शृंगार रस का तो यह अक्षय सागर ही है। रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यंगोक्ति, अन्योक्ति आदि अलंकारों का स्थान-स्थान पर सुन्दर प्रयोग हुआ है। अन्योक्ति अलंकार का यह उदाहरण दृष्टव्य है -

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमंडलो विहिणा।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअंको॥ ...(गा. 3.7)

अर्थात् - जब सम्पूर्ण चन्द्र भी तुम्हारे मुख की समानता नहीं प्राप्त कर सका, तो विधाता के द्वारा दूसरे नवीन चन्द्रमा का सृजन करने के लिए बार-बार चन्द्रमा को खंडित किया जा रहा है।

106. गाथासहस्री

सकलचन्द्रगणि के शिष्य समयसुन्दरगणि इसके संग्रहकर्ता हैं। वे तर्क, व्याकरण, साहित्य आदि के बहुत बड़े विद्वान् थे। विक्रम संवत् 1986 ईसवीं सन् 1929 में उन्होंने इस ग्रन्थ में लौकिक-अलौकिक विषयों का संग्रह किया है। इन पर एक टिप्पण भी है, उसके कर्त्ता का नाम अज्ञात है। जैसे गाथासप्तशती में 700 गाथाओं का संग्रह है, वैसे ही इस ग्रन्थ में 855 सुभाषित गाथाओं का संग्रह है। यहाँ 36 सूरि के गुण, साधुओं के गुण, जिनकल्पिक उपकरण, यति दिनचर्या, 25 1/2 आर्यदेश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, 32 प्रकार के नाटक, 26 प्रकार श्रृंगार, शकुन और ज्योतिष आदि से संबंध रखनेवाले विषयों का संग्रह है। महानिशीथ, व्यवहारभाष्य, पुष्पमालावृत्ति आदि के साथ-साथ महाभारत मनुस्मृति आदि संस्कृत के ग्रन्थों से भी यहाँ उद्धरण प्रस्तुत हैं। यह ग्रन्थ जिनदत्तसूरि प्राचीन पुस्तकोद्धार फंड सूरत से सन् 1940 में प्रकाशित है।

107. गाथालक्षण (गाहालक्खण)

गाथालक्षण अथवा नन्दिताढ्य छन्द सूत्र प्राकृत छन्दों पर लिखी हुई एक अत्यन्त प्राचीन रचना है, जिसके कर्त्ता नन्दिताढ्य हैं। इसमें 16 गाथाओं में

गाथाछंद का निर्देश है। नन्दिताढ्य ने ग्रन्थ के आदि में नेमिनाथ भगवान् को नमस्कार किया है जिससे उनका जैन धर्मानुयायी होना निश्चित है। ग्रन्थकार ने अवहट्ठ अपभ्रंश भाषा के प्रति तिरस्कार व्यक्त किया है। (गाथा 31)। इससे अनुमान किया जाता है कि नन्दिताढ्य ईसवीं सन् 1000 के आसपास में मौजूद रहे होंगे। गाथालक्षण पर 108 प्रकरण-ग्रन्थों के लेखक महाकवि देवनन्द मुनि के शिष्य रत्नचन्द्र ने टीका लिखी है।

108. गुणपाल मुनि

जम्बूचरियं के रचयिता नाइलगच्छीय गुणपाल मुनि हैं जो वीरभद्रसूरि के प्रशिष्य एवं प्रद्युम्नसूरि के शिष्य थे। संभवतः कुवलयमाला के रचयिता उद्द्योतनसूरि के सिद्धान्तगुरु वीरभद्राचार्य और गुणपाल मुनि के दादागुरु वीरभद्रसूरि दोनों एक ही हों। ग्रन्थ की शैली पर हरिभद्र की समराइच्चकहा और उद्द्योतनसूरि की कुवलयमाला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। उक्त कथाग्रन्थों के समान ही यह भी गद्य-पद्य मिश्रित है। ग्रन्थकार और उक्त रचना के काल के संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है पर रचनाशैली आदि से अनुमान होता है कि इसे 10-11वीं शताब्दी के आसपास ही रचना होना चाहिए। इसकी एव ताड़पत्रीय प्रति जैसलमेर जैन भण्डार से 14वीं शताब्दी के पूर्व की मिलती है।

109. गुणचन्द्रसूरि

महत्त्वपूर्ण कृति महावीरचरियं के रचयिता गुणचन्द्रसूरि हैं जो आचार्य पद पाने के बाद देवभद्रसूरि कहलाने लगे थे। इन्होंने अपने छत्रावली (छत्राल) निवासी सेठ शिष्ट और वीर की प्रार्थना पर वि. सं. 1139 ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया सोमवार के दिन इस ग्रन्थ की रचना की थी। प्रशस्ति में शिष्ट और वीर के परिवार का परिचय दिया गया है।

इनकी तीन विशाल कृतियों के पीछे दिये गये प्रशस्ति पद्य बड़े महत्त्व के हैं जिनसे इनकी गुरुपरम्परा तथा रचनाओं का संवत् मालूम होता है। तदनुसार आचार्य देवभद्र सुमतिवाचक के शिष्य थे, आचार्य पद पर आरूढ़ होने के पहले उनका नाम गुणचन्द्रगणि था। इसी नाम से उन्होने वि. सं. 1125 में संवेगरंगशाला नाम से आराधनाशास्त्र का संस्कार किया था और वि. सं. 1139 में महावीरचरियं का निर्माण किया था। संवेगरंगशाला की पुष्पिका में **'तद्विनेय श्री प्रसन्नचन्द्रसूरि समभ्यर्थितेन गुणचन्द्रगणिना तथा तव्वयणेणं गुणचंदेणं'** पदों से ज्ञात होता है कि आचार्य प्रसन्नचन्द्र और देवेन्द्रसूरि का पारस्परिक सम्बन्ध दूर से था और दोनों परस्पर गुणानुरागी थे। गुणचन्द्र उन्हें बड़े आदर से देखते थे यह कथारत्नकोश और पार्श्वनाथ की प्रशस्ति में आनेवाले **'तस्सेवगेहिं'** और **'पयपउमसेवगेहिं'** पदों से ज्ञात होता है। प्रसन्नचन्द्र ने गुणचन्द्र के गुणों से आकर्षित होकर उन्हें आचार्य पद पर आरूढ़ किया था।

110. गुणधराचार्य

दिगम्बर परम्परा में जो शौरसेनी प्राकृत में लिखित ग्रन्थ प्राप्त होते हैं उनमें प्रथम श्रुत ग्रन्थ का प्रणयन करने वाले आचार्य गुणधर हैं। इन्द्रनन्दि के श्रुतावतार, नन्दिसंघ की शौरसेनी प्राकृत पट्टावलि और जयधवला टीका आदि में आचार्य गुणधर और उनकी पूर्व परम्परा का वर्णन मिलता है। विद्वानों ने गुणधराचार्य का समय विक्रम पूर्व प्रथम शताब्दी स्वीकार किया है। ये आचार्य धरसेन और कुन्दकुन्द के पूर्ववर्ती हैं इनको अर्हद्वली संघनायक के समकालीन माना जाता है। गुणधराचार्य दिगम्बर परम्परा के प्रथम सूत्रकार हैं। इन्होंने 'कसायपाहुड' नामक ग्रन्थ की रचना 180 शौरसेनी प्राकृत गाथाओं में है, जो 16000 पदप्रमाण विषय को अपने में समेटे हुए हैं। ग्रन्थकार अपनी गाथाओं को सूत्रगाथा कहते हैं-

गाहासदे असीदे अत्थे पण्णरसधा विहब्ठम्मि।
वोच्छामि सुब्ठगाहा जयि गाहा जम्मि अत्थम्मि॥—गा. 2

कसायपाहुड को पेज्जदोसपाहुड भी कहते हैं। कषाय राग-द्वेष का सम्मिलित नाम है। उनकी परिणति है। अतः कषायों में जो कर्मबन्ध होता है, उसकी प्रकृति,

स्थिति, अनुभाग एवं प्रदेशबन्ध आदि विशेषताओं का विश्लेषण इस कसायपाहुड में किया गया है। संक्षेप में यह कर्मसिद्धान्त का ग्रन्थ है, जिसने परवर्ती साहित्य को बहुत प्रभावित किया है। इस मूल ग्रन्थ पर 8वीं शताब्दी में आचार्य वीरसेन ने 'जयधवला' नामक विशाल टीका लिखी है। इस पर चूर्णि आदि भी लिखी गयी है।

111. गोम्मटसार

आचार्य नेमिचन्द्र का समय ई. सन् 11वीं शती है। इनकी निम्नलिखित रचनाएँ प्रसिद्ध हैं- 1. गोम्मटसार, 2. त्रिलोकसार, 3. लब्धिसार, 4. क्षपणासार, 5. द्रव्यसंग्रह।

गोम्मटसार दो भागों में विभक्त है- (1) जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। जीव काण्ड में 733 गाथाएँ और कर्मकाण्ड में 962 गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत में दो टीकाएँ लिखी गई हैं- (1) नेमिचन्द्र द्वारा जीव प्रदीपिका और (2) अभयचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा मन्द्रप्रबोधिनी। गोम्मटसार पर केशववर्णी द्वारा एक कन्नड़ वृत्ति भी लिखी मिलती है। टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चंद्रिका नाम की वचनिका लिखी हैं। गोम्मटसार षट्खण्डागम की परम्परा का ग्रन्थ है। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवसमास, पर्याप्ति प्राण, संज्ञा चौदह मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की अनेक अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। कर्मकाण्ड में प्रकृतिसमूत्कीर्त्तन, बन्धोदय, सत्व, सत्वस्थान, भंग, त्रिचूलिका स्थान, समुत्कीर्त्तन प्रत्यय, भावचूलिका और कर्मस्थिति रचना नामक नौ अधिकारों में कर्म की विभिन्न अवस्थाओं का निरूपण किया है।

112. घनश्याम कवि

कवि घनश्याम संस्कृत, प्राकृत और देशी इन तीनों भाषाओं में समान रूप से कविता करते थे। कवि के पिता का नाम महादेव, माता का काशी, दादा का चौडाजि-बालाजि, बड़े भाई का नाम ईसा और बहन का नाम शकम्भरी था। कवि की दो पत्नियाँ थीं, जिनके नाम सुन्दर और कमला थे। गोर्द्धन और चन्द्रशेखर नाम के इनके दो पुत्र थे। इनका जन्म ई. सन् 1700 के लगभग हुआ

था और वे ई. सन् 1750 तक जीवित रहे। 29 वर्ष की अवस्था में ये तन्जोर के तुक्कोजि प्रथम के मन्त्री नियुक्त हुए। इनका परिवार धार्मिक और साहित्यिक प्रवृत्ति का था। इनकी पत्नियाँ संस्कृत काव्य रचना के समय इनकी सहायता करती थीं। घनश्याम को सार्वजनिक कवि कंठरव एवं चौडाजि कवि आदि-आदि नामों से अभिहित किया जाता था। इन्होंने अपने को सात-आठ भाषाओं और लिपियों में निष्णात लिखा है। घनश्याम ने 64 संस्कृत में, 20 प्राकृत में और 25 रचनाएँ देशी भाषा में लिखी हैं।

घनश्याम ने अपने को सर्वभाषा कवि घोषित किया है। उनका अभिमत है कि जो एक भाषा में कविता करता है, वह एक देश का कवि है जो अनेक भाषाओं में कविता करता है, वही सर्वभाषा कवि कहलाता है। प्रकृत्या कवि घनश्याम दम्भी प्रतीत होता है और यही कारण है कि अपने समय के कवियों में वह यश प्राप्त नहीं कर सका। वह महाराष्ट्र का निवासी था।

113. चौपन्नमहापुरुषचरित (चउपन्नमहापुरिसचरियं)

चौपनमहापुरुषचरित आचार्य शीलांकाचार्य द्वारा रचित विशालकाय ग्रन्थ है। विद्वानों ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसका रचनाकाल ई. सन् 868 निर्धारित किया है। आचार्य शीलांकाचार्य ने इस चरितकाव्य में 24 तीर्थंकरों, 12 चक्रवर्तियों, 9 वासुदेवों, 9 बलदेवों को मिलाकर चौवन शलाका पुरुषों का जीवन-चरित ग्रथित किया है। ऋषभदेव, भरत चक्रवर्ती, शान्तिनाथ, मल्लिनाथ और पार्श्वनाथ के जीवन-चरित का इसमें विस्तार से निरूपण हुआ है। इस चरितकाव्य का उद्देश्य शुभ-अशुभ कर्म परिणामों की विवेचना करना है, अतः मूल चरित-नायकों के पूर्वभवों का विवेचन भी ग्रन्थ में हुआ है। मूलकथानकों के साथ अनेक अवान्तर कथाओं के गुम्फन द्वारा जन्म-जन्मान्तरों के संस्कारों, विकारों, आसक्तियों, निदान आदि का भी विश्लेषण किया गया है। वस्तुतः यह चरितकाव्य सांसारिक नश्वरता के बीच-बीच में जीवन के विराट रूप को प्रस्तुत करता है। दान, दया, करुणा आदि मानवीय मूल्यों का भी इसमें सुन्दर अंकन हुआ है। जीव-दया एवं पक्षियों के प्रति करुणा के फल का संदेश देने वाली यह गाथा दृष्टव्य है –

पक्खीण सावयाण य विच्छोयं ण करेइ जो पुरिसो।
जीवेसु य कुणइ दयं तस्स अवच्चाइं जीवंति॥ ...

अर्थात् - पक्षियों के बच्चों का जो व्यक्ति वियोग नहीं करता है और जीवों पर दया करता है, उसकी संतति चिरंजीवी होती है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस ग्रन्थ में प्रचुर सामग्री है। युद्ध, विवाह, जन्म, उत्सवों आदि के वर्णन-प्रसंगों में तत्कालीन सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों की झलक दृष्टिगत होती है।

इस चरित में केवल 54 महापुरुषों का वर्णन किया गया है। महापुरुषों के समुद्रित चरित्र को प्राकृत भाषा में वर्णन करने वाले उपलब्ध ग्रन्थों में इस ग्रन्थ का सर्वप्रथम स्थान है। संस्कृत-प्राकृत भाषाओं में एक कर्तृक की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ सर्वप्रधान है। संस्कृत में इसके पूर्व 'महापुराण' मिलता है पर वह भी एक कर्तृक नहीं है। इसकी पूर्ति जिनसेन के शिष्य गुणभद्राचार्य ने की थी। सांस्कृतिक सामग्री की दृष्टि से इसमें युद्ध, विवाह, जन्म एवं उत्सवों के वर्णन में तत्कालीन प्रथाओं और रीति-रिवाजों के अच्छे उल्लेख मिलते हैं। इसमें चित्रकला और संगीतकला की अच्छी सामग्री दी गई है। इसकी भाषा, शैली आदि महाकाव्य के अनुरूप ही हैं।

114. चउप्पन्नमहापुरिसचरियं (द्वितीय) -

यह प्राकृत भाषानिबद्ध ग्रंथ 103 अधिकारों में विभक्त है। इसका मुख्य छन्द गाथा है। इसका श्लोक-परिमाण 10050 है जिसमें 8735 गाथाएँ और 100 इतर वृत्त हैं। यह ग्रंथ अब तक अप्रकाशित है। इसमें भी चौवन महापुरुषों के चरित्र का वर्णन है। ग्रंथ-समाप्ति पर उपसंहार में कहा गया है कि 54 में 9 प्रतिवासुदेवों को जोड़ने से तिरसेठ शलाकापुरुष बनते हैं। इसमें तीर्थंकरों के यक्ष-यक्षिणियों का उल्लेख है जो प्राचीनतम ग्रंथों में नहीं मिलता है। अतः सम्भावना की जा सकती है कि यह ग्रंथ शीलांक के चउप्पन्नमहापुरिसचरियं के बाद रचा गया होगा।

115. चंदप्पहचरियं

प्राकृत भाषा में आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभ पर कई कवियों ने रचनाएँ की हैं। उनमें प्रथम रचना सिद्धसूरि के शिष्य वीरसूरि ने सं. 1138 में की थी।

जिनेश्वरसूरिकृत द्वितीय **चंदप्पहचरियं** में 40 कथाएँ हैं जो बड़ी सरस हैं। इसमें चन्द्रप्रभ नाम की सार्थकता में कवि कहता है कि चूँकि माता को गर्भकाल में चन्द्रयान का दोहद उत्पन्न हुआ था इस कारण इनका नाम चन्द्रप्रभ रखा गया। जिनेश्वरसूरि ने सं. 1175 में प्राकृत मल्लिनाहचरियं तथा नेमिनाहचरियं की रचना की थी। सम्भवतः ये ही उक्त चन्दचरियं के रचयिता हों।

द्वितीय **चन्दप्पहचरियं** के रचयिता **बड़गच्छीय हरिभद्रसूरि** हैं। इनकी उक्त रचना की एक प्रति पाटन के भण्डार में विद्यमान है जिसका ग्रन्थाग्र 8032 श्लोक प्रमाण है। ग्रन्थकार के दादागुरु का नाम जिनचन्द्र तथा गुरु का नाम श्रीचन्द्रसूरि था। कहा जाता है कि जिनचन्द्रसूरि ने सिद्धराज और कुमारपाल के महामात्य पृथ्वीपाल के अनुरोध पर चौबीस तीर्थंकरों का जीवनचरित लिखा था पर उनमें प्राकृत में लिखे चन्दचरियं और मल्लिनाहचरियं तथा अपभ्रंश में णेमिणाहचरिउ ही उपलब्ध है।

116. चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा के कर्त्ता पारशव वंशीय कवि रुद्रदास हैं। इस सट्टक का रचनाकाल 1660 ई. है। इस सट्टक में चार जवनिकाएँ हैं, जिनमें राजा मानवेद और राजकुमारी चन्द्रलेखा के प्रणय एवं विवाह का वर्णन है। इसकी कथावस्तु का गठन कर्पूरमंजरी के समान है। सट्टक के प्रायः समस्त शास्त्रीय लक्षणों का इसमें निर्वाह किया गया है। महत्त्वाकांक्षी नायक मानवेद में प्रारंभ से ही चक्रवर्ती बनने की अभिलाषा है। चन्द्रलेखा नायिका के समस्त दिव्य गुणों से परिपूर्ण है। इस सट्टक में कवि ने श्रृंगार रस की उदात्त भूमि पर नायक-नायिका का प्रणय चित्रित किया है। अपनी कल्पना शक्ति से कवि ने कथावस्तु को सरस व रोचक बनाकर प्रस्तुत किया है । यथा – विरह व्याकुल चन्द्रलेखा का नायक मानवेद के साथ कदलीगृह में मिलने का दृश्य रोमांचकता के साथ रोचकता को भी लिए हुए है। भाषा कोमल एवं प्रवाहयुक्त है। काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से यह उत्कृष्ट रचना है। पद्यों में प्रकृति का सजीव चित्रण हुआ है। नवचन्द्र का यह सरस चित्र दृष्टव्य है।

चन्दण-चच्चिअ-सव्व-दिसंतो चारु-चओर-सुहाइ कुणन्तो।
दीह-पसारिअ-दीहिइ-बुंदो दीसइ दिण्ण-रसो णव-चन्दो॥..(3.21)

अर्थात् – समस्त दिशाओं को चंदन से चर्चित करता हुआ, सुन्दर चकोर पक्षियों को सुख प्रदान करता हुआ, अपनी किरणों के समूह को दूर तक प्रसारित करता हुआ सरस नूतन चन्द्रमा दिखाई दे रहा है।

117. चन्द्रप्रज्ञप्ति (चंदपण्णत्ती)

चन्द्रप्रज्ञप्ति विषय की दृष्टि से सूर्यप्रज्ञप्ति के निकट है। वर्तमान में जो इसका रूप मिलता है, वह अक्षरशः सूर्यप्रज्ञप्ति के समान है। केवल प्रारम्भ में मंगलाचरण तथा विषय सूचन करने वाली 18 गाथाएँ आई हैं, जो सूर्य प्रज्ञप्ति में नहीं है। विद्वानों के लिए यह बड़ी समस्या का विषय है कि ये दो अलग-अलग ग्रन्थ हैं अथवा एक ही ग्रन्थ है। इसमें चन्द्र व सूर्य के आकार, तेज, परिभ्रमण, उनकी गतियाँ, विमान आदि का निरूपण है। इस आगम में चन्द्रमा को स्वतः प्रकाशमान बताया है तथा उसके घटने-बढ़ने का कारण राहू को स्वीकार किया है।

118. चूर्णि साहित्य

आगमों के गूढ सूत्रों को अधिक स्पष्टता व विशदता से बोधगम्य करने हेतु गद्य में व्याख्या करने का क्रम चला जो चूर्णि-साहित्य के रूप में प्रचलित हुआ। चूर्णियाँ केवल प्राकृत में ही नहीं लिखी गई हैं अपितु प्राकृत के साथ-साथ इनमें संस्कृत का भी प्रयोग है। अतः चूर्णियों की भाषा मिश्र प्राकृत कहलाती है। चूर्णियों के कर्त्ता जिनदासगणि महत्तर माने जाते हैं। इनका समय लगभग छठी-सातवीं शताब्दी माना गया है। निम्न आगमों पर चूर्णियाँ लिखी गई हैं-

1. आचारांग 2. सूत्रकृतांग 3. व्याख्याप्रज्ञप्ति 4.जीवाजीवाभिगम 5. निशीथ 6. महानिशीथ 7. व्यवहार 8. दशाश्रुतस्कंध 11. ओघनिर्युक्ति 12. जीतकल्प 13. उत्तराध्ययन 14. आवश्यक 15. दशवैकालिक 16. नंदी 17.अनुयोगद्वार 18.जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति

चूर्णि साहित्य में जैनधर्म व दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है। नंदीचूर्णि में केवलज्ञान व केवलदर्शन के क्रम पर विशेष चर्चा की गई है। आचार्य ने केवलदर्शन के क्रमभावित्व का समर्थन किया है। आवश्यकनिर्युक्ति में निर्दिष्ट किये गये विषयों का विस्तार से विवेचन आवश्यकचूर्णि में किया गया

है। विवेचन की सरलता, सरसता एवं स्पष्टता की दृष्टि से अनेक प्राचीन ऐतिहासिक एवं पौराणिक आख्यान भी उद्धृत किये हैं। सूत्रकृतांगचूर्णि में विविध दार्शनिक मतों का चिन्तन किया गया है। चूर्णियों के विषय को स्पष्ट करने हेतु प्रसंगानुसार प्राकृत की अनेक कथाएँ आई हैं, जो तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक व लौकिक तीनों ही पक्षों को उद्घाटित करती हैं। प्राकृत भाषा के भाषा-शास्त्रीय अध्ययन की दृष्टि से भी ये चूर्णियाँ अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं।

119. छक्खंण्डागमसुत्त

गिरनार स्थित चन्द्रगुफा में कठोर तपस्यारत आचार्य धरसेन वृद्धावस्था की चरम-स्थिति में थे। आचार्य इन्द्रनन्दिकृत श्रुतवतार के अनुसार उन्हें दृष्टिवादान्तर्गत द्वितीय अग्रयायणी-पूर्व की पंचमवस्तु के चतुर्थ भाग महाकम्मपयडिपाहुड का ज्ञान था। वे अपने पास सुरक्षित श्रुतांश का स्वयं ग्रथन कर पाने में सम्भवतः असमर्थ थे। उन्होंने आन्ध्रप्रदेश के वेण्णा नदी के तट पर स्थित महिमानगरी में हो रहे मुनि-सम्मेलन के प्रधान आचार्य-अध्यक्ष को एक लेख-सन्देश भेजकर उनसे दो सुबुद्ध, प्रबुद्ध एवं विनम्र शिष्यों को तत्काल ही अपने पास भेजने का अनुरोध किया।

आचार्य गुरु के आदेश से उनके दो शिष्य, जो कि बाद में भूतबलि एवं पुष्पदंत के नाम से प्रसिद्ध हुए, लगभग 1000 कोस की यात्रा कर महिमानगरी से शीघ्र ही आचार्य धरसेन की सेवा में उपस्थित हुए। आचार्य धरसेन परीक्षा-प्रधानी थे। उन्होंने दोनों शिष्यों का अन्तर्बाह्य गहन परीक्षण कर तथा उनकी सुपात्रता से प्रभावित होकर अपने पास सुरक्षित दृष्टिवादांतर्गत महाकम्मपयडि-पाहुडसुत्तं नामक श्रुतांश का उन्हें अध्ययन करा दिया। उसी समय उनका अन्त समय आ गया है। अतः गुरु की समाधि के कारण दोनों शिष्य कहीं शोकाकुल न हो उठें, इसी विचार से उन्होंने उन दोनों को तत्काल ही चन्द्रगुफा छोड़कर विहार करने के लिए आदेश दे दिया। गुरु की आज्ञा दुर्लंघ्य मानकर उन दोनों ने अनिच्छापूर्वक चन्द्रगुफा छोड़ दी।

चातुर्मास का समय समीप था। उसके संभवतः 6-7 दिन ही शेष बचे थे। अतः उतने ही समय में वे लगभग 100 कोस की यात्रा कर अंकुलेश्वर आए और

उन्होंने वहीं चातुर्मास किया। चातुर्मास समाप्त होते ही आचार्य पुष्पदन्त ने तो वनवासी प्रदेश (कर्नाटक) में विहार किया और आचार्य भूतबलि वहाँ से तमिल-देश पहुँचे। गुरु-परम्परा से प्राप्त श्रुतांश के आधार पर जिस साहित्य का उन्होंने ग्रथन किया, वह खण्ड-सिद्धान्त अथवा सतकम्मपाहुड (सत्कर्म प्राभृत) अथवा महाकम्मपयडिपाहुड (महाकर्मप्रभृति पाहुड) कहलाया। चूंकि वर्ण्य-विषय छह खण्डों में विभक्त था, अतः वह छक्खंडागम (षट्खंडागम) के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ और आगे चलकर उसी नाम से वह लोकप्रिय भी हुआ। छक्खंडागम (षट्खंडागम) के प्रथम जीवट्ठाण-खंड में 2375 सूत्र हैं, जो विषयानुक्रम से 17 अधिकारों अर्थात् अध्यायों में विभक्त हैं, तथा इसमें जीव के गुण-धर्मो तथा उनकी विविध दशाओं का सत् संख्या आदि 8 प्ररूपणाओं के द्वारा वर्णन किया गया है।

120. छन्दोलक्षण

छन्दोलक्षण (जिनप्रभीय टीका के अंतर्गत) में नन्दिषेणकृत अजितशान्तिस्तत्व पर जिनप्रभीय टीका के अंतर्गत छंद के लक्षणों का प्रतिपादन किया है। इस टीका में कविदर्पण का उल्लेख मिलता है, नन्दिषेण ने अजितशांतिस्तव में 25 विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया है।

121. छंदशास्त्र

जिस प्रकार भाषा को सार्थक बनाने के लिए व्याकरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार काव्य की सार्थकता के लिए छंद-प्रयोग अपेक्षित है। विषयगत मनोभावों के संचार के लिए तथा कविता में संतुलन बनाये रखने हेतु काव्य में छंद का व्यवहार किया जाता है। मनुष्य को मनुष्य के प्रति संवेदनशील बनाने का सबसे प्रमुख साधन छंद हैं। छंद, ताल, तुक एवं स्वर सम्पूर्ण मनुष्य को एक करते हैं तथा इसके आधार पर मनुष्य का भाव स्वाभाविक रूप से दूसरे तक पहुँच जाता है। स्पष्ट है कि छंद काव्य का अटूट अंग है। प्राकृत साहित्य में छन्द परम्परा का विकास न केवल स्वतंत्र रूप में हुआ, अपितु छंद विषयक प्राकृत की उपलब्धियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा का सीधा सम्बन्ध लोक जीवन से था, अतः यहाँ नृत्य एवं संगीत के आधार पर छंदों का विकास हुआ। प्राकृत में ही

सर्वप्रथम मात्रा-छन्दों की परम्परा का विकास हुआ। संस्कृत का आर्या छन्द प्राकृत के गाथा छन्द के समान है। प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त हुए विभिन्न छंदों के आधार पर विद्वानों द्वारा महत्त्वपूर्ण छन्द ग्रन्थ लिखे गये हैं।

122. छेदसूत्र

अर्धमागधी प्राकृत में लिखे गये ग्रन्थ छेदसूत्र जैन आचार की कुंजी हैं, जैन संस्कृति की अद्वितीय निधि हैं, जैन साहित्य की गरिमा है। छेदसूत्रों में श्रमणों की आचार-संहिता का प्रतिपादन किया गया है। विशुद्ध आचार-विचार को समझने के लिए छेदसूत्रों का अध्ययन आवश्यक है। श्रमण जीवन की पवित्रता को बनाये रखने वाले ये उत्तम श्रुत हैं। दैनिक जीवन में अत्यन्त सावधान रहने पर भी दोष लगना स्वाभाविक है। छेदसूत्रों में उन दोषों की सूची एवं उसके लिये दिये गये प्रायश्चित्त का विधान है। वस्तुतः छेदसूत्रों का उद्देश्य विभिन्न देशकाल में होने वाले साधु-साध्वियों की परिस्थितिवश उलझी समस्याओं का निराकरण करना तथा मोह, अज्ञान एवं प्रमाद के कारण सेवित दोषों से संयम की रक्षा करना है। इस दृष्टि से छेदसूत्रों की विषयवस्तु को चार विभागों में बाँटा गया है - 1. उत्सर्गमार्ग 2. अपवादमार्ग 3. दोष सेवन 4. प्रायश्चित्त विधान। मूलसूत्रों की तरह छेदसूत्रों की संख्या को लेकर विद्वान एकमत नहीं हैं। समाचारीशतक में समयसुन्दरगणि ने छेदसूत्रों की संख्या छः बताई है- 1. दशश्रुतस्कन्ध 2. व्यवहार 3. बृहत्कल्प 4. निशीथ 5. महानिशीथ 6. जीतकल्प। नन्दीसूत्र में जीतकल्प को छोड़कर शेष पाँच नाम मिलते हैं। पुनरुद्धार किया जाने के कारण कुछ परम्पराएँ महानिशीथ को आगम की कोटि में नहीं मानती है।

123. जंबूसामिचरियं (गुणपाल मुनि)

जंबूचरित प्राकृत का गद्य-पद्य मिश्रित पौराणिक चरितकाव्य है। इसके रचयिता वीरभद्रसूरि के प्रशिष्य गुणपाल मुनि है। इसका रचनाकाल अनुमानतः 9वीं शताब्दी माना गया है। इस चरितकाव्य का मूल स्रोत वसुदेवहिण्डी नामक कथाग्रन्थ है। प्रस्तुत चरितकाव्य की कथावस्तु 16 उद्देशों में विभक्त है, जिनमें अंतिम केवली जंबूस्वामी के आदर्श जीवन-चरित्र को समग्रता के साथ वर्णित किया गया है। नायक के चरित को विकसित करने के लिए वर्तमान जीवन के

साथ-साथ उनके पूर्वभवों के विभिन्न प्रसंगों को भी मनोरंजक ढंग से प्रस्तुत किया गया है। जंबूकुमार के पूर्वभवों के वर्णन में भवदेव के भव का वर्णन अत्यंत रोचक है, जिसमें तपस्वी हो जाने पर भी भवदेव अपनी नव-विवाहिता पत्नी नागिला को स्मरण करता रहता है। इस काव्य का मूल उद्देश्य जीवन की चिरन्तन समस्याओं पर प्रकाश डालना तथा सांसारिक दुःख एवं संतापों से निवृत्ति प्राप्त करना है। जंबूकुमार द्वारा अपनी नव-विवाहिता आठ रानियों को संसार की नश्वरता का परिज्ञान कराने वाली दृष्टान्त कथाएँ सरस एवं शिक्षाप्रद हैं। उनके माध्यम से जैन दर्शन के सिद्धान्तों, आचार-व्यवहार आदि का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। धार्मिक वातावरण से व्याप्त यह ग्रन्थ काव्यात्मक सरसता को भी लिए हुए है। उपदेशों को भी वक्रोक्तियों द्वारा सरस बनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। यथा -

उवयारसहस्सेहिं वि, वंकं को तरइ उज्जुयं काउं।
सीसेण वि वुब्भंतो, हरेण वंको वि मयंको ॥ (गा. 15.34)

अर्थात् - हजारों उपकार करने के द्वारा भी टेढ़े व्यक्ति को सीधा करने में कौन समर्थ हो सकता है? जैसे शिव द्वारा सिर पर धारण किये जाने पर भी चन्द्रमा टेढ़ा ही रहता है।

महाराष्ट्री प्राकृत में रचित यह काव्य 16 उद्देशों में विभक्त है। प्रथम दो उद्देशों में 'समराइच्चकहा' के समान कथाओं के अर्थकथा, काम कथा, धर्मकथा एवं संकीर्णकथा - ये चार भेद बतलाकर धर्मकथा को ही रचना का प्रतिपाद्य विषय बतलाया है और तीसरे उद्देश से कथा प्रारम्भ की गई है। चौथे और पाँचवें में जम्बूस्वामी के पूर्वभवों का वर्णन दिया गया है। छठे में जम्बू का जन्म, शिक्षा, यौवन आदि का वर्णन है। सातवें में उनके वैराग्य की ओर प्रवृत्ति, माता-पिता द्वारा संसार-प्रवृत्ति के लिए विवाह। अगले उद्देशों में जम्बूस्वामी ने आठ पत्नियों तथा घर में घुसकर बैठे प्रभव नामक चोर तथा उसके साथियों को नाना आख्यानों, दृष्टान्तों, कथाओं आदि से वैराग्यवर्धक उपदेश सुनाये और अन्त में उन्होंने श्रमण-दीक्षा ग्रहण की और केवलज्ञान प्राप्त कर सिद्धि पाई।

इसमें काव्य-लेखक ने कथाक्रम को ऐसा व्यवस्थित किया है कि पाठक की जिज्ञासा और कुतूहल प्रारंभ से अन्त तक बने ही रहते हैं। इसमें वर्णनों की विविधता देखी जाती है। यह काव्य प्राकृत गद्य और पद्य के सुन्दर नमूने प्रस्तुत करता है। यहाँ धार्मिक कथा का आदर्श रूप दिया गया है। नायक को अपनी वीरता प्रकट करने का कहीं अवसर भी नहीं आया। यह कृति परवर्ती कवियों का आदर्श रही है।

124. जंबूसामिचरियं (जिनविजयकृत)

यह जंबूसामिचरियं ग्रन्थ प्राकृत चरितों में अपनी विशेषता रखता है क्योंकि इसकी रचना ठीक उसी प्रकार की अर्ध-मागधी प्राकृत में उसी गद्य-शैली से हुई है जैसी आगमों की। वर्णनों को संक्षेप में बतलाने के लिए यहाँ भी 'जाव', 'जहा' आदि का उपयोग किया गया है। इस से यह रचना आगमों के संकलनकाल (5वीं शता.) के आस पास की प्रतीत होती है परन्तु ग्रन्थ के अन्त में एक प्राकृत पद्य से सूचित किया गया है कि इस ग्रन्थ को विजयदया सूरीश्वर के आदेश से जिनविजय ने लिखा, और इस ग्रन्थ की प्रति सं. 1814 के फाल्गुन सुदी 9 शनिवार के दिन नवानगर में लिखी गई थी। किन्तु वास्तविक रचनाकाल वि. सं. 1775 से 1809 के बीच आता है क्योंकि तपागच्छ-पट्टावली में 64 वें पट्टधर विजयदयासूरि का यही समय दिया गया है। जिनविजय नाम के अनेक मुनि हुए हैं। उनमें एक क्षमा विजय के शिष्य थे और दूसरे माणविजय के शिष्य जो कि विजयदयासूरि के समकालीन बैठते हैं। अधिक संभावना है कि वे माणविजय के शिष्य हों क्योंकि उनकी श्रीपालचरित्ररास, धन्नशालिभद्ररास आदि रचनाएँ मिलती हैं।

125. जम्बुद्दीवपण्णत्ती (उपांग)

अर्धमागधी आगम साहित्य में जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को कहीं पाँचवा उपांग माना है तो कहीं छठवाँ। इस उपांग में एक अध्ययन एवं सात एवं वक्षस्कार (प्रकरण) हैं। इनमें क्रमशः भरतक्षेत्र, कालचक्र, भरत चक्रवर्ती, चुल्ल हिमवंत, जिन-जन्माभिषेक, जम्बूद्वीप एवं ज्योतिष्क देवों का वर्णन है। प्रस्तुत आगम भूगोल की दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जैन दृष्टि से ऋषभदेव का प्रागऐतिहासिक

जीवन चरित का इसमें वर्णन हुआ है। भरत की दिग्विजय, भरत एवं किरातों के युद्ध, तीर्थंकर के कल्याण-महोत्सव, बहत्तर कलाएँ, स्त्रियों की विशिष्ट चौसठ कलाएँ तथा अनेक शिल्प आदि का भी इसमें वर्णन हुआ है।

इस उपांग में एक अध्ययन है और सात वक्षस्कार है। उपलब्ध मूलपाठ का श्लोक प्रमाण 4146 है। 178 गद्यसूत्र हैं और 52 पद्यसूत्र हैं। प्रथम पक्षस्कार (परिच्छेद) में भरतक्षेत्र का वर्णन है। सर्वप्रथम नमस्कार महामन्त्र है। मिथिलानगरी में जितशत्रु राजा था। उसकी रानी का नाम धारिणी था। उस नगरी के मणिभद्र नामक चैत्य में श्रमण भगवान् महावीर का शुभागमन हुआ। उस समय इन्द्रभूति गौतम ने जम्बूद्वीप के सम्बन्ध में जिज्ञासा प्रस्तुत की। उत्तर में महावीर ने कहा – जम्बूद्वीप में अवस्थित पदवरवेदिका एक वनखण्ड से घिरी हुई है। वनखण्ड के मध्य में अनेक पुष्करणियाँ, वापिकाएँ, मंडप, गृह और पृथ्वीशिलापट्ट है। वहाँ पर अनेक व्यन्तर, देव और देवियाँ कमनीय क्रीड़ा करते है। जम्बूद्वीप के विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपराजित नाम के चार द्वार हैं। जम्बूद्वीप में हिमवान पर्वत के दक्षिण में भरतक्षेत्र है।

प्रस्तुत आगम में प्राचीन भूगोल का महत्त्वपूर्ण संकलन है। जैनदृष्टि से सृष्टि विद्या के बीज इसमें उपलब्ध होते हैं। आदि तीर्थंकर ऋषभदेव का प्राग्ऐतिहासिक जीवन चरित्र भी इसमें मिलता है। सम्राट भरत की दिग्विजय का वर्णन भी प्राप्त होता है। तीर्थंकरों के कल्याणक उत्सवों का निरूपण पाया जाता है। जन्मोत्सव का जैसा निरूपण इस ग्रन्थ में किया गया है, वैसा ही पुराणों में पाया जाता है।

126. जयधवला टीका

आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने कसायपाहुड प्राचीन ग्रन्थ का व्याख्यान किया तथा आचार्य यतिवृषभ ने इस पर चूर्णि सूत्रों की रचना की है। आचार्य वीरसेन ने जयधवला नाम की टीका लिखना आरम्भ किया था। तथा बीस हजार प्रमाण टीका लिखने के अनन्तर ही उसका स्वर्गवास हो गया। फलत: उनके इस महान् कार्य को उनके योग्य शिष्य आचार्य जिनसेन ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण अवशेष टीका लिखकर ईस्वी सन् 837 में इसे पूर्ण किया। इस प्रकार जयधवला टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

127. जयपाहुड

जयपाहुड निमित्तशास्त्र का ग्रंथ है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। इसे जिनभाषित कहा गया है। यह ईसा की 10वीं शताब्दी के पूर्व की रचना है। प्राकृत में रचा हुआ यह ग्रंथ अतीत, अनागत आदि से सम्बन्धित नष्ट, मुष्टि, चिंता, विकल्प आदि अतिशयों का बोध कराता है। इससे लाभ-अलाभ का ज्ञान प्राप्त होता है। इसमें 378 गाथाएँ हैं जिनमें संकट विकटप्रकरण, उत्तराधरप्रकरण, अभिघात, जीवसमास, मनुष्यप्रकरण, पक्षिप्रकरण, चतुष्पद, धातुप्रकृति, धातुयोनि चिंताभेदप्रकरण तथा लेखगंडिकाधिकार में संख्याप्रमाण, कालप्रकरण, लाभगंडिका, नक्षत्रगंडिका स्ववर्गसंयोगकरण, परवर्गसंयोगकरण, सिंहावलोकितकरण, गजविलुलित, गुणाकारप्रकरण, अस्त्र विभागप्रकरण आदि से सम्बन्धित विवेचन है।

128. जार्ज ग्रियर्सन द्वारा विभिन्न प्राकृतों का अध्ययन :

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत भाषा के विभिन्न रूपों का अध्ययन करना प्रारम्भ कर दिया था। इस समय के विद्वानों में जार्ज ग्रियर्सन का नाम विशेष उल्लेखनीय है। सामान्य-भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में उनका जो योगदान है, उतना ही प्राकृत और अपभ्रंश भाषा के अध्ययन के क्षेत्र में भी। सन् 1906 में गियर्सन ने पैशाची प्राकृत के सम्बन्ध में **द पैशाची लेंग्वेज आफ नाथ-वेस्टर्न- इण्डिया** नाम से एक निबन्ध लिखा, जो लन्दन में छपा था। 1969 ई. में दिल्ली से इसका दूसरा संस्करण निकला है। पैशाची प्राकृत की उत्पत्ति एवं उसका अन्य भाषाओं के साथ क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर आपने विशेष अध्ययन कर 1912 ई. में **द प्रिवेशन आफ पैशाची एण्ड इट्स रिलेशन टु अदर लैंग्वेज** नामक निबन्ध के रूप में प्रकाशित किया। 1913 ई. में आपने ढक्की प्राकृत के सम्बन्ध में अध्ययन प्रस्तुत किया- **अपभ्रंश एकार्डिंग टू मार्कण्डेय एण्ड ढक्की प्राकृत**। इनके अतिरिक्त गियर्सन का प्राकृत के भेद प्रभेदों के सम्बन्ध में अध्ययन निरन्तर चलता रहा है। द प्राकृत विभाषाज एन अरवेकवर्ड वाय हेमचन्द्र ,प्राकृत धात्वादेश ,पैशाची आदि निबन्ध प्राकृत भाषा एवं अपभ्रंश के अध्ययन के प्रति गियर्सन की अभिरुचि को प्रगट करते हैं।

129. जिनदत्तसूरि आचार्य (दादागुरू)

दादागुरु के विरुद से विख्यात आचार्य जिनदत्तसूरि विक्रम की 12वीं शताब्दी के ऐसे महान प्रभावक आचार्य हुए हैं जिनकी कीर्ति आज भी भारत के अनेक प्रान्तों में सुदूर तक व्याप्त है। वे बड़े ही निर्भीक, प्रत्युत्पन्नमति और स्पष्टवादी थे। जिनदत्तसूरि के पिता का नाम वाच्छिग था। वाच्छिग गुजरात के प्रतिष्ठित एवं राजमान्य हुम्मड कुलोत्पन्न श्रेष्ठिवर थे। उनका मूल निवासस्थान गुजरात का ऐतिहासिक नगर धवलकपुर धोलका था। वाच्छिग तत्कालीन गुजरात के राज्य के मंत्री थे। उनकी धर्मपत्नी का नाम था बाहड़देवी। बाहड़देवी बड़ी धर्मनिष्ठ एवं पतिपरायणा नारी-रत्न थी। जिनदत्तसूरि का प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं पर पूर्ण अधिकार था एवं उनकी शैली और अभिव्यंजना शक्ति अद्भुत थी। उनकी रचनाएँ तत्कालीन साहित्य और भाषा विज्ञान के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है।

130. जिनदत्तचरित (सुमतिगणि)

यह रचना प्राकृत गद्य-पद्य में 750 ग्रन्थाग्र-प्रमाण है। इसकी रचना पाडिच्छयगच्छ के नेमिचन्द्र के प्रशिष्य एवं सर्वदेवसूरि के शिष्य सुमतिगणि ने की है। ग्रन्थ का रचनाकाल निश्चित नहीं है, तथापि एक प्राचीन प्रति में उसके अणहिलपाटन में सं. 1246 में लिखाये जाने का उल्लेख है अतः ग्रन्थ की रचना इससे पूर्व होना निश्चित है। इसमें वणिक् पुत्रों और सांयात्रिकों की यात्रा का रोचक वर्णन है।

जिनदत्ताख्यान के कर्त्ता सुमतिसूरि हैं जो पाडिच्छयगच्छीय आचार्य सर्वदेवसूरि के शिष्य थे। इसके सिवाय ग्रंथकर्त्ता का कोई विशेष परिचय नहीं मिलता। रचना साधारण कोटि की है। यहाँ बहुत सी पहेलियाँ दी हुई हैं। कथा का नायक जिनदत्त चंपानगरी के विमलसेठ की कन्या विमलमति के साथ विवाह करता है। उसे जुआ खेलने का शौक है। जुए में वह अपना सब धन खो देता है, और परदेश यात्रा के लिये निकल पड़ता है। दधिपुर नगर में पहुँचकर वह अपने कौशल से महाव्याधि से पीड़ित राजकन्या श्रीमती को निरोग करता है और अन्त में उसके साथ जिनदत्त का विवाह हो जाता है। अन्त में जिनदत्त अपनी पत्नियों के समक्ष अपने वास्तविक रूप को प्रकट कर देता है और अपनी चारों पत्नियों के

साथ आनन्दपूर्वक रहने लगता है। कालांतर में माता-पिता की अनुमति पूर्वक अपनी पत्नियों और मित्रों के साथ वह दीक्षा ग्रहण कर लेता है।

131. जिनदत्तचरित (अज्ञात)

साधुपरिचर्या या मुनि-आहारदान के प्रभाव से व्यक्ति जीवन-प्रसंग में खतरों से बचता हुआ, अपनी कितनी शुद्धि कर सकता है इस तथ्य को बतलाने के लिए जिनदत्त के चरित्र को लेकर कई कथाग्रन्थ संस्कृत प्राकृत में लिखे गये हैं। जिनदत्त ने अपने पूर्वभव में मात्र पूर्णिमा के दिन एक मुनिराज को परिचर्यापूर्वक आहारदान दिया। उसके प्रभाव से वह अपने इस भव में द्यूतव्यसन से धन-सम्पत्ति खोकर भी नाना प्रकार के चमत्कारी एवं साहसिक कार्य कर सका। उसने वेश परिवर्तन किया, समुद्र-यात्रा की, हाथी को वश में किया, राजकन्याओं से विवाह किया और नाना सुख भोगकर अन्त में तपस्याकर स्वर्ग प्राप्त किया।

इस कथानक को लेकर सबसे प्राचीन प्राकृत गद्य में अज्ञातकर्तृक कृति मिलती है जिसकी हस्तलिखित प्रति मणिभद्रयति ने वरनाग के लिए सं. 1186 में तैयार की थी। इसमें जिनदत्त का पूर्वभव प्रारम्भ में न देकर अन्त में दिया गया है।

132. जिनदासगणी महत्तर

निर्युक्ति साहित्य और भाष्य साहित्य की रचना के पश्चात् जैनाचार्यों के अन्तर्मानस में आगमों पर गद्यात्मक व्याख्या साहित्य लिखने की भावना उत्पन्न हुई। उन्होंने शुद्ध प्राकृत में और संस्कृत मिश्रित प्राकृत में व्याख्याओं की रचना की जो आज चूर्णि साहित्य के नाम से विश्रुत है।

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओं में विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। निशीथ निशेषचूर्णि के उपसंहार में चूर्णिकार का नाम जिनदास आया है और ग्रन्थ के प्रारंभ में प्रद्युम्न क्षमाश्रमण का विद्यागुरू के रूप में उल्लेख हुआ है। उत्तराध्ययनचूर्णि के अन्त में चूर्णिकार का परिचय है। उनके सद्गुरू का नाम वाणिज्यकुलीन, कोटिकगणीय, वज्रशाखीय गोपालगणी महत्तर आया है पर स्वयं चूर्णिकार का नाम स्पष्ट रूप से नहीं आया है। विज्ञों का मन्तव्य है कि चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर भाष्यकार जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण के पश्चात् और आचार्य हरिभद्र से पहले हुए हैं क्योंकि भाष्य की अनेक गाथाओं का उपयोग चूर्णियों में हुआ है और आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियों में चूर्णियों का

उपयोग किया है। आचार्य जिनदासगणी का समय विक्रम सं. 650-750 के मध्य होना चाहिए। नन्दी चूर्णि के उपसंहार में उसका रचना समय शक संवत् 598 अर्थात् विक्रम सं. 733 है, उससे भी यही सिद्ध होता है।

जिनदासगणी महत्तर ने कितनी चूर्णियाँ लिखीं यह अभी तक पूर्ण रूप से निश्चित नहीं हो सका है तथापि परम्परा के अनुसार उनकी निम्नलिखित चूर्णियाँ मानी जाती हैं (1)निशीथविशेषचूर्णि, (2)नन्दीचूर्णि, (3)अनुयोगद्वारचूर्णि, (4) आवश्यकचूर्णि, (5) दशवैकालिकचूर्णि, (6) उत्तराध्ययनचूर्णि, (7)सूत्रकृतांगचूर्णि।

133. जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

विशेषावश्यकभाष्य के प्रणेता आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियों के कारण जैन साहित्य के इतिहास में एक विशिष्ट स्थान है। ऐसा होते हुए भी उनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। उनके जन्म, शिष्यत्व आदि के विषय में कतिपय उल्लेख मिलते हैं। उनके सम्बन्ध में एक आश्चर्यजनक उल्लेख यह भी मिलता है कि वे हरभिद्रसूरि के पट्टधर शिष्य थे, जबकि हरिभद्रसूरि आचार्य जिनभद्र के लगभग सौ वर्ष बाद हुए हैं। विविध उल्लेखों के आधार पर आचार्य जिनभद्र का उत्तरकाल वि.सं. 650 के आसपास सिद्ध होता है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने चौदह वर्ष की अल्पवय में दीक्षा ग्रहण की। तीस वर्ष की अपनी सामान्य श्रमण पर्याय में विशुद्ध श्रमणाचार के पालन के साथ-साथ उन्होंने आगमों, धर्मग्रन्थों, न्याय, व्याकरण, काव्य, स्व-पर सिद्धान्तों एवं नीतिशास्त्र का तलस्पर्शी अध्ययन किया। वी.नि. सं. 1055 में 29वें युगप्रधानाचार्य हरिलसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने पर जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण 30वें युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन हुए।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जीतकल्प, सभाष्य विशेषवती, बृहत्क्षेत्रसमास, ध्यानशतक, बृहत्संग्रहणी और वी. नि. सं. 1076 को चैत्र शुक्ला 15 बुधवार के दिन वल्लभी में महाराजा शीलादित्य प्रथम के राज्यकाल में विशेषावश्यकभाष्य की टीका की रचना कर जिनशासन की महती सेवा की। उन्होंने 90 वर्ष के अपने साधनाकाल में विपुल साहित्य सर्जन कर जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण 104 वर्ष 6 माह और 6 दिन की आयु पूर्ण कर वी. नि.स. 1115 में स्वर्गस्थ हुए। उन्होंने विशेषावश्यकभाष्य आदि नौ ग्रंथों का निर्माण किया था। इनमें से सात ग्रन्थ पद्यबद्ध प्राकृत में हैं। एक ग्रन्थ– अनुयोगद्वारचूर्णि प्राकृत गद्य में है। आचार्य जिनभद्र आगमों के अद्वितीय व्याख्याता थे, युगप्रधान पद के धारक थे, श्रुति आदि अन्य शास्त्रों के कुशल विद्वान् थे, विभिन्न दर्शनशास्त्र, लिपिविद्या, गणितशास्त्र, छन्दशास्त्र, शब्दशास्त्र आदि के अद्वितीय पंडित थे, स्व–पर सिद्धान्त में निपुण थे, स्वाचार–पालन में प्रवण एवं सर्व जैन श्रमणों में प्रमुख थे। भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अपने समय के एक प्रभावशाली आचार्य थे।

134. जिनरत्नसूरि

निर्वाणलीलावतीकथा काव्य के अन्त में ग्रन्थकर्ता की प्रशस्ति दी गई है जिससे इसके रचयिता जिनरत्नसूरि की गुरुपरम्परा पर प्रकाश पड़ता है। वे सुधर्मागच्छ के थे। इसी गच्छ में निव्वाणलीलावई प्राकृत महाकाव्य के रचयिता जिनेश्वरसूरि हुए। उनकी शिष्यपरम्परा में क्रमशः जिनचन्द्रसूरि - नवांगी टीकाकार अभयदेवसूरि – जिनवल्लभसूरि – जिनदत्तसूरि - जिनचन्द्रसूरि – जिनपतिसूरि – जिनेश्वरसूरि हुए। इन जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनरत्नसूरि हुए।

135. जिनेश्वरसूरि–कथाकोशप्रकरण

इस कृति के रचयिता जिनेश्वरसूरि हैं। ये नवीन युग संस्थापक माने जाते हैं। इन्होंने चैत्यवासियों के विरुद्ध आन्दोलन आरम्भ किया और त्यागी तथा गृहस्थ दोनों प्रकार के समूहों ने नये प्रकार के संगठन किये। चैत्यों की सम्पत्ति और संरक्षण के अधिकारी बने। शिथिलाचारी यतियों को आचारीप्रवण और श्रमणशील बनाया। 11 वीं शताब्दी में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के यतियों में नवीन स्फूर्ति और नई चेतना उत्पन्न करने का कार्य प्रमुखरूप से जिनेश्वरसूरि ने किया।

पुरओ दुल्लहमहिवल्लहस्स अणहिल्लावाडए पयडं।
मुक्का वियारिऊणं सीहेणव दव्वलिंगिया ॥

–सुगुरुपारतन्त्रयस्तव गा. 10

स्पष्ट है कि गुजरात के अणहिलवाड के राजा दुर्लभराज की सभा में नामधारी आचार्यों के साथ जिनेश्वरसूरि ने वाद-विवाद कर, उनका पराजय किया और वहाँ वसतिवास की स्थापना की। जिनेश्वरसूरि के भाई का नाम बुद्धिसागर था। ये मध्यदेश के निवासी और जाति के ब्राह्मण थे, इनके पिता का नाम कृष्ण था। जिनेश्वरसूरि ने जैनधर्म का खूब प्रचार और प्रसार किया। इसके द्वारा रचित पाँच ग्रन्थ हैं- (1) प्रमालक्ष्म, (2) निर्वाणलीलावतीकथा, (3) षट्स्थानप्रकरण, (4) पंचलिंगीप्रकरण और (5) कथाकोशप्रकरण

जिनेश्वरसूरि का श्वेताम्बर सम्प्रदाय में एक विशिष्ट स्थान है। इन्होंने शिथिलाचारग्रस्त चैत्यवासी यतिवर्ग के विरुद्ध आन्दोलन कर सुविहित या शास्त्रविहित मार्ग की स्थापना की थी और श्वेताम्बर संघ में नई स्फूर्ति और नूतन चेतना उत्पन्न की थी। इनके गुरु का नाम वर्द्धमानसूरि था और भाई का नाम बुद्धिसागरसूरि था। ये ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे पर धारा नगरी के सेठ लक्ष्मीपति की प्रेरणा से वर्धमानसूरि के शिष्य हुए थे।

136. जीतकल्पसूत्र (जीयकप्पो)

जीतकल्पसूत्र के रचयिता विशेषावश्यकभाष्य के कर्त्ता जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण हैं। जीत या जीय का शाब्दिक दृष्टि से अर्थ है- परम्परा से आगत आचार, मर्यादा, व्यवस्था या प्रायश्चित्त से सम्बन्ध रखने वाला एक प्रकार का रिवाज। इस दृष्टि से इस सूत्र में जैन श्रमणों के आचार-व्यवहार से सम्बन्धित प्रायश्चित्तों पर विचार किया गया है। 103 गाथाओं में प्रायश्चित्त का महत्त्व तथा आत्मशुद्धि में उसकी उपादेयता का प्रतिपादन किया गया है। इसमें प्रायश्चित्त के 10 भेदों का वर्णन हुआ है -

1. आलोचना 2. प्रतिक्रमण 3. मिश्र-आलोचना-प्रतिक्रमण 4. विवेक 5. व्युत्सर्ग 6. तप 7. छेद 8. मूल 9. अनवस्थाप्य 10. पारांचिक।

137. जीतकल्पभाष्य

जीतकल्पभाष्य के रचयिता भी जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण हैं। प्रस्तुत भाष्य में वृहत्कल्प-लघुभाष्य, व्यवहारभाष्य, पन्चकल्पमहाभाष्य, पिण्ड निर्युक्ति प्रभृति अनेक ग्रंथों से गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। अत: यह एक संग्रह ग्रंथ है। मूल

जीतकल्प में 103 गाथाएँ हैं और इस स्वोपज्ञ भाष्य में 2606 गाथाएँ हैं। इसमें जीतव्यवहार के आधार पर जो प्रायश्चित्त दिये जाते हैं उनका संक्षेप में वर्णन है। चारित्र में जो स्खलनाएँ हो जाती हैं उनकी शुद्धि के लिए प्रायश्चित का विधान है।

138. जीव समास

इसकी रचना पूर्वधारियों द्वारा की गई है। ज्योतिष्करंडक की भाँति जैन आगमों में वलभी वाचना का अनुसरण करके इसकी भी रचना हुई है। इसमें 286 गाथाओं में सत्, प्रमाण, क्षेत्र, स्पर्श, काल, अन्तर और भाव की अपेक्षा जीवाजीव का विचार किया गया है। इस पर मलधारि हेमचन्द्रसूरि ने विक्रम संवत् 1234 ईसवीं सन् 1107 में 700 श्लोकप्रमाण वृहदवृत्ति की रचना की है। शीलांक आचार्य ने भी इस पर वृत्ति लिखी है।

139. जैन आगम एवं प्राकृत

प्राकृत भाषा का प्रयोग जनबोली के रूप में होने पर भी वह व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध एवं व्यवस्थित भाषा थी। विकल्प रूपों का , देशी शब्दों का प्रयोग उसकी विशेषता है, किन्तु अशुद्धता नहीं। आज भी प्रान्तीय भाषाएँ जनता में बोली जाती हैं। जैसे राजस्थानी भाषा का प्रयोग पूरे राजस्थान और देश में जहाँ भी राजस्थानी हैं वहाँ पर होता है। स्थान भेद से मारवाड़ी, बागड़ी, हाडौती, ढुँढारी, मेवाडी आदि अनेक रूप राजस्थानी के व्यवहार में आते हैं। इन सबके लिखित व्याकरण ग्रंथ सभी जनता ने नहीं पढ़े हैं किन्तु फिर भी लोग जब राजस्थानी का व्यवहार करते हैं तो परम्परा के अनुसार उसमें एक व्यवस्था का ध्यान रखते हैं। भाषा की व्याकरण संबंधी व्यवस्था ही उसे अभिव्यक्ति का बल प्रदान करती है। यही बात वैदिक युग और उसके बाद की प्राकृतों के संबंध में हैं। स्थानीय भेदों के उपरान्त भी प्राकृतों में व्याकरण की व्यवस्था रही है। अन्यथा वह अपने समय की साहित्यिक भाषा छान्दस् व संस्कृत के साथ-साथ नहीं चल पाती। सिद्धान्त और काव्य ग्रंथों की भाषा बनने के लिए व्याकरण की व्यवस्था प्राकृत में होना आवश्यक थी। कोई भी कवि/आचार्य व्याकरण से रहित प्राकृत भाषा का प्रयोग कर विद्वत् समाज में समादृत नहीं हो सकता था। प्राकृत भाषा की व्याकरण संबंधी शुद्धता और व्यवस्था के अनेक उदाहरण/उल्लेख जैन आगम परम्परा के ग्रंथों एवं उनकी व्याख्याओं में उपलब्ध हैं।

जैन परम्परा के प्राचीन ग्रंथ प्राकृत भाषा में निबद्ध हैं। श्रमण परम्परा के पोषक वैदिक युगीन व्रात्य आदि प्राचीन प्राकृत का व्यवहार करते थे। उनकी प्राकृत साहित्यिक भाषा छान्दस् से भिन्न थी। वह शूरसेनों की भाषा प्राकृत की परम्परा में विकसित हुई थी। श्रमण परम्परा के महापुरुष भगवान् महावीर ने भी अपने उपदेशों की भाषा जन-बोली प्राकृत को बनाया। महावीर के उपदेश दो रूपों में संरक्षित और संकलित हुए। गणधर और आचार्यों की परम्परा द्वारा स्मरण द्वारा महावीर के उपदेशों को द्वादशांग श्रुत के रूप में सुरक्षित रखा था, वह क्रमशः विलुप्त होता गया। अतः शेष श्रुतांश को दक्षिण भारत के दिगम्बर जैनाचार्यों ने स्वतन्त्र ग्रंथों की रचना कर और उसे ईसा की प्रथम शताब्दी में लिपिबद्ध कर सुरक्षित किया। दिगम्बर परम्परा के अनुसार ई. पू. प्रथम शताब्दी में गुणधराचार्य ने कसायपाहुड नामक ग्रंथ की रचना 180 शौरसेनी प्राकृत गाथाओं में की। दिगम्बर परम्परा में लिपिबद्ध श्रुत ग्रंथों की श्रेणी में गुणधराचार्य को प्रथम श्रुतकार स्वीकार किया गया है। इन्हीं के परवर्ती आचार्य धरसेन की प्रेरणा से आचार्य पुष्पदन्त एवं मुनिश्री भूतबलि (ईसा के 73 से 87 वर्ष के लगभग) ने षट्खण्डागम नामक ग्रंथ की शौरसेनी प्राकृत में रचना की और ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी (श्रुतपंचमी) को उसकी लिखित ताड़पत्रीय प्रति की संघ ने पूजा की। ग्रंथलेखन का यह क्रम निरन्तर चलता रहा। जैन आगमों की यह सुरक्षा तत्कालीन प्रमुख प्राचीन प्राकृत शौरसेनी में की गयी। यही शौरसेनी प्राकृत तब दक्षिण से उत्तर और पूर्व से पश्चिम तक संपर्क भाषा प्राकृत के रूप में प्रसिद्ध थी। अतः दिगम्बर परम्परा के इन ग्रंथों में कहीं इस प्राकृत के नामोल्लेख की आवश्यकता नहीं हुई। और इस भाषा की परम्परा आगे 12-13 वीं शताब्दी तक ग्रंथलेखन में चलती रही।

महावीर के उपदेशों को सुरक्षित रखने का दूसरा प्रयत्न श्वेताम्बर आचार्यों की परम्परा में भी हुआ। श्रुत एवं स्मरण की परम्परा से उन्होंने महावीर के उपदेशों को 11 अंग ग्रंथों के रूप में संकलित किया। फिर शेष उपदेशों को उपांग एवं मूलसूत्र ग्रंथों में संकलित किया। और संपूर्ण कार्य होने पर ईसा की पांचवी शताब्दी के लगभग वल्लभीनगर में संपूर्ण आगम ग्रंथों को प्रथम बार लिपिबद्ध भी कर लिया गया। ये आगम जिस प्राकृत भाषा में संकलित किये गये, उसे अर्द्ध

मगध की प्राकृत कहा गया है। शौरसेनी और मागधी प्राकृत के मेल से निर्मित यह अर्धमागधी प्राकृत साहित्य के लिए नयी भाषा होने के कारण इसके नाम का उल्लेख भी इन आगम ग्रंथों में किया गया। यह अर्धमागधी प्राकृत केवल श्वेताम्बर परम्परा के धार्मिक ग्रंथों की भाषा बनी रहे, इस कारण पांचवीं शताब्दी के बाद इस अर्धमागधी प्राकृत में फिर अन्य कोई ग्रंथ नहीं लिखा गया। क्योंकि यह विशिष्ट प्राकृत भाषा जन-सामान्य में प्रचलित भी नहीं थी। वह देवभाषा, आर्ष भाषा बन कर रह गयी। इसलिए श्वेताम्बर परम्परा के परवर्ती धार्मिक कथा-ग्रंथों और व्याख्या साहित्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया गया, जो शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है। दिगम्बर परम्परा ने धार्मिक कथा और काव्य ग्रन्थों के लिए प्राकृत से विकसित अपभ्रंश भाषा का प्रयोग किया। इस प्रकार भगवान् महावीर के बाद लगभग दो हजार वर्षों तक जैन ग्रन्थों के साथ शौरसेनी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का सम्बन्ध बना रहा है। अतः प्राकृत जैन परम्परा की मूल भाषा है।

140. जैन, जगदीश चन्द्र

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन, प्राकृत भाषा एवं साहित्य के मूर्धन्य विद्वान् थे। आपका जन्म 20 जनवरी 1909 को उ.प्र. के मुजफ्फरनगर जिले के बसेरा गांव में हुआ था। आपने बनारस में शिक्षा प्राप्त की। दर्शनशास्त्र में आपने एम.ए. किया और बम्बई में हिन्दी के प्रोफेसर रहे। आपने प्राकृत, जैन आगम, कथासाहित्य आदि विषयों पर 50-60 पुस्तकें लिखी हैं। आप 1932-33 में शांतिनिकेतन में भी शोधछात्र के रूप में रहे। 1958-59 में प्रो. जैन प्राकृत शोधसंस्थान वैशाली में भी प्रोफेसर रहे। आप हिन्दी पढ़ाने के लिए पीकिंग यूनिवर्सिटी, चीन में रहे। 1972-74 में डॉ. जैन जर्मनी के कील यूनिसर्विटी में रिसर्च प्रोफेसर के रूप में कार्य किया। यूरोप के विभिन्न विश्वविद्यालयों में डॉ. जैन के व्याख्यान होते रहते थे।

प्रोफेसर जगदीशचन्द्र जैन की प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्राकृत और कथा साहित्य, जैन आगमों में भारतीय समाज आदि जो हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित हैं। आपने स्याद्वादमंजरी का हिन्दी अनुवाद भी किया है। प्राकृत की पुस्तक वसुदेवहिण्डी पर आपका विशेष शोधकार्य रहा है।

डॉ. जैन को सोवियत लेण्ड नेहरू अवार्ड, गवर्नमेन्ट आफ यू.पी. अवार्ड, प्राकृत ज्ञान भारती अवार्ड आदि से सम्मानित किया गया है। डॉ. जैन स्वतन्त्रता सैनानी भी रहे हैं।

141. जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग

सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर के सामाजिक विज्ञान एवं मानविकी महाविद्यालय में संचालित यह जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग 1978 से स्थापित है। अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ बीकानेर एवं राज्य सरकार जयपुर के प्रारम्भिक सहयोग से विश्वविद्यालय में स्थापित इस विभाग में आचार्य एवं विभागाध्यक्ष डॉ. प्रेम सुमन जैन, सह आचार्य डॉ. उदयचन्द जैन एवं सह आचार्य डॉ. हुकमचन्द जैन कार्यरत रहे हैं। विगत 31 वर्षों में विभाग से अब तक बी. ए. प्राकृत के 520, एम. ए. प्राकृत के 230, एम. फिल प्राकृत के 11 एवं जैनविद्या में पीच. डी. के 55 विद्यार्थी सफलतापूर्वक शिक्षण प्राप्त कर चुके हैं। प्राकृत एवं जैनविद्या में प्रमाणपत्र एवं डिप्लोमा पाठ्यक्रमों में भी लगभग 90 विद्यार्थियों ने शिक्षण प्राप्त किया है। राज्य का यह पहला विभाग है जहाँ पर प्राकृत भाषा व साहित्य तथा जैनविद्या की सभी स्तरों के शिक्षण की व्यवस्था है। समाज में समता, समानता और संवेदना तथा राष्ट्र चेतना को विकसित करने के लिए विभाग में पालि, बौद्धधर्म एवं अहिंसा प्रमाण-पत्र पाठ्यक्रम भी संचालित किया गया है।

विभाग के प्राध्यापकों द्वारा प्राकृत एवं जैनविद्या के क्षेत्र में अब तक लगभग 150 शोधपत्रों एवं 35 स्तरीय पुस्तकों का लेखन-प्रकाशन किया गया है। विभाग के स्टॉफ ने देश-विदेश की लगभग 60 संगोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग लिया है। विभाग से जिन शोधार्थियों ने एम.ए. अथवा पीएच. डी. उपाधियों प्राप्त की हैं वे अब विश्वविद्यालय स्तर पर विभिन्न संस्थानों में शिक्षण और शोधकार्य में संलग्न हैं। विभाग के स्टॉफ द्वारा प्राकृत भाषा के प्रचार-प्रसार हेतु प्राकृत भाषा एवं साहित्य की महत्त्वपूर्ण पुस्तकें तैयार की हैं। विभाग का स्टाफ राष्ट्रीय स्तर के प्रमुख प्राकृत शोध संस्थानों की स्थापना एवं संचालन में अकादमिक सहयोग प्रदान कर रहा है।

142. जैनविद्या के खोजी विद्वान् डॉ. जे. जे. बूलर

पाश्चात्य विद्वानों के लिए जैनविद्या के अध्ययन की सामग्री जुटाने वाले प्रमुख विद्वान् डॉ. जे. जे. बूलर थे। उन्होंने अपना अधिकांश जीवन भारतीय हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज में व्यतीत किया। 1866 ई. के लगभग उन्होंने पाँच सौ जैन ग्रन्थ भारत से बर्लिन पुस्तकालय के लिए भेजे थे। जैन ग्रन्थों के अध्ययन के आधार पर डॉ. बूलर ने 1887 ई. में जैनधर्म पर जर्मन भाषा में एक पुस्तक लिखी जिसका अंग्रेजी अनुवाद 1903 ई. में लंदन से **द इण्डियन सेक्टस् ऑफ द जैन्स** के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक में डॉ. बूलर ने कहा कि जैन धर्म भारत के बाहर अन्य देशों में भी फैला है तथा उसका उद्देश्य मनुष्य को सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त करना रहा है। जैनविद्या के महत्वपूर्ण खोजी विद्वान् अल्बर्ड वेबर थे। उन्होंने डॉ. बूलर द्वारा जर्मनी को प्रेषित जैन ग्रन्थों का अनुशीलन कर जैन साहित्य पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। 1882 ई. में प्रकाशित उनका शोधपूर्ण ग्रन्थ Indischen Studien (Indian Literature) जैनविद्या पर विशेष प्रकाश डाला है।

143. जैन विश्व भारती संस्थान

जैन विश्वभारती संस्थान लाडनूँ मुख्यतः जैनविद्या का अनुसंधान केन्द्र है। यहाँ जैनविद्या एवं तुलनात्मक धर्म-दर्शन, प्राकृत एवं जैनागम, अहिंसा, अणुव्रत और शांति शोध, जीवन विज्ञान, प्रेक्षाध्यान एवं योग और समाज कार्य जैसे रचनात्मक शैक्षणिक विभाग शोध की दिशा में गतिशील हैं। संस्थान जहाँ बिना सम्प्रदाय, जाति, पन्थ, धर्म और वर्ग का भेद किए सबको समान प्रशिक्षण देने की व्यवस्था करता है वहां शोधार्थी को विशेष छात्रवृत्ति देकर उसे ज्ञानार्जन की दिशा में प्रोत्साहित भी करता है। संस्थान की स्थापना के बाद अनेक प्रतिभासम्पन्न छात्र छात्राओं को स्नातक, स्नातकोत्तर एवं पीएच.डी. की उपाधियों से अलंकृत कर संस्थान गौरवान्वित हुआ है।

144. जोइन्दु

प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में परमात्मप्रकाश के रचयिता जोइन्दु प्राचीन आध्यात्मिक कवि हैं। श्रुतसागर ने उन्हें भट्टारक भी कहा है। टीकाकार ने उन्हें

योगीन्द्र लिखा है। वर्तमान में इनकी दो रचनाएँ उपलब्ध हैं- परमात्मप्रकाश और योगसार। डॉ. ए.एन. उपाध्ये ने जोइन्दु का समय ईसा की छठी शताब्दी माना है।

145. जोइससार-ज्योतिषसार

इस ग्रन्थ के कर्ता का नाम अज्ञात है। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि प्रथम प्रकीर्ण समाप्तं इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें 287 गाथायें हैं, जिनमें शुभाशुभ तिथि, ग्रह की सबलता, शुभ घड़ियाँ, दिनशुद्धि, स्वरज्ञान, दिशाशूल, शुभाशुभयोग व्रत आदि ग्रहण करने का मुहूर्त्त, क्षौरकर्म का समय आदि वर्णित है।

146. जोईसहीर (ज्योतिषहीर)

जोइसहीर नामक प्राकृत भाषा के ग्रंथ-कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हुआ है। इसमें 287 गाथाएँ हैं। ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि प्रथम प्रकीर्णे समाप्तम्। इससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें शुभाशुभ तिथि, ग्रह की सबलता, शुभ घड़ियाँ, दिनशुद्धि, स्वरज्ञान, दिशाशूल, शुभाशुभ योग, व्रत आदि ग्रहण करने का मुहूर्त, क्षौरकर्म का मुहूर्त और ग्रह-फल आदि का वर्णन है।

147. ज्योतिषसार

ज्योतिष का यह ग्रंथ ठक्कर फेरु द्वारा पूर्व शास्त्रों को देखकर 238 गाथाओं में लिखा गया है। विशेषकर हरिभद्र, नरचंद्र, पद्मप्रभसूरि, जउण, वराह, लल्ल, पराशर गर्ग आदि के ग्रंथों का अवलोकन कर इसकी रचना की गई है। इसके चार द्वार हैं। दिनशुद्धि नामक द्वार में 42 गाथाएँ हैं जिनमें वार, तिथि और नक्षत्रों में सिद्धियोग का प्रतिपादन है। व्यवहारद्वार में 60 गाथायें हैं। इनमें ग्रहों की राशि, स्थिति, उदय, अस्त और वक्र दिन की संख्या का वर्णन है। गणितद्वार में 38 और लग्नद्वार में 18 गाथायें हैं।

ठक्कर फेरू ने इस ग्रंथ में लिखा है कि हरिभद्र, नरचंद्र, पद्मप्रभसूरि, जउण, वराह, लल्ल, पराशर, गर्ग आदि ग्रंथकारों के ग्रंथों का अवलोकन करके इसकी रचना (वि.सं.1372-75 के आसपास) की है। चार द्वारों में विभक्त इस ग्रंथ में कुल मिलाकर 238 गाथाएँ हैं। दिन शुद्धि नामक द्वार में 42 गाथाएँ हैं, जिनमें वार, तिथि और नक्षत्रों में सिद्धि योग का प्रतिपादन है। व्यवहारद्वार में 60 गाथाएँ

हैं, जिनमें ग्रहों की राशि, स्थिति, उदय, अस्त और वक्र दिन की संख्या का वर्णन है। गणितद्वार में 38 गाथाएँ है और लग्नद्वार में 98 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ रत्नपरीक्षादि सप्तग्रन्थसंग्रह नामक ग्रन्थ में राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर से प्रकाशित है।

148. जोइसदार (ज्योतिषद्वार)

जोइसदार नामक प्राकृत भाषा की 2 पत्रों की कृति पाटन के जैन भंडार में है। इसके कर्ता का नाम अज्ञात है। इसमें राशि और नक्षत्रों से शुभाशुभ फलों का वर्णन किया गया है।

149. जोइसचक्कवियार (ज्योति चक्रविचार)

जैन ग्रन्थावली (पृष्ठ 347) में जोइसचक्कवियार नामक प्राकृत भाषा की कृति का उल्लेख है। इस ग्रन्थ का परिमाण 155 ग्रन्थाग्र है। इसके कर्त्ता का नाम विनयकुशल मुनि निर्दिष्ट है।

150. जोणिपाहुड (योनिप्राभृत)

जोडिपाहुड निमित्तशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ था। इसके कर्ता धरसेन आचार्य ईसी सन् की प्रथम और द्वितीय शताब्दी का मध्य है। वे प्रज्ञाश्रमण कहलाते थे। वि. सं. 1556 में लिखी हुई बृहत्‌टिप्पणिका नाम की ग्रंथसूची के अनुसार वीर निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात् धरसेन ने इस ग्रंथ की रचना की थी। ग्रंथ को कूष्यमांडिनी देवी से प्राप्त कर धरसेन ने पुष्पदंत और भूतबलि नामके अपने शिष्यों के लिये लिखा था। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भी इस ग्रंथ का उतना ही आदर था जितना दिगम्बर सम्प्रदाय में। धवलाटीका के अनुसार इसमें मंत्र-तंत्र की शक्ति का वर्णन है और इसके द्वारा पुद्‌गलानुभाग जाना जा सकता है। निशीथविशेषचूर्णि (4.1804पृ. 281) के कथनानुसार आचार्य सिद्धसेन ने जोणिपाहुड के आधार से अश्व बनाये थे, इसके बल से महिषों को अचेतन किया जा सकता था, और धन पैदा कर सकते थे। प्रभावकचरित (5.115-127) में इस ग्रंथ के बल से मछली और सिंह उत्पन्न करने की तथा विशेषावश्यकभाष्य (गाथा 1775) की हेमचन्द्र सूरिकृत टीका में अनेक विजातीय द्रव्यों के संयोग से सर्प, सिंह आदि प्राणी और मणि सुवर्ण आदि अचेतन पदार्थों के पैदा करने का

उल्लेख मिलता) है। कुवलयमालाकार के कथनानुसार जोणिपाहुड में कही हुई बात कभी असत्य नहीं होती। जिनेश्वरसूरि ने अपने कथाकोषप्रकरण में भी इस शास्त्र का उल्लेख किया है। इस ग्रंथ में 800 गाथायें हैं। कुलमण्डन द्वारा विक्रम संवत 1473 ईसवी सन् 1417 में रचित विचारामृतसंग्रह(पृष्ठ 9 आ)में योनिप्राभृत को पूर्वश्रुत से चला आता हुआ स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपियों की खोज जारी है।

जोणिपाहुड (योनिप्राभृत) निमित्तशास्त्र का अति महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। दिगंबर आचार्य धरसेन ने इसकी प्राकृत में रचना की है। वे प्रज्ञाश्रमण नाम से भी विख्यात थे। वि. सं. 1556 में लिखी गई एवं हट्टिप्पणिका नामक ग्रंथ सूची के अनुसार वीर-निर्वाण के 600 वर्ष पश्चात् धरसेनाचार्य ने इस ग्रंथ की रचना की थी। कुष्मांडी देवी द्वारा उपदिष्ट इस पद्यात्मक कृति की रचना आचार्य धरसेन ने अपने शिष्य पुष्पदंत और भूतबलि के लिये की। इसके विधान से ज्वर, भूत, शाकिनी आदि दूर किये जा सकते हैं। यह समस्त निमित्तशास्त्र का उद्‌गमरूप है। समस्त विद्याओं और धातुवाद के विधान का मूलभूत कारण है। आयुर्वेद का साररूप है। इस कृति को जाननेवाला कलिकालसर्वज्ञ और चतुर्वर्ग का अधिष्ठाता बन सकता है। बुद्धिशाली लोग इसे सुनते हैं तब मंत्र-तंत्रावादी मिथ्यादृष्टियों का तेज निष्प्रभ हो जाता है। इस प्रकार कृति का प्रभाव वर्णित है। इसमें एक जगह उल्लेख है कि प्रज्ञाश्रमण मुनि ने बालतंत्र संक्षेप में कहा है।

योनिप्राभृत में इस प्रकार एक उल्लेख है :-

अग्गेणिपुव्वनिग्गयपाहुडसत्थस्स मज्झयारम्मि।
किंचि उद्‌देसदेसं धरसेणो वज्जियं भणई ॥

गिरिउज्जिंतछिएण पच्छिमदेसे सुरट्ठगिरिनयरे।
बुड्ढंतं उद्धरियं दूसमकालप्पयावम्मि ॥ -प्रथम खंण्ड

अट्ठसवीस)सहस्सा गाहाणं जत्थ वन्निया सत्थे।
अग्गेणिपुव्वमज्झे संखेवं वित्थरे मत्तुं ॥ - चतुर्थ खण्ड

इस कथन से ज्ञात होता है कि अग्रायणीय पूर्व का कुछ अंश लेकर धरसेनाचार्य ने इस ग्रंथ का उद्धार किया। इसमें पहले अट्ठाईस हजार गाथाएँ थीं, उन्हीं को संक्षिप्त करके योनिप्राभृत में रखा है।

151. ज्योतिष्करण्डक

यह रचना वलभी वाचना शताब्दी से पूर्व किसी पूर्वधारी प्राचीन आचार्य द्वारा की गई है। कहते हैं कि आचार्य पादलिप्त ने इस पर टीका लिखी थी। इस ग्रंथ में जैन ज्योतिष और गणित का विवरण दिया गया है जो ईसवीं सन् के आरंभ के पूर्व की अवस्था का द्योतक है। इसका प्रमुख कारण है कि यहाँ बारह राशियों और सात वारों का उल्लेख नहीं, तथा इसमें बुध शुक्र आदि ग्रहों का भी विवरण नहीं मिलता।

152. ज्योतिषसार (हीरकलश)

ज्योतिषसार (जोइसहीर) नामक ग्रन्थ की रचना खरतरगच्छीय उपाध्याय देवतिलक के शिष्य मुनि हीरकलश ने वि. सं. 1621 में प्राकृत में की है। इसमें दो प्रकरण हैं। इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति बम्बई के माणकचन्द्रजी भण्डार में है। मुनि हीरकलश ने राजस्थानी भाषा में ज्योतिषहीर या हीरकलश ग्रंथ की रचना 900 दोहों में की है, जो श्री साराभाई नवाब (अहमदाबाद) ने प्रकाशित किया है। इस राजस्थानी ग्रंथ में जो विषय निरूपित है वही इस प्राकृत ग्रंथ में भी निबद्ध है। पं. अम्बालाल शाह ने जैन साहित्य के बृहत् इतिहास भाग 5 में इसका परिचय दिया है।

153. टीका साहित्य

दार्शनिक दृष्टि से आगम साहित्य को और अधिक विस्तार से समझाने हेतु प्राचीन मनीषी आचार्यों द्वारा जिस साहित्य की रचना की गई, वह टीका साहित्य के नाम प्रसिद्ध हुआ। टीकाएँ संस्कृत में लिखी गई हैं। कहीं कहीं तथा विशेषत: कथानकों में प्राकृत का आश्रय लिया गया है। टीकाओं की रचनाओं का क्रम तीसरी शताब्दी से ही प्रारम्भ हो गया था। वर्तमान में जो टीकाग्रंथ प्राप्त हैं, उनमें आचार्य हरिभद्रसूरि (आठवीं शताब्दी) के ग्रंथों का महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी आवश्यक, दशवैकालिक, नंदी एवं अनुयोगद्वार पर टीकाएँ उपलब्ध हैं। उन्होंने

स्थानांग, समावायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अंतकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकसूत्र आदि आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं। प्राकृत आगम ग्रन्थों पर धवलाटीका, सुखबोधा टीका आदि ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

154. ठक्करफेरु

कन्नापुर महेन्द्रगढ़ वासी श्रीचन्द्र के पुत्र श्रीमालवंशीय ठक्करफेरु ने संवत् 1372 ईसवी सन् 1290 से 1318 के बीच निम्नलिखित सात ग्रंथों की रचना की: (1)युगप्रधान चतुष्पदी (2) गणितसार (3)वास्तुसार (4) ज्योतिषसार (5)रत्नपरीक्षा (6) द्रव्यपरीक्षा (7) धातुत्पत्ति। ठक्करफेरु जिनेन्द्र के भक्त थे और दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के खजांची थे। सुरमिति अगस्त्य और बुद्धभट्ट के द्वारा लिखित रत्नपरीक्षा को देखकर उन्होंने अपने पुत्र हेमपाल के लिये ग्रंथ की रचना की थी।

155 ठाणं. स्थानांगसूत्र

अर्धमागधी आगम साहित्य के अंग ग्रन्थों में स्थानांग का तीसरा स्थान है। प्रस्तुत ग्रन्थ में 10 अध्ययन हैं। इस आगम में विषय को प्रधानता न देकर संख्या को प्रधानता दी गई है। प्रत्येक अध्ययन में अध्ययन की संख्यानुक्रम के आधार पर जैन सिद्धान्तानुसार वस्तु-संख्याएँ गिनाते हुए उनका वर्णन किया गया है।

156. णरविक्कमचरियं

इसमें नरसिंह नृप के पुत्र राजकुमार नरविक्रम, उसकी पत्नी शीलवती और उन दोनों के दो पुत्रों के विपत्तिमय जीवन का वर्णन है जो एक अप्रिय घटना के कारण राज्य छोड़कर चले गये थे और अनेक साहसिक घटनाओं के बाद पुनः मिल गये थे। यह कथा पूर्वकर्म-फल-परीक्षा के उद्देश्य से कही गई है।

157. णाणपंचमीकथा

कार्तिक शुक्ल पंचमी को ज्ञानपंचमी और सौभाग्यपंचमी नाम से भी कहा जाता है। इस दिन ग्रन्थ को पट्टे पर रखकर पूजा, समार्जन, लेखन आदि करना चाहिये और 'नमो नाणस्स' का 1000 जाप करना चाहिये। इसके माहात्म्य को प्रकट करने के लिए ज्ञानपंचमीकथा, श्रुतपंचमीकथा, कार्तिकशुक्लपंचमीकथा, सौभाग्यपंचमीकथा या पंचमीकथा, वरदत्तगुणमंजरीकथा तथा भविष्यदत्तचरित नाम से अनेकों कथाग्रन्थ लिखे गये हैं।

इनमें सबसे प्राचीन नाणपंचमीकहाओ नामक ग्रन्थ है जिसमें दस कथाएँ संकलित की गई हैं, वे हैं : जयसेणकहा, नन्दकहा, भद्दाकहा, वीरकहा, कमलाकहा, गुणाणुरागकहा, विमलकहा, धरणकहा, देवीकहा और भविस्सयत्तकहा। समस्त रचना में 2804 गाथाएँ हैं। इसकी भविस्सयत्तकहा के कथा बीज को लेकर धनपाल ने अपभ्रंश में भविस्सयत्तकहा या सूयपंचमीकहा नामक महत्त्वपूर्ण काव्य लिखा है, और उसका संस्कृत रूपान्तर मेघविजयगणि ने भविष्यदत्तचरित्र नाम से प्रस्तुत किया है। इसके रचयिता सज्जन उपाध्याय के शिष्य महेश्वरसूरि हैं। इस कृति की सबसे पुरानी ताड़पत्रीय प्रति वि. सं. 1109 की पाटन के संघवी भण्डार से मिली है। इससे अनुमान है कि यह इससे पूर्व की रचना है।

ज्ञानपंचमीकथा जैन महाराष्ट्री प्राकृत का एक सुन्दर कथाग्रंथ है जिसके कर्ता महेश्वरसूरि हैं। इनका समय ईसवी सन् 1052 से पूर्व ही माना जाता है। महेश्वरसूरि एक प्रतिभाशाली कवि थे जो संस्कृत और प्राकृत के पण्डित थे। इसकी कथा की वर्णनशैली सरल और भावयुक्त है। उनका कथन है कि अल्प बुद्धिवाले लोग संस्कृत कविता को नहीं समझते इसलिए सर्वसुलभ प्राकृत काव्य की रचना की जाती है। गूढार्थ और देशी शब्दों से रहित तथा सुललित पदों से ग्रथित और रम्य प्राकृत काव्य किसके मन को आनन्द प्रदान नहीं करता ? ग्रन्थ की भाषा पर अर्धमागधी और कहीं अपभ्रंश का प्रभाव है, गाथाछंद का प्रयोग किया गया है। द्वीप, नगरी आदि का वर्णन आलंकारिक और श्लेषात्मक भाषा में है। जहाँ-तहाँ विविध सुभाषित और सदुक्तियों के प्रयोग दिखाई देते हैं। इस कृति में दस कथायें हैं जो लगभग 2,000 गाथाओं में गुंफित हैं। पहली कथा जयसेणकहा और अन्तिम कथा भविस्सयत्तकहा है, ये दोनों अन्य कथाओं की अपेक्षा लंबी हैं। प्रत्येक कथा में ज्ञानपंचमी व्रत का माहात्मय बताया गया है। ज्ञानप्राप्ति के एक मात्र साधन पुस्तकों की रक्षा को प्राचीन काल में अत्यन्त महत्त्व दिया जाता था। इसलिये जैन आचार्यों ने कार्तिक शुक्ल पंचमी को

ज्ञानपंचमी घोषित कर इस शुभ दिवस पर शास्त्रों के पूजन, अर्चन, समार्जन, लेखन और लिखापन आदि का विधान किया है। सिद्धराज, कुमारपाल आदि राजा तथा वस्तुपाल और तेजपाल आदि मंत्रियों ने इस प्रकार के ज्ञानभंडारों की स्थापना कर पुण्यार्जन किया था। पाटण, जैसलमेर, खंभात, लिंबडी, जयपुर, ईडर आदि स्थानों में जैन भंडार स्थापित किये गये थे।

यहाँ अनेक कहावतें भी दी गई हैं –

मरइ गुडेणं चिय तस्स विसं दिज्जए किं व (जयसेणकहा)

– जो गुड़ देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है ?

न हु पहि पक्का बोरी छुड्‌डइ लोयाणा जा खज्जा। (जयसेणकहा)

– यदि रास्ते में पके हुए बेर दिखाई दें तो उन्हें कौन नहीं खायेगा ?

हत्थठियं कंकणयं को भण जोएह आरिसए ?

– हाथ कंगन को आरसी क्या ?

– जिसे सम्पत्ति का गर्व नहीं छूता, उसके सम्बन्ध में कहा है –

विहवेण जो न भुल्लइ जो न वियारं करेइ तारुन्ने।

सो देवाण वि पुज्जो किमंग पुण मणुयोयस्स ॥ (नंदकहा)

– जो संपत्ति पाकर भी अपने आपको नहीं भूलता और जिसे जवनी में विकार नहीं होता, वह मनुष्यों द्वारा ही नहीं, देवताओं द्वारा भी पूज्यनीय है।

158. णायाधम्मकहाओ (ज्ञाताधर्मकथा)

अर्धमागधी आगम साहित्य के अंग ग्रन्थों में ज्ञाताधर्मकथा का छठा स्थान है। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है। वस्तुतः ज्ञाताधर्मकथा में विभिन्न ज्ञात अर्थात् उदाहरणों तथा धर्मकथाओं के माध्यम से जैन धर्म के तत्त्व–दर्शन को समझाया गया है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में ज्ञातकथाएँ एवं द्वितीय श्रुतस्कन्ध में धर्मकथाएँ हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध 19 अध्ययन हैं, जिनमें न्याय, नीति आदि के सामान्य नियमों को दृष्टान्तों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस श्रुतस्कन्ध में वर्णित कथाएँ लौकिक, ऐतिहासिक एवं काल्पनिक सभी प्रकार की

है। रोहिणीज्ञात विशुद्ध लौकिक कथा है, जिसमें ससुर अपनी चार बहुओं की परीक्षा लेकर सबसे बुद्धिमान बहू को कुटुम्ब का मुखिया नियुक्त करता है। मेघकुमार, द्रौपदी, मल्ली आदि के कथानक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यों को लिए हुए हैं। तुम्बा, कुम्मे, मयूरी के अंडे, नंदीफल आदि कथाएँ रूपक शैली में हैं, जिनके द्वारा भव्य जीवों को प्रतिबोध दिया गया है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 10 अध्ययन हैं। इनमें प्रायः स्वर्ग के इन्द्रों जैंसे -चमरेन्द्र, असुरेन्द्र, चन्द्र, सूर्य, ईजोनादि की अग्रमहिषियों के रूप में उत्पन्न होने वाली पुण्यशाली स्त्रियों की कथाएँ हैं। इन कथाओं के माध्यम से संयम साधना की श्रेष्ठता का विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्कालीन समाज एवं संस्कृति का सुन्दर चित्रण हुआ है।

159. णायकुमारचरिउ

अपभ्रंश में नागकुमार के चरित से संबंधित सबसे प्रसिद्ध काव्य पुष्पदंत का नागकुमारचरित अथवा णायकुमारचरिउ है। कवि ने श्रुतपंचमी व्रत का महत्त्व समझाने के लिए यह कथा कही है। जयन्धर मगध के कनकपुर का राजा था। उसकी रानी विशालनेत्रा से श्रीधर नाम का पुत्र हुआ। एक व्यापारी सौराष्ट्र के गिरिनगर की राजकुमारी का चित्र लेकर आया। राजा उस पर मुग्ध हो गया। मंत्री को भेजकर उसने लड़की को बुलवाकर उससे विवाह कर लिया। नयी रानी का नाम पृथ्वीदेवी था। राजा रानियों के साथ जलक्रीड़ा के लिए गया। रास्ते में सौत की साज सज्जा देखकर नई रानी को बुरा लगा। वह जिनमन्दिर चली आई। स्तुति के पश्चात् मुनि का उपदेश सुनने लगी। मुनि ने उसके यशस्वी पुत्र होने की भविष्यवाणी की। इतने में राजा खोजता हुआ वहाँ आया। उसने पुत्र की बात उसे भी बता दी। दोनों पूजा करके घर चले गये। कुछ दिन पश्चात् उसने सपने देखे। समय पर उनके घर पुत्र ने जन्म लिया। राजा ने पुत्रजन्मोत्सव खूब धूम-धाम से मनाया। एक बार वह कुमार को लेकर मन्दिर गया, परन्तु किवाड़ नहीं खुले, लेकिन बालक के अंगूठे से छूते ही खुल गये। एक बार बच्चा वापी में गिर गया।

उसकी मां भी उसमें कूद पड़ी। नीचे एक नाग ने उन्हें बचा लिया। बाद में उस नाग ने बच्चे को गोद में ले लिया। इससे उसका नाम नागकुमार पड़ गया।

यह नागकुमारचरित कृति नौ सन्धियों में पूण हुई है। कृति में श्रुतपंचमी के महत्त्व को बताते हुए मगध के राजा जयन्धर के पुत्र की कथा है। चूँकि जयन्धर के पुत्र को नागों ने पाला था इसी कारण उसका नाम नागकुमार पड़ा था। धार्मिक वातावरण से युक्त इस कृति को प्रेमकथा कहा जा सकता है, जिसमें नायक के अनेक विवाहों तथा प्रेम के वर्णन हैं। राजा जयन्धर तथा पृथ्वी देवी के परिणय की कथा एक संक्षिप्त प्रेम कथा है। इसमें चित्र देखकर राजा की आसक्ति, पृथ्वी देवी का नखशिख वर्णन, विवाह, उद्यान में क्रीड़ा, सपत्नी-ईर्ष्या इत्यादि प्रसंगों के वर्णन हैं। इसी प्रकार नागकुमार का मनोहारी किन्नरी से विवाह, जलक्रीड़ा (संधि 3, 6-8) के प्रसंग प्रेमकथात्मक हैं। निःसन्देह कृति की आत्मा प्रेमप्रधान काव्यात्मक है। यह जरूर है कि कवि ने उसे धार्मिक वातावरण से ढकने का प्रयास अवश्य किया है। डॉ. देवेन्द्र कुमार जैन इसे रोमाण्टिक कथा काव्य मानते हैं।

160. तत्त्वसार

धर्मप्रवर्तन और भव्यजनों के बोध के लिए इस तत्त्वसार ग्रन्थ की रचना की गई है। सकलकीर्ति की इस ग्रन्थ पर टीका है। इसमें 74 गाथायें हैं जिनमें तत्त्व के सार का प्ररूपण है। ध्यान से मोक्ष की सिद्धि बताई है-

चरणरहिओ मणुस्सो जह बंधइ मेरुसिहरमारुहिउं।
तह झाणेण विहीणो इच्छइ कम्मक्खयं साहू॥

जैसे बिना पाँव का कोई मनुष्य मेरु के शिखर पर चढ़ना चाहे, उसी प्रकार ध्यान-विहीन साधुकर्मों के क्षय की इच्छा करता है। आत्मध्यान की मुख्यतया का प्रतिपादन करते हुए कहा है-

लहइ ण भव्वो मोक्खं जावइ परदव्ववावडो चित्तो।
उग्गतवं पि कुणंतो सुद्धे भावे लहुं लहइ॥

जब तक पर द्रव्य में चित्त लगा हुआ है तब तक भव्य पुरुष मोक्ष प्राप्त नहीं करता। उग्र तप करता हुआ वह शीघ्र ही शुद्ध भाव को प्राप्त होता है। ग्रंथ के अन्त में अपना परिचय देते हुए ग्रंथकार ने लिखा है–

सोऊण तच्चसारं रइयं मुणिणाह देवसेणेण।
जो सद्दिट्ठी भावइ सो पावइ सासयं सोक्खं॥

मुनिनाथ देवसेन ने श्रवणकर तत्त्वसार की रचना की है। जो सम्यग्दृष्टि उसकी भावना करता है वह शास्वत सुख पाता है।

161. तरंगवइकहा (तरंगवतीकथा)

सुप्रसिद्ध पादलिप्तसूरि सबसे पहले जैन विद्वान हैं जिन्होंने तरंगवती नाम का स्वतंत्रा कथाग्रंथ लिखकर प्राकृत कथा साहित्य में एक नई परंपरा को जन्म दिया। यह कथा प्राकृत कथा साहित्य की सबसे प्राचीन कथा मानी जाती है जो कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। तरंगवइकार के रूप में इसके कर्ता का उल्लेख अनुयोगद्वारसूत्र 130 में मिलता है। निशीथविशेषचूर्णी में लोकोत्तर धर्मकथाओं में तरंगवती के साथ मलयवती और मगधसेना के नाम उल्लिखित हैं। दशवैकालिक चूर्णी (3, पृष्ठ 109) और जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के विशेषावश्यक भाष्य (गाथा 1508) में भी तरंगवती का उल्लेख मिलता है। पादलिप्त सातवाहनवंशी राजा हाल की विद्वत्सभा के एक सुप्रतिष्ठित कवि माने जाते थे। जैसे गुणाढ्य ने पैशाची में बृहत्कथा की रचना की, वैसे ही पादलिप्त (पालित अथवा श्रीपालित) ने प्राकृत में तरंगवती नाम की एक अद्‌भुत कथा लिखी। उद्द्योतनसूरि की कुवलयमाला (ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी) में सातवाहन के साथ पादलिप्त का उल्लेख है, पादलिप्त की तरंगवती कथा का भी यहाँ नाम मिलता है। प्रभावकचरित में पादलिप्तसूरि पर एक प्रबंध है जिसके अनुसार ये कवि कौशल के निवासी थे, इनके पिता का नाम फुल्ल और माता का प्रतिमा था। बाल्य अवस्था में जैन दीक्षा ग्रहण कर इन्होंने मथुरा पाटलीपुत्र, लाट, सौराष्ट्र, शत्रुंजय आदि स्थानों में भ्रमण किया था। राजशेखर के प्रबंधकोश में भी पादलिप्त की चर्चा है। कवि धनपाल ने अपनी तिलकमंजरी (ईसवी सन् की दसवीं शताब्दी) में तरंगवती की उपमा प्रसन्न और गंभीर पदवाली पुनीत गंगा से

दी है। लक्ष्मणगणि (ईसवी सन् 1145) ने अपने सुपासनाहचरियं में भी इस कथा की प्रशंसा की है। दुर्भाग्य से प्राचीन काल से यह अद्भुत और सुंदर कृति नष्ट हो गई है। प्रोफेसर लॉयमान ने इस का समय ईसवी सन् की दूसरी तीसरी शताब्दी स्वीकार किया है।

162. तरंगलोला (संक्षिप्त तरंगवती)

तरंगवइकहा का संक्षिप्तरूप तरंगलोला के रूप में प्रसिद्ध है जो तरंगवइकहा के लगभग 1000 वर्ष पश्चात् तैयार किया गया। इसके कर्ता हाइयपुरीय गच्छीय वीरभद्र आचार्य के शिष्य नेमिचन्द्रगणि हैं जिन्होनें जस (अथवा यश सेन) नामक अपने शिष्य के लिये 1642 गाथाओं में इस ग्रंथ को संक्षेप में लिखा। ग्रन्थकार के अनुसार पादलिप्तसूरि ने तरंगवइकहा की रचना देशी वचनों में की थी। यह कथा विचित्र और विस्तृत थी, कहीं पर इसमें सुन्दर कुलक थे, कहीं गहन युगल और कहीं दुर्गम षट्क। इस कथा को न कोई कहता था, सुनता था, न पूछता ही था। दुर्बोध होने के कारण यह विद्वान के ही योग्य थी, साधारण जन इससे लाभ नहीं उठा सकते थे। पादलिप्त ने देशीपदों में जो गाथायें लिखी, उन्हें यहाँ संक्षिप्त करके लिखा गया जिससे कि इस कृति का सर्वथा उच्छेद न हो जाये।

धनपाल नामक सेठ अपनी सेठानी सोमा के साथ राजग्रह नगर में रहता था। उसके घर के पास की एक वसति में कुमारब्रह्मचारिणी सुव्रता नाम की गणिनी अपने शिष्य–परिवार के साथ ठहरी हुई थी। एक बार सुव्रता की शिष्या तरंगवती अन्य साध्वी को साथ लेकर भिक्षा के लिये सेठानी के घर आई। सेठानी तरंगवती के सौन्दर्य को देखकर बड़ी मुग्ध हुई। उसने तरंगवती से धर्मकथा सुनाने का अनुरोध किया। धर्मकथा श्रवण करने के पश्चात् उसका जीवन एवं वृतांत सुनने की इच्छा प्रकट की। तरंगवती का जीवनचरित सुनकर सेठानी ने श्राविका के बारह व्रत स्वीकार किये। तरंगवती भिक्षा ग्रहण कर अपने उपाश्रय में लौट गई। तरंगवती ने केवल ज्ञान प्राप्त कर सिद्धि पाई, पद्मदेव भी सिद्ध हो गये। यहाँ प्रसंगवश अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया गया है:- मगधदेश कथा वार्ता के लिए प्रसिद्ध था (गाथा 14)। गणिनी के केशलोंच का उल्लेख आता है

(32, 1551)। महिलारत्न, नदी और साधु के संबंध में कहा गया है कि उनका मूल खोजने की आवश्यकता नहीं, वे लोग पवित्र ही माने जाते हैं।

तरंगवती कथा का संक्षिप्त सार तरंगलोला में 1642 गाथाओं में तरंगवती के आदर्श प्रेम एवं त्याग की कथा वर्णित है। समस्त कथा उत्तम-पुरुष में वर्णित है। तरंगवती का राजगृह में आर्यिका के रूप में आगमन होता है। वहाँ आत्मकथा के रूप में वह अपनी कथा कहती है। हंस-मिथुन को देखकर प्रेम जागृत होने पर वह प्रिय की तलाश में संलग्न होती है तथा इष्ट प्राप्ति पर विवाह करती है। अन्त में तरंगवती के वैराग्य एवं दीक्षा का वर्णन है। यह कथा शृंगार रस से प्रारंभ होकर करुण रस में ओत-प्रोत होती हुई, अंत में शांत रस की ओर मुड़ जाती है। आचार्य ने नायिका के वासनात्मक प्रेम का उदात्तीकरण करते हुए आत्मशोधन की प्रक्रिया द्वारा राग को विराग में परिवर्तित किया है। नायिका तरंगवती जैसी प्रेमिका भी मुनिराज के दर्शन से प्रेरित होकर भोग-विलासों से मुक्त होकर सुव्रता साध्वी बन जाती है। शृंगार, करुणा एवं शांत रस से ओत-प्रोत यह कथा-ग्रन्थ पात्रों के आन्तरिक एवं बाह्य अन्तर्द्वन्द्वों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करता है। शील-निरूपण की दृष्टि से नायक एवं नायिका दोनों का चरित्र विकसित है। वस्तुतः यह एक धार्मिक उपन्यास है।

163. तिलोयपण्णत्ति : (यतिवृषभ)

शौरसेनी प्राकृत के समर्थ आचार्यों में यतिवृषभ का नाम उल्लेखनीय है। शौरसेनी प्राकृत के प्रथम ग्रन्थ कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्रों की रचना करने वाले यतिवृषभ हैं इनका दूसरा ग्रन्थ तिलोयपण्णति है। इस ग्रन्थ में जैन भूगोल और जैन संघ के इतिहास का विस्तृत विवरण है। अतः इसमें कई गाथाएँ प्रक्षिप्त भी स्वीकार की गई हैं। यतिवृषभ के समय-निर्धारण में विद्वानों ने पर्याप्त प्रयत्न किया है। उनके अनुसार यतिवृषभ को समय ई. सन् 176 के आस-पास सिद्ध होता है। आचार्य कुन्दकुन्द के बाद इनका समय स्वीकार किया गया है। यतिवृषभ की अब तक दो रचनाएँ ही प्राप्त हैं। उनके आधार पर इन्हें जैन आगम ग्रन्थों का परम ज्ञाता माना जाता है। सातवीं शताब्दी और बाद के विद्वानों ने इनको आदरपूर्वक स्मरण किया है। इनके गुरुओं में आर्यमंक्षु और नागहस्ति की गणना होती है।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित करणानुयोग का प्राचीनतम ग्रन्थ है। धवला टीका में इस ग्रन्थ के अनेक उदाहरण उद्धृत हुए हैं। यह ग्रन्थ 8,000 श्लोकप्रमाण है। ग्रन्थ के अन्त में बताया गया है – **अट्ठसहस्सप्रमाणं तिलोयपण्णतिणामाए** अर्थात् आठ हजार श्लोक प्रमाण इस ग्रन्थ की रचना की गई है। इसके कर्त्ता कषायप्राभृत पर चूर्णिसूत्र के रचयिता आचार्य यति वृषभ हैं। इस ग्रन्थ में दृष्टिवाद, मूलाचार, परिकर्म, लोकविभाग आदि प्राचीन ग्रन्थों के उल्लेख मिलते हैं। इस ग्रन्थ में त्रिलोक की रचना के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। तीनों लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल और युग–परिवर्तन आदि विषयों का विस्तार से विवेचन हुआ है। यह ग्रन्थ 9 अधिकारों में विभक्त है।

1. सामान्यलोक	2. नरकलोक	3. भवनवासीलोक	4. मनुष्यलोक
5. तिर्यक्लोक	6. व्यन्तरलोक	7. ज्योतिर्लोक	8. देवलोक
9. सिद्धलोक।			

इन अधिकारों में मुख्यरूप से जैन भूगोल एवं खगोल का विस्तार से प्रतिपादन हुआ है। दृष्टिवाद के आधार पर त्रिलोक की मोटाई, चौड़ाई एवं ऊँचाई का निरूपण किया गया है। नरकलोक, भवनवासी देवों के स्वरूप; जम्बूद्वीप, भरतक्षेत्र, लवणसमुद्र, तीर्थंकरों के जन्मस्थल, व्यन्तरदेवों, ज्योतिषीदेवों एवं वैमानिकदेवों की स्थिति, स्थान, परिवार, सुखभोग एवं सिद्धों के क्षेत्र, संख्या, अवगाहना आदि का विस्तार से विवेचन प्रस्तुत हुआ है। इस ग्रन्थ का विषय सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, धवला, जयधवला आदि ग्रन्थों से मिलता–जुलता है। प्रसंगानुसार जैन सिद्धान्त, पुराण एवं इतिहास के विभिन्न तथ्यों पर भी चर्चा की गई है। प्राचीन गणित के अध्ययन के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी है।

ग्रन्थ में आठ हजार गाथाओं का निर्देश किया है परन्तु पूर्व प्रकाशित जीवराज ग्रन्थमाला के संस्करण में पाँच हजार छः सौ सत्तर गाथाओं की सूचना ही दी गई हैं, उसमें 5666 गाथाएँ ही मुद्रित हैं। इसमें पद्य के अतिरिक्त सभी अधिकारों में गद्य का भी प्रयोग हुआ है। गद्य और पद्य दोनों ही शौरसेनी प्राकृत

का प्रतिनिधित्व करते है। आर्यिका विशुद्धमति माताजी ने दक्षिण की कन्नड़ प्रति एवं अन्य प्रतियों के आधार पर इस ग्रन्थ को 6882 गाथाओं से युक्त किया है। उन्होंने गद्य के अक्षरों की गाथा संख्या 1107 दी है। इसमें आधुनिक गणित प्रकरण एवं विविध संकेत चित्र भी दिये गये हैं, जिससे इसके विषय का उचित सम्मान हुआ है। तिलोयपण्णति में तीन लोक के स्वरूप, आकार, प्रकार, विस्तार क्षेत्रफल और युगपरिवर्तन आदि विषयों का निरूपण किया गया है। प्रसंगवश जैन सिद्धान्त, पुराण और भारतीय इतिहास विषयक सामग्री भी निरूपित है। यह ग्रन्थ नौ महाधिकारों में विभक्त है। इन नौ महाधिकारों के अतिरिक्त अवान्तर अधिकारों की संख्या 180 है। द्वितीयादि महाधिकारों के अवान्तर अधिकांश क्रमशः 15, 24, 16, 16, 17, 17, 21, 5 और 49 है। चतुर्थ महाधिकार के जम्बूद्वीप, धातकीखण्डद्वीप और पुष्करद्वीप नाम के अवान्तर अधिकारों में से प्रत्येक के सोलह- सोलह अन्तर अधिकार है। इस प्रकार इस ग्रन्थ के मध्य में रिक्कू, दण्ड, धनुष आदि पारिभाषिक शब्दों का भी यथाप्रसंग उल्लेख है। बीच-बीच में सूक्ति-गाथाएँ भी प्राप्त होती हैं।

164. त्रिलोकसार

इस महत्वपूर्ण ग्रंथ में 1018 गाथाएँ हैं। इसके लेखक आचार्य नेमिचन्द्र हैं। यह करणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसका आधार त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रंथ है। इसमें सामान्य लोक, भवन, व्यन्तर, ज्योतिष, वैमानिक और नर तिर्यक् लोक ये अधिकार हैं। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र मानुष क्षेत्र भवनवासियों के रहने के स्थान, आवास भवन, आयु का विस्तृत आदि का विस्तृत वर्णन किया है। ग्रह, नक्षत्र, प्रकीर्णक, तारा एवं सूर्य-चन्द्र के आयु विमान गति परिवार आदि का भी सांगोपांग वर्णन पाया जाता है। त्रिलोक की रचना के संबंध में सभी प्रकार की जानकारी इस ग्रंथ से प्राप्त की जा सकती है।

165. दशरूपक

दशरूपक के कर्त्ता धनंजय मालवा के परमारवंश के राजा मुंज के राज कवि थे। इनका समय 10वीं शताब्दी माना गया है। भरत के नाट्यशास्त्र पर आधारित यह अलंकारशास्त्र कारिकाओं में रचा गया है। इस ग्रन्थ में प्राकृत के 26 पद्य

उद्धृत हैं। ये पद्य गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी, रत्नावली आदि से लिये गये हैं। इस ग्रन्थ पर धनंजय के लघुभ्राता धनिक ने अवलोक नामक वृत्ति लिखी है।

166. दशवैकालिक (दसवेयालियं)

अर्धमागधी प्राकृत के मूल आगमों में दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस सूत्र की रचना आचार्य शय्यंभवसूरि द्वारा अपने नवदीक्षित अल्प आयु वाले शिष्यों के लिए की गई थी। श्रमण जीवन के लिए अनिवार्य आचार से सम्बन्धित नियमों का इस ग्रन्थ में सुन्दर संयोजन किया गया है। इसका उद्देश्य मुमुक्षु साधकों को अल्प समय में ही आवश्यक ज्ञान प्रदान कर उन्हें आत्मकल्याण के मार्ग की साधना के पथ पर आगे बढ़ाना है। दशवैकालिक में दस अध्ययन हैं, जिनमें श्रमण जीवन के आचार-गोचर सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन किया गया है। प्रथम अध्ययन द्रुमपुष्पिका में अहिंसा, तप एवं संयम युक्त धर्म को उत्कृष्ट मंगल रूप माना है - **धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो**। द्वितीय श्रामण्य अध्ययन में रथनेमि एवं राजीमती के संवाद के माध्यम से कामना के निवारण के उपाय बताये गये हैं। तृतीय अध्ययन क्षुल्लकाचार में यह स्पष्ट किया गया है कि जिसकी धर्म में धृति नहीं होती है, वह आचार एवं अनाचार में भेद नहीं कर सकता है। इसमें 52 अनाचारों का उल्लेख हुआ है। चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का वर्णन तथा उनकी रक्षा के लिए पाँच महाव्रतों के पालन एवं रात्रि भोजन के निषेध पर चिन्तन किया गया है। पाँचवें पिण्डैषणा अध्ययन में साधु के लिए भोजन आदि के ग्रहण एवं परिभोग की एषणा का सुन्दर वर्णन है। छठें अध्ययन महाचार में अनाचार के विविध पहलुओं पर विचार किया गया है, इसमें परिग्रह की सीमाओं का भी विवेचन है। सातवें वाक्य-शुद्धि अध्ययन में भाषा दोष को त्यागने तथा हित-मित और पथ्य भाषा बोलने की शिक्षा दी गई है। आठवें अध्ययन आचारप्रणिधि में श्रमण को इन्द्रियनिग्रह कर मन को एकाग्र करने का संदेश दिया गया है। क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषाय के निग्रह का यह संदेश दृष्टव्य है –

उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे॥ (गा. 8.39)

अर्थात् - क्रोध को क्षमा से, मान को मार्दव भाव से जीते। माया को सरल भाव से और लोभ को संतोष से जीते।

नवें अध्ययन विनय समाधि में विनय की विविध धाराओं का प्रतिपादन हुआ है। दसवें सभिक्षु अध्ययन में संवेग, निर्वेद, विवेक, आराधना, ज्ञान, तप आदि को भिक्षु के लक्षण बताये हैं।

167. दंसणसत्तरि-(समत्तसत्तरि)

समत्तसत्तरि समयक्त्व सप्तति-ग्रंथ का दूसरा नाम दंसण-सत्तरि भी है। यह रचना हरिभद्रसूरिकृत आठवीं शती की है। इसमें 70 गाथाओं में सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाया गया है। अष्ट प्रभावकों में वज्रस्वामी, मल्लवादि भद्रबाहु, विष्णुकुमार, आर्यखपुट, पादलिप्त और सिद्धसेन का चरित वर्णित है। इस पर संघतिलक सूरिकृत चौदहवी शती की वृत्ति भी उपलब्ध हैं।

168. दिणसुद्धि

इसके कर्ता रत्नशेखरसूरि हैं। इसमें 144 गाथाओं में रवि, सोम, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र और शनि की शुद्धि का वर्णन करते हुए तिथि लग्न, प्रहर, दिशा और नक्षत्र की शुद्धि बताई है।

169. दिव्यध्वनि और अर्धमागधी

जैन-परम्परा के अनुसार दिव्यध्वनि का ग्रथन अर्धमागधी भाषा में किया गया। यह भी मान्यता रही है कि उसके प्रसार करने का दायित्व मागध जाति के देवों का था, जिनकी देवी व्यवस्था के कारण समवसरण में उपस्थित सभी प्रकार के श्रोता-प्राणी तीर्थंकर वाणी को समझ लेते थे। तीर्थंकर की ध्वनि तो दिव्य अथवा निरीक्षरी मानी गई है, किन्तु मागधीदेव, उसके प्रसार की ऐसी व्यवस्था करते थे कि हर प्राणी मनुष्य, देव या पशु-पक्षी अपनी भाषा में उसे समझ सकें। उस दिव्यध्वनि की ध्वनि का जब ग्रथन किया गया तो उसमें उस समय की सर्वत्र प्रचलित बोलियों तथा भाषाओं का मिश्रण था। चूँकि मगध क्षेत्र में उनकी दिव्यध्वनि का ग्रथन मागध देवों ने किया, अतः उनकी उस विमिश्रित भाषा का नाम भी अर्धमागधी पड़ा। वस्तुतः दैवी भाषा थी। वह वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी न थी। वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी तो मागधी का प्रयोग न तो भास, अश्वघोस या कालिदास जैसे संस्कृत के प्राच्य नाटककारों ने किया और न

प्राच्य शिलालेखों में उनकी प्रवृत्तियाँ पाई गई। वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी तो मागधी, अवन्ती, प्राच्या एवं शौरसेनी की मिश्रित भाषा है। तथा शौरसेनी की सन्निकटवर्ती मागधी के रूपों वाली अर्धमागधी है, जो तीर्थंकरों की उक्त अर्धमागधी से भिन्न है। 5वीं सदी के पूर्व वर्तमान अर्धमागधी का अस्तित्व मिलता ही नहीं। न वह लोक-भाषा रही और न साहित्य -भाषा।

170. दिव्यध्वनि एवं कम्प्यूटर

आधुनिक कुछ वैज्ञानिकों ने जिज्ञासावश दिव्यध्वनि एवं कम्प्यूटर-विज्ञान का तुलनात्मक अध्ययन किया है और इस अध्ययन के निष्कर्ष पर्याप्त उत्साहवर्धक सिद्ध हो रहे हैं। उससे उक्त दिव्यध्वनि की मान्यता के विषय में भ्रम का अन्धकार दूर होने लगा है। वैज्ञानिक ने दिव्यध्वनि को कम्प्यूटरीकृत ध्वनि या भाषा के समान ही वैज्ञानिक सिद्ध किया है। इस विषय में कम्प्यूटर-विज्ञान के विशेषज्ञ डॉ. वृषभप्रसाद जैन के शोध एवं चिन्तन का संक्षिप्त निष्कर्ष है कि-

1-जिस प्रकार समुचित दीक्षित एवं प्रशिक्षित गणधर के बिना तीर्थंकर की दिव्यध्वनि नहीं खिरती और गणधर महाराज जब द्विभाषिए का कार्य करते हैं, तभी उसे अक्षर-भाषा का रूप प्राप्त होता है। ठीक वैसे ही संगणक के अनुप्रयोगों को सम्पादित करने के लिए हमें समुचित दीक्षित प्राक्कलनकर्ता की अपरिहार्य रूप से आवश्यकता होती है और वह समुचित प्राक्कलनकर्ता सामान्य प्रयोक्ताओं की आवश्यकताओं के सम्पादनार्थ माध्यम का कार्य करता है।

2-जिस प्रकार दिव्यध्वनि अक्षर और अनक्षर अभयरूप होती है। (**अक्खाराणक्चखरप्पिया**-कसायपाहुड 1/1/596/129/62/2)ठीक उसी प्रकार कम्प्यूटर की भाषा को विकसित करने के लिए इसके स्वरूप को भी अक्षरात्मक तथा अनक्षरात्मक माना गया है।

3-जिस प्रकार दिव्यध्वनि का प्रकटना विशिष्ट समय व अवस्थादि में होता है, उसी प्रकार संगणक के समुचित प्रयोग के लिए संगणक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि उसमें भी विशिष्ट समय व विशिष्ट परिस्थितियों का ध्यान रखा जाये।

4- जिस प्रकार दिव्यध्वनि के विषय में यह मान्यता है कि वह स्वयं अर्थरूप न होकर अर्थनिरूपक होती है। इसीलिए इसमें नाना प्रकार के हेतुओं के द्वारा

भव्य जीवों की शंका समाधान के लिए निरूपण किया जाता है। **णाणाविहहेदूहिं-दिव्वज्झुणी भणदि भव्वाणं** (तिलोयपण्णत्ति 4/905) ठीक वैसे ही संगणकीय भाषायें स्वयं अर्थरूप नहीं होती हैं, और मशीनी अनुवाद की प्रक्रिया में हमें अर्थ के संसाधन की बात नहीं करनी चाहिए क्योंकि अर्थ का स्थान/आश्रय सांसारिक जीवों का/मनुष्यों का मस्तिष्क ही है या हो सकता है, कोई यन्त्र या मशीन नहीं। इसलिए अर्थ को मशीन से संसाधित करने का व्यर्थ का दबाब मशीन पर नहीं डाला जाना चाहिए।

5- जिस प्रकार कि भव्यजीवों की शंका के निवारणार्थ साधन बनी अभाषात्मक दिव्यध्वनि भव्यजीवों का विषय बनकर सामान्य भाषात्मक हो जाती है, ठीक उसी प्रकार प्राक्कलन की भाषायें सामान्य भाषा की व्याख्या को अपने में न संजोए हुए अभाषात्मक होते हुए भी भाषाई संसाधन का माध्यम होने के कारण भाषात्मकता से जुड़ी रहती हैं।

6- जिस प्रकार भव्य जीव अपनी शंकाओं के निवारणार्थ अनन्तज्ञान के भण्डार पर आश्रत दिव्यध्वनि की शरण लेते हैं, ठीक उसी प्रकार आज के युग के संगणक-वैज्ञानिकों की यह मूल परिकल्पना यह रही है कि जब हम पूरी तरह ज्ञान-स्रोत विकसित कर लेंगे तब जिसको जिज्ञासा होगी, वह मानव अपनी शंकाओं के समाधान के लिए संगणक के अनन्त ज्ञानकोश की शरण लेगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आज के संगणक-विज्ञान व मशीनी-अनुवाद की अधिकांश मान्यतायें दिव्यध्वनि की मूल सोच पर आधारित हैं। या यों कहें कि इसके विकास में कहीं न कहीं किसी न किसी रूप से प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में दिव्यध्वनि के सोच की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

171. दुर्गदेव (रिष्टसमुच्चय)

दुर्गदेव का समय ईसवी सन् 1032 माना जाता है। ये ज्योतिष-शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इन्होंने अर्धकाण्ड और रिट्ठसमुच्चय नामक दो ग्रन्थ लिखे हैं। रिट्ठसमुच्चय के अन्त में लिखा है-

रइयं बहुसत्थत्थं उवजीवित्ता हु दुग्गएवेण।
रिट्ठं समुच्चयसत्थं वयणेण संजमदेवस्स ॥

अर्थात् इस शास्त्र की रचना दुर्गदेव ने अपने गुरु संयमदेव के वचनानुसार की

है। ग्रन्थ में एक स्थान पर संयमदेव के गुरु संयमसेन और उनके गुरु माधवचन्द्र बताये गये हैं।

रिट्ठसमुच्चय के कर्ता आचार्य दुर्गदेव दिगंबर संप्रदाय के विद्वान् थे। उन्होंने वि. सं. 1089 (ईस्वी सन् 1032) में कुम्भनगर (कुंभेरगढ, भरतपुर) में जब लक्ष्मीनिवास राजा का राज्य था तब इस ग्रंथ को समाप्त किया था। दुर्गदेव के गुरु का नाम संजमदेव था। उन्होंने प्राचीन आचार्यों की परंपरा से आगम मरणकरंडिया के आधार पर रिट्ठसमुच्चय में रिष्टों का याने मरण-सूचक अनिष्ट चिन्हों का ऊहापोह किया है। इसमें कुल 261 गाथाएँ हैं, जो प्रधानतया शौरसेनी प्राकृत में लिखी गई हैं।

172. दृष्टिवाद अंग (दिट्ठिवायो)

जैन आगम साहित्य के अंग ग्रन्थों में दृष्टिवाद बारहवाँ अंग है। इसमें संसार के सभी दर्शनों एवं नयों का निरूपण किया गया है। किन्तु दृष्टिवाद अब विलुप्त हो चुका है। श्रुतकेवली भद्रबाहु के स्वर्गवास के पश्चात् दृष्टिवाद का धीरे-धीरे लोप होने लगा तथा देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के बाद यह शब्द रूप से पूर्णतया नष्ट हो गया। अर्थरूप में कुछ अंश बचा रहा। समवायांग एवं नन्दीसूत्र में इसके पाँच विभाग बताये गये हैं - परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। षट्खण्डागम, कषायपाहुड आदि शौरसेनी दिगम्बर आगम ग्रन्थ इसी दृष्टिवाद अंग के स्मृति ज्ञान पर आधारित माने गये हैं।

173. देवभद्राचार्य

इस पासनाहचरियंचरित ग्रन्थ के कर्ता देवभद्राचार्य हैं। ये विक्रम की 12वीं शताब्दी के महान् विद्वान् एवं उच्चकोटि के साहित्यकार थे। इनका नाम आचार्य पदारू ढ़ होने के पहले गुणचन्द्रगणि था। उस समय संवत् 1139 में श्री महावीरचरियं नामक विस्तृत 12024 लोक-प्रमाण ग्रन्थ रचा। दूसरा ग्रन्थ कथारत्नकोश है जो आचार्य पदारूढ़ होने के बाद वि.सं. 1158 में रचा था। प्रस्तुत पासनाहचरियं की रचना उनने वि. सं. 1168 में गोवर्द्धन श्रेष्ठि के वंशज वीरश्रेष्ठि के पुत्र यशदेव श्रेष्ठि की प्रेरणा से की थी। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति में लेखक की गुर्वावली इस प्रकार दी गई है :- चन्द्रकुल वज्रशाखा में वर्धमानसूरि हुए। उनके दो शिष्य थे जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि। जिनेश्वरसूरि के शिष्य

अभयदेवसूरि और उनके शिष्य प्रसन्नचन्द्र हुए। प्रसन्नचन्द्र के शिष्य सुमतिपात्रक और इनके शिष्य थे देवभद्रसूरि।

174. देवभद्रसूरि

कहारयणकोस के रचयिता देवभद्रसूरि (गुणचन्द्रगणि) हैं। महावीरचरियं की रचना उन्होंने वि.सं. 1158 में भरुकच्छ (भड़ौच) नगर के मुनिसुव्रत चैत्यालय में समाप्त की थी। इस ग्रन्थ में प्रणेता ने अपनी अन्य कृतियों में पासनाहचरिय और संवेगरंगजोला (कथाग्रन्थ) का उल्लेख किया है।

175. देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मशासन में हुए महान् आचार्यों में 28वें वाचनाचार्य आर्य देविर्द्धिगणि क्षमाश्रमण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वी.नि.सं. 980 में भविष्यद्रष्टा आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण वे वल्लभी नगरी में श्रमण संघ का सम्मेलन आयोजित किया। उसमें उन्होंने न केवल आगमवाचना द्वारा द्वादशांगी के विस्तृत पाठों को सुव्यवस्थित, सुसंकलित एवं सुगठित किया अपितु भविष्य में सदा–सर्वदा बिना किसी प्रकार की परिहानि के आगम यथावत् बने रहें, इस अभिप्राय से एकादशांगी सहित सभी सूत्रों को पुस्तकों के रूप में लिपिबद्ध करवाकर अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया।

देवर्द्धिगण क्षमाश्रमण का सौराष्ट्र प्रान्त के वैरावल पाटण में जन्म हुआ। उस समय वहाँ के शासक महाराज अरिदमन थे। उनके उच्चाधिकारी काश्यप गोत्रीय कामर्द्धि क्षत्रिय की पत्नी कलावती धीरता गम्भीरता आदि गुणों के धारक एक पूर्व के ज्ञाता एवं आचाररिनष्ठ समर्थ वाचनाचार्य थे। अंतिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिक्षमाश्रमण वी.नि.सं. 1000 में स्वर्गस्थ हुए। अतः उनका समय ईसा की

176. देवसेन आचार्य

आचार्य देवसेन प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् थे। मालवा की धारा नगरी इनका प्रमुख साहित्यिक केन्द्र था। राजस्थान में भी ये प्रायः बिहार करते रहते थे और जन–जन में सद्साहित्य और सद्धर्म का प्रचार किया करते थे। ये दर्शन एवं सिद्धान्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे। इतिहास में उन्हें रुचि थी तथा देश एवं समाज में व्याप्त बुराइयों की निन्दा करने में यह कभी पीछे नहीं रहते थे। पं. नाथूराम प्रेमी ने इनकी चार कृतियां स्वीकार की हैं जिनके नाम हैं– दर्शनसार, भावसंग्रह,

तत्त्वसार और नयचक्र। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, आराधनासार एवं आलापपद्धति को भी इनकी रचना स्वीकार किया है।

177. देवेन्द्रसूरि

प्राकृत कृष्णचरित के रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि हैं। इनकी अन्य रचना **सुदंसणाचरियं** अर्थात् शकुनिकाविहार भी मिलती है जिसमें ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है कि वे चित्रपालकगच्छ के भुवनचन्द्र गुरु, उनके शिष्य देवभद्र मुनि, उनके शिष्य जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरुभ्राता विजयचन्द्रसूरि थे। तपागच्छ पट्टावली के अनुसार ग्रन्थकार के दादा गुरु वस्तुपाल महामात्य के समकालीन थे। प्रस्तुत कृष्णचरित्र का रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध आता है।

इस सुदंसणाचरिय के रचयिता तपागच्छीय जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि हैं। गुरुभ्राता विजयचन्द्रसूरि ने इस ग्रन्थ के निर्माण में सहायता दी थी। कहा जाता है कि देवेन्द्रसूरि को गुर्जर राजा की अनुमतिपूर्वक वस्तुपाल मंत्री के समक्ष आबू पर सूरिपद प्रदान किया गया था। देवेन्द्रसूरि ने वि.सं. 1323 में विद्यानन्द को सूरिपद प्रदान किया था तथा सं. 1327 में स्वर्गवासी हुए थे अतः इस कथाग्रन्थ की रचना इस समय से पूर्व हुई है। इनके अन्य ग्रन्थों में पंचनव्यकर्मग्रन्थ, तीन आगमों पर भाष्य, श्राद्धदिनकृत्य सवृत्ति तथा दानादिकुलक मिलते हैं।

178. देशीनाममाला

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र द्वारा ई. सन् 1159 में विरचित प्राकृत के देशी शब्दों का यह शब्द कोश अत्यंत महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी है। इस ग्रन्थ की रचना सिद्धहेमशब्दानुशासन के आठवें अध्याय में वर्णित प्राकृत व्याकरण की पूर्ति एवं दुर्लभ शब्दों के अर्थ ज्ञान हेतु की गई है। इस शब्द कोश में 8 अध्याय एवं 783 गाथाएँ हैं, जिनमें 3978 शब्द संकलित हैं। शब्दों का संकलन अकारादि क्रम में किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार इस कोश-ग्रन्थ में उन देशी शब्दों का संकलन किया गया है, जो शब्द न तो व्याकरण से व्युत्पन्न हैं, न संस्कृत कोशों में निबद्ध हैं, तथा लक्षणा शक्ति के द्वारा भी जिनका अर्थ प्रसिद्ध नहीं है। साथ ही आचार्य हेमचन्द्र ने यह भी स्पष्ट किया है कि देश-विदेश में प्रचलित ये देशी शब्द अनंत हैं, अतएव उन सभी शब्दों का संग्रह नहीं किया जा सकता है।

यहाँ उन्हीं शब्दों का संकलन किया गया है, जो अनादिकाल से प्राकृत साहित्य की भाषा में और उसकी बोलियों में प्रचलित रहे हैं। इस कोश में कुछ शब्द द्रविड, कौल, मुण्डा आदि भाषाओं के भी प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से यह शब्द-कोश प्राचीन एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के ऐतिहासिक एवं वैज्ञानिक अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है। इस कोश-ग्रन्थ में जिन देशी शब्दों का संकलन किया गया है, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। इन संकलित शब्दों के अनुशीलन के आधार पर उसके काल के रहन-सहन, रीति-रिवाजों आदि पर भी यथेष्ट प्रकाश पड़ता है। आचार्य हेमचन्द्र ने कोशगत देशी शब्दों के स्पष्टीकरण हेतु इस ग्रन्थ में उदाहरण स्वरूप जो गाथाएँ प्रस्तुत की हैं, उनका साहित्यिक सौंदर्य अद्‌भुत एवं बेजोड़ है। उनमें शृंगार रस का सुंदर निरूपण हुआ है। अन्य किसी भाषा के कोश में ऐसे सरस पद्य उदाहरण के रूप में देखने को नहीं मिलते हैं। वस्तुतः 'देशीनाममाला' समस्त भारतीय वाङ्मय में दुर्लभ शब्दों का संकलन करने वाला अनूठा एवं अपूर्व ग्रन्थ है।

179. द्रव्य परीक्षा

यह ग्रन्थ विक्रम संवत् 1375 ईस्वी सन् 1318 में लिखा गया। इसमें 149 गाथायें हैं। यहाँ सिक्कों के मूल्य, तोल, द्रव्य, नाम और स्थान का विस्तृत परिचय दिया गया है। पहले प्रकरण में चासनी सायणिय और दूसरे में स्वर्ण, रजत आदि मुद्राशास्त्र विषयक भिन्न-भिन्न धातुओं के शोधन का वर्णन है। तीसरे प्रकरण में मूल्य का निर्देश और चौथे में सुवर्ण-रुपये मुद्रा, खुरासानीमुद्रा, विक्रमांक मुद्रा, गुर्जरीमुद्रा, मालवीमुद्रा नलपुरमुद्रा जालंधरीमुद्रा ढिल्लिका, महमूदसाही चउकडीया फरीदी अलाउद्दीनी मोमिनी अलाई, मुलतानी, मुख्तलफी और सीराजी आदि मुद्राओं का वर्णन है। 14वीं शताब्दी के मुद्राविषयक ज्ञान की जानकारी के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ठक्करफेरु के अनुसार दिल्ली की टकसाल में मौजूद सिक्कों का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर मुद्राओं की परीक्षा कर उन्होंने इस ग्रन्थ को लिखा है

180. द्वादशकुलक

इसके कर्ता अभयदेवसूरि के शिष्य जिनवल्लभसूरि (स्वर्गवास विक्रम संवत् 1167 ईसवी 1110)हैं। जिपालगणि ने इस पर विवरण लिखा है। यहाँ

सम्यग्ज्ञान का महत्व गुणस्थानप्राप्ति धर्मसामग्री की दुर्लभता मिथ्यात्व आदि का स्वरूप और क्रोध आदि अंतरंग शत्रुओं के परिहार का उपदेश दिया है।

181. धनपाल

महाकवि धनपाल विक्रम की 10वीं-11वीं शताब्दी का एक अग्रगण्य जिनशासन प्रभावक जैन महाकवि था। वि.सं. 1029 में मालवा के राजा ने जिस समय राष्ट्रकूट राजाओं की राजधानी मान्यखेट को लौटकर वहाँ राष्ट्रकूट राज्य को समाप्त किया, उस समय मार्ग में स्थित धारानगरी में रहते हुए धनपाल ने अपनी छोटी बहिन सुन्दरी के लिए देशी भाषा की पाइय लच्छीनाममाला कृति की रचना की। इस कृति में दी गई प्रशस्ति का ऐतिहासिक महत्त्व है। इससे राष्ट्रकूट राज्य के पतनकाल के साथ-साथ धनपाल के समाकालीन अनेक विद्वानों के समय का प्रामाणिक निर्णय किया जा सकता है।

182. धम्मकहाणयकोस

यह ग्रन्थ प्राकृत -कथाओं का कोश है। प्राकृत में ही इस पर वृत्ति है। मूल लेखक और वृत्तिकार का नाम अज्ञात है। (जैन ग्रंथावलि, पृ. 267)। कथानककोश को धम्मकहाणयकोस भी कहा गया है। इसमें 140 गाथायें हैं। इसके कर्ता का नाम विनयचन्द्र है, इनका समय संवत् 1166 (ई. सन् 1109) है। इस ग्रंथ पर संस्कृत व्याख्या भी है। इसकी हस्तलिखित प्रति पाटण के भंडार में है।

183. धम्मपद की प्राकृत भाषा

पालि भाषा में लिखा हुआ धम्मपद प्रसद्धि है। *किन्तु प्राकृत भाषा में लिखा* हुआ एक और धम्मपद भी प्राप्त होता है, जिसे वी. एम. वरुआ और एस. मित्र ने सन् 1921 में कलकत्ता से प्रकाशित किया है। यह खरोष्ठी लिपि में लिखा गया था। इस की प्राकृत भाषा का सम्बन्ध पैशाची आदि प्राकृत से है।

184. धनेश्वरसूरि

सुरसुन्दरीचरियं के प्रणेता धनेश्वरसूरि हैं जो जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। ग्रन्थान्त में 13 गाथाओं की एक प्रशस्ति में ग्रन्थकार का परिचय, रचना का स्थान तथा काल का निर्देश किया गया है। तद्नुसार यह कथाकाव्य चड्डावल्लिपुरी (चन्द्रावती) में सं.1095 की भाद्रपद कृष्ण द्वितीया गुरुवार धनिष्ठा नक्षत्र में

बनाया गया। संभवतः इनके ही गुरु जिनेश्वरसूरि खरतरगच्छ के संस्थापक थे। इसी कथा पर नयसुन्दरकृत संस्कृत सुरसुन्दरीचरित्र का उल्लेख मिलता है।

185. धम्मरसायण

धर्मरसायन ग्रन्थ के रचयिता पद्मनन्दि मुनि हैं। ग्रन्थ के अन्त में कवि का नाम आया है। प्राकृत और संस्कृत कवियों में इस नाम के कई कवि और आचार्य हुए हैं। निश्चित प्रमाणों के अभाव में रचयिता के विषय में यथार्थ प्रकाश डालना कठिन है। इस काव्य ग्रन्थ में 193 गाथाएँ हैं। धर्मरसायन नाम के मुक्तक काव्य प्राकृत भाषा के कवियों ने एकाध और भी लिखे हैं। इस नाम का आशय यही रहा है कि जिन मुक्तकों में संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होने के साथ आचार और नैतिक नियमों को चर्चित किया जाता है वे रचनाएँ धर्मरसायन के अन्तर्गत आती हैं। यद्यपि इस ग्रन्थ में काव्यतत्त्व की अपेक्षा धर्मतत्त्व ही मुखरित हो रहा है तो भी जीवन के शाश्वत नियमों की दृष्टि से इसका पर्याप्त मूल्य है। नैतिक काव्य के प्रायः सभी गुण इसमें वर्तमान हैं। कवि इस धर्मरसायन को सामान्यतया वर्णित करता हुआ रसभेद से उसकी भिन्नता उपमा द्वारा सिद्ध करता है। यथा-

खीराइं जहा लोए सरिसाइं हवंति वण्णणामेण।
रसभेएण य ताइं पि णाणागुणदोसजुत्ताइं ॥ 9 ॥
काइं वि खाराइं जए हवंति दुक्खवहाणि जीवाणं।
काइं वि तुट्ठिं पुट्ठिं करंति वरवण्णमारोग्गं ॥ 10 ॥

जिस प्रकार वर्णमात्र से सभी दूध समान होते हैं पर स्वाद और गुण की दृष्टि से भिन्नता होती है, उसी प्रकार सभी धर्म समान होते हैं पर उनके फल भिन्न-भिन्न होते हैं। आक, मदार या अन्य प्रकार के दूध के सेवन से व्याधि उत्पन्न हो जाती है पर गो दुग्ध के सेवन से आरोग्य और पुष्टिलाभ होता है। इसी प्रकार अहिंसा धर्म के आचरण से शान्तिलाभ होता है पर हिंसा के व्यवहार से अशान्ति और कष्ट प्राप्त होता है। कवि ने चारों गतियों के प्राणियों को प्राप्त होने वाले दुःखों का मार्मिक विवेचन किया है। मनुष्य, तिर्यन्च, नारकी और देव इनकी अपनी-अपनी योनियों में पर्याप्त कष्ट होता है। जिसे इन कष्टों से मुक्ति प्राप्त करने की आवश्यकता है वह धर्मरसायन का सेवन करें।

186. धम्मविहिपयरण (धर्मविधिप्रकरण)

इसके कर्ता श्रीप्रभ हैं जिनका समय ईसवीं सन् 1133 अथवा 1229 माना जाता है। इस पर उदयसिंहसूरि ने विवृति लिखी है। धर्मविधि के द्वार, धर्मपरीक्षा धर्म के दोष, धर्म के भेद, गृहस्थधर्म आदि विषयों का यहाँ विवेचन है। धर्म का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए इलापुत्र, उदायन राजा, कामदेव श्रावक, जंबूस्वामी प्रदेशी राजा मूलदेव विष्णुकुमार सम्प्रति आदि की कथाएँ वर्णित हैं।

187. धम्मसंगहण (धर्मसंग्रहणी)

हरिभद्रसूरि का यह दार्शनिक ग्रंथ है। इसके पूर्वार्ध में पुरुषवादिमतपरीक्षा अनादिनिधनत्व अमूर्तत्व परिणामित्व और ज्ञायकत्व तथा उत्तरार्ध भाग में कर्तृत्व, भोक्तृत्व और सर्वज्ञसिद्धि का प्ररूपण है।

188. धरसेन आचार्य

इन्द्रनन्दि श्रुतावतार में अर्हद्वलि, माघनन्दि और धरसेन इन तीन आचार्यों की विद्वत्ता का परिचय दिया गया है। सम्भवतः इनमें गुरुशिष्य सम्बन्ध भी रहे हों। धवला टीका में आचार्य धरसेन का विशेष परिचय मिलता है। धरसेन दर्शन और सिद्धान्त विषय के गंभीर विद्वान थे। वे आचार्य के साथ शिक्षक भी थे, मन्त्रशास्त्र के ज्ञाता भी। उनके द्वारा रचित 'योनिपाहुड' नामक ग्रन्थ का उल्लेख मिलता है। आचार्य धरसेन को सभी अंग और पूर्वों का एक देश ज्ञाता माना जाता है। विद्वानों ने विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है कि आचार्य धरसेन वीर-निर्वाण सम्वत् 633 तक जीवित थे। उन्होंने वी.नि.सं. 630-31 में पुष्पदंत और भूतबलि को श्रुत की शिक्षा प्रदान की थी। अतः धरसेन का समय ई. सन् 73 के लगभग स्वीकार किया जाता है। अभिलेखीय प्रमाणों से भी धरसेन ई. सन् की प्रथम शताब्दी के विद्वान् सिद्ध होते हैं। आचार्य धरसेन ने शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थ षट्खण्डागम के विषय का प्रतिपादन अपने शिष्यों पुष्पदंत और भूतबलि को कराया था। धरसेनाचार्य को सौराष्ट्र देश के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में रहने वाला सन्त कहा गया है। उनके पास आन्ध्र प्रदेश, वेण नदी के तट से दो आचार्य पढ़ने आये थे। उन्हें दक्षिण देश के आचार्यों ने भेजा था। इससे स्पष्ट है कि शौरसेनी प्राकृत में पठन-पाठन करने वाले आचार्य उस समय सर्वत्र व्याप्त थे।

189. धवला एवं जयधवला टीका

शौरसेनी प्राकृत साहित्य की प्रारम्भिक रचनाओं कषायपाहुड एवं षट्खण्डागम की तरह उनकी टीकाओं का भी शौरसेनी प्राकृत के अध्ययन के लिए विशेष महत्त्व है। इन प्राचीन ग्रन्थों पर टीका लिखने वाले आचार्य वीरसेन हैं। ये जैन दर्शन और संस्कृत प्राकृत भाषाओं के निष्णात पंडित थे। आचार्य जिनसेन (प्रथम) ने अपने गुरु वीरसेन स्वामी के पांडित्य और यश का वर्णन किया है। आचार्य वीरसेन के विद्यागुरु एलाचार्य थे और दीक्षागुरु श्री आर्यनन्दी थे। आचार्य वीरसेन राजस्थान (चित्तौड़) गुजरात, (बाटग्राम, बडौदा) आदि स्थानों पर भी रहे। इन्होंनें षट्खण्डागम पर प्राकृत संस्कृत में धवला टीका लिखी है। आचार्य वीरसेन का समय सन् 816 स्वीकार किया जाता है।

आचार्य वीरसेन ने जो 72 हजार लोकप्रमाण धवला टीका लिखी है वह शौरसेनी प्राकृत के अनेक रूपों को सुरक्षित किये हुए है। भाषा की दृष्टि से यह टीका अत्यन्त समृद्ध है। आचार्य वीरसेन ने कषायपाहुड पर जयधवला नामक टीका लिखी है। इस टीका के 20 हजार लोकप्रमाण अंश को वीरसेन ने लिखा और उसके बाद असमय में उनका निधन होने पर शेष 40 हजार लोकप्रमाण टीका उनके शिष्य जयसेन (द्वितीय) ने लिखी है। ये दोनों टीकाएँ दर्शन, सिद्धान्त, भाषा और संस्कृति की सामग्री की अनुपम निधि हैं। इन टीकाओं में प्राप्त शौरसेनी प्राकृत सम्बन्धी सामग्री का पूर्णतया विश्लेषण होने पर प्राकृत भाषा के इतिहास पर नया प्रकाश पड़ेगा। इन टीकाओं के प्राकृत शब्दों का कोश बनाना प्राथमिक आवश्यकता है।

190. धातूत्पत्ति

इस ग्रन्थ के लेखक ठक्करफेरु हैं। इसमें 57 गाथायें हैं। इन गाथाओं में पीतल, ताँबा, सीसा, राँगा, काँसा, पारा तथा हिंगुलक, सिन्दूर, कर्पूर, चन्दन, मृगनाभि आदि का विवेचन है। तत्कालीन यव, माशा, टंक और तोला का इसमें परिमाण बताया गया है।

191. धूर्ताख्यान (धुत्तक्खाण)

धुत्तक्खाण हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है। लेखक ने बड़े

विनोदात्मक ढंग से रामायण महाभारत और पुराणों की अतिरंजित कथाओं पर व्यंग्य करते हुए उनकी असार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। हरिभद्र एक कुशल कथाकार थे। हास्य और व्यंग्य की इस अनुपम कृति से उनकी मौलिक कल्पनाशक्ति का पता लगता है। यह महाराष्ट्री प्राकृत में सरल और प्रवाहबद्ध शैली में लिखी गई है। इसमें पाँच आख्यान हैं। एक बार उज्जैनी के किसी उद्यान में पाँच धूर्त शिरोमणि-मूलश्री, कंडरीक, एलाषाढ, शश और खंडपाणा एकत्रित हुए। उन्होंने निश्चय किया कि सब लोग अपने अपने अनुभव सुनायें और जो इन अनुभवों पर विश्वास न करे वह सबको भोजन खिलाये, और जो अपने कथन को रामायण, महाभारत और पुराणों से प्रमाणित कर दे, वह धूर्तों का गुरु माना जाये।

आचार्य हरिभद्र की धूर्त्ताख्यान लाक्षणिक शैली में लिखी गई व्यंग एवं उपहास प्रधान रचना है। इस कथा-ग्रन्थ में आचार्य ने पाँच धूर्त्तों के काल्पनिक एवं असंभव आख्यानों के माध्यम से अविश्वसनीय तथा असंभव बातों की मनोरंजक प्रस्तुति करते हुए उनके निराकरण का सशक्त प्रयास किया है। वस्तुतः सरस शैली में व्यंग एवं सुझावों के माध्यम से असम्भव एवं मनगढ़ंत बातों, अन्धविश्वासों, अमानवीय तत्त्वों, जातिवाद आदि को त्यागने का संदेश दिया है। पाँच धूर्त्तों के आख्यानों में अंत में स्त्री खंडपाना की विजय दिखाकर नारी के अन्नपूर्णा रूप के साथ-साथ बौद्धिक रूप को भी दर्शाया है। प्राचीन भारत में गिरे हुए नारी-समाज को उठाने का यह सुन्दर प्रयास है।

आचार्य हरिभद्र ने धर्मकथा का एक अद्‌भुत रूप आविष्कृत किया है जो धूर्ताख्यान के रूप में भारतीय कथा-साहित्य में विचित्र कृति है। इसमें बड़े विनोदात्मक ढंग से रामायण, महाभारत और पुराणों के अतिरंजित चरित्रों और कथानकों पर व्यंग्य करते हुए उन्हें निरर्थक सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। यह प्रचुर हास्य और व्यंग्य से परिपूर्ण रचना है। इसमें 480 के लगभग प्राकृत गाथाएँ हैं जो पाँच आख्यानों में विभक्त हैं। यह सम्पूर्ण कृति सरल प्राकृत में लिखी गई है।

कथावस्तु - उज्जैनी के उद्यान में धूर्तविद्या में प्रवीण पाँच धूर्त अपने सैकड़ों

अनुयायियों के साथ संयोगवश इकट्ठे हुए। पाँच धूर्तों में 4 पुरुष थे और एक स्त्री। वर्षा लगातार हो रही थी और खाने-पीने का प्रबन्ध करना कठिन प्रतीत हो रहा था। पाँचों दलों के मुखियों ने विचार-विमर्श किया। उनमें से प्रथम मूलदेव ने यह प्रस्ताव किया कि हम पाँचों अपने-अपने अनुभव की कथा कहकर सुनायें। उसे सुनकर दूसरे अपने कथानक द्वारा उसे सम्भव करें। जो ऐसा न कर सके और आख्यान को असम्भव बतलावे, वही उस दिन समस्त धूर्तों के भोजन का खर्च उठावे। मूलदेव, कंडरीक, एलाशाढ़, शश नामक धूर्तराजों ने अपने-अपने असाधारण अनुभव सुनाये, उनका समर्थन भी पुराणों के अलौकिक वृत्तान्तों द्वारा किया। पाँचवा आख्यान खंडपाना नाम की धूर्तनी का था। उसने अपने वृत्तान्त में नाना असम्भव घटनाओं का उल्लेख किया, जिनका समाधान क्रमशः उन धूर्तों ने पौराणिक वृत्तान्तों द्वारा कर दिया, फिर उसने एक अद्‌भुत आख्यान कहकर उन सबको अपने भागे हुए नौकर सिद्ध किया तथा कहा कि यदि उस पर विश्वास है तो उसे सब स्वामिनी मानें और विश्वास नहीं तो सब उसे भोजन (दावत) दें तभी वे सब उसकी पराजय से बच सकेंगे। उसकी इस चतुराई से चकित हो सब धूर्तो ने लाचारी में उसे स्वामिनी मान लिया। फिर उसने अपनी धूर्तता से एक सेठ द्वारा रत्नमुद्रिका पाई और उसे बेचकर एवं खाद्य-सामग्री खरीद कर धूर्तों को आहार कराया। सभी धूर्तों ने उसकी प्रत्युन्नमति के लिए साधुवाद किया और स्वीकार किया कि पुरुषों से स्त्री अधिक बुद्धिमान होती है। इस ध्वन्यात्मक शैली द्वारा लेखक ने असंभव, मिथ्या और कल्पनीय बातों का निराकरण कर स्वस्थ, सदाचारी और संभव आख्यानों की ओर संकेत किया है।

192. ध्वन्यालोक

ध्वन्यालोक के कर्त्ता आनंदवर्धन कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के सभापति थे। इनका समय लगभग 9वीं शताब्दी का उत्तरार्ध माना गया है। इस ग्रन्थ में ध्वनि को ही काव्य की आत्मा स्वीकार किया गया है। इस ग्रन्थ पर अभिनवगुप्त ने टीका लिखी है। मूल ग्रन्थ एवं टीका दोनों में मिलाकर प्राकृत की लगभग 46 गाथाएँ प्राप्त होती हैं।

193. नन्दिसूत्र (नंदिसुत्तं)

यह अर्धमागधी आगम चूलिका के नाम से भी जाना जाता है। नन्दीसूत्र का प्रमुख विषय ज्ञानवाद है। निर्युक्तिकार के अनुसार भाव एवं निक्षेप से पाँच ज्ञान को नन्दी कहते हैं। इसमें पाँच ज्ञान की सूचना देने वाले सूत्र हैं, अतः इसका नंदीसूत्र नाम सार्थक है। इसमें पाँचों ज्ञान का विशद् वर्णन उनके भेद-प्रभेदों के साथ किया गया है। नन्दीसूत्र में ज्ञान के सम्बन्ध में जो विश्लेषण किया गया है, उसका मुख्य आधार स्थानांग, समवायांग, भगवती, राजप्रश्नीय व उत्तराध्ययन सूत्र हैं। उनमें दिये गये संक्षिप्त ज्ञानवाद को नन्दीसूत्र में पूर्ण विकसित किया गया है। ज्ञान के विश्लेषण के अन्तर्गत मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय तथा केवलज्ञान की व्याख्या की गई है। सम्यक् श्रुत के प्रसंग में द्वादशांगी के आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि बारह भेद किये गये हैं। जिनदासगणि महत्तर ने नंदीसूत्र पर चूर्णि की रचना की है तथा आचार्य हरिभद्र तथा आचार्य मलयगिरि ने इस पर टीकाएँ लिखी हैं।

194. नर्मदासुंदरीकथा (नम्मयासुन्दरीकहा)

महेन्द्रसूरि द्वारा रचित नर्मदासुन्दरीकथा धर्म प्रधान कथा-ग्रन्थ है। इसका रचना काल वि.सं. 1187 है। इसमें महासती नर्मदासुंदरी के सतीत्त्व का निरूपण किया गया है। नायिका नर्मदासुंदरी अनेक कष्टों को सहन कर के भी अपने शीलव्रत की रक्षा करती है। नायिका के शीलव्रत की परीक्षा के अनेक अवसर आते हैं, किन्तु नायिका अपने व्रत पर अटल रहकर अपने शील की रक्षा करती है। धर्मकथा होते हुए भी मनोरंजन एवं कौतूहल तत्त्व इसमें पूर्ण रूप में समाविष्ट हैं। बीच-बीच में कथा को प्रभावशाली बनाने के लिए सूक्तियों का भी प्रयोग किया है। यथा- **नेहं विणा विवाहो आजम्म कुणइ परिदाहं (गा. 39)** अर्थात् – प्रेम के बिना विवाह जीवन भर दुःखदाई होता है।

नर्मदासुंदरीकथा एक धर्मप्रधान कथा है जिसकी महेन्द्रसूरि संवत् 1187 (ईसवी सन् 1130) में अपने शिष्यों के अनुरोध पर रचना की। यह कथा गद्य-पद्यमय है जिसमें पद्य की प्रधानता है। इसमें महासती नर्मदासुंदरी के चरित का वर्णन किया गया है, जो अनेक कष्ट आने पर भी शीलव्रत के पालन में दृढ़ रही।

नर्मदासुन्दरी सहदेव की भार्या सुन्दरी की कन्या थी। महेश्वरदत्त के जैनधर्म स्वीकार कर लेने पर महेश्वरदत्त का विवाह नर्मदासुन्दरी के साथ हो गया। विवाह का उत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। महेश्वरदत्त नर्मदासुन्दरी को साथ लेकर धन मकान के लिये यवनद्वीप गया। मार्ग में अपनी पत्नी के चरित्र पर संदेह हो जाने के कारण उसने उसे वहीं छोड़ दिया। निद्रा से उठकर नर्मदासुन्दरी ने अपने आपको एक शून्य द्वीप में पाया और प्रलाप करने लगी। कुछ समय पश्चात् उसे उसका चाचा वीरदास मिला और वह नर्मदासुन्दरी को बब्बरकूल (एडन के आसपास का प्रदेश) ले गया। यहीं से नर्मदासुन्दरी का जीवन संघर्ष आरम्भ होता है। यहाँ पर वेश्याओं का एक मुहल्ला था, जिसमें सात सौ गणिकाओं की स्वामिनी हरिणी नाम की एक सुप्रसिद्ध गणिका निवास करती थी। सब गणिकायें उसके लिये धन कमाकर लातीं और वह उस पर धन का तीसरा या चौथा भाग राजा को दे देती। नर्मदासुन्दरी ने हरिणी वेश्या की एक न सुनी। उसने दुष्ट कामुक पुरुषों को बुलाकर नर्मदासुन्दरी के शीलव्रत को भंग करने की भरसक चेष्टा की, फिर अपने दासों से लंबे डंडों से उसे खूब पिटवाया। लेकिन नर्मदासुन्दरी अपने व्रत से विचलित न हुई। वहाँ करिणी नाम की एक दूसरी वेश्या रहती थी। उसके नर्मदासुन्दरी की सहायता करने के लिये अपने घर में उसे रसोइयन रख ली। कुछ समय पश्चात् हरिणी की मृत्यु हो गई और नर्मदासुन्दरी को टीका करके सजधज के साथ उसे प्रधान गणिका के पद पर बैठाया गया। अन्त में वह जिनदेव नाम के श्रावक से मिली। नर्मदासुन्दरी ने अपना धर्मबंधु समझ कर जिनदेव से सारी बातें कहीं। जिनदेव वीरदास का मित्र था, वह नर्मदासुन्दरी को उसके पास ले गया, और इस प्रकार कथा की नायिका को दुखों से छुटकारा मिला। अन्त में उसने सुहस्तिसूरि के चरणों में बैठकर श्रमणी दीक्षा ग्रहण की।

नर्मदासुन्दरी के कथानक को लेकर कई कवियों ने प्राकृत, अपभ्रंश और गुजराती में काव्य लिखे। उनमें देवचन्द्रसूरि और महेन्द्रसूरिकृत प्राकृत रचना प्रकाशित हुई है। अपभ्रंश में जिनप्रभसूरि की और गुजराती में मेरूसुन्दर की रचना भी प्रकाश में आई है। पहली देवचन्द्रसूरिकृत रचना 250 गाथा प्रमाण है।

उन्होंने अपने पूर्व गुरु आचार्य प्रद्युम्नसूरिरचित मूलशुद्धिप्रकरण नामक प्राकृत ग्रन्थ के ऊपर विस्तृत टीका की रचना की थी। उसी टीका में उदाहरणरूप अनेक प्राचीन कथाओं का संकलन किया था। उसमें प्रस्तुत नर्मदासुन्दरी की कथा, प्रसंगवश संक्षेप में लिखी है। दूसरी रचना के रचियता महेन्द्रसूरि हैं। इसमें 1117 गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कितना ही गद्यभाग है इससे इसका ग्रन्थाग्र 1750 श्लोक प्रमाण है। महेन्द्रसूरि ने लिखा है कि उन्होंने यह मूलकथा शान्तिसूरि नामक आचार्य के मुख से सुनी थी। इस कथा में नर्मदासुन्दरी द्वारा अनेक विचित्र परिस्थितियों में पड़कर अपने सतीत्व की रक्षा करने की अद्भुत कथा का वर्णन है।

महेन्द्रसूरि की रचना बहुत सरल, प्रासादिक और सुबोधात्मक है। कथा की घटना बच्चे से बूढ़े तक हृदयंगम कर सकते हैं, ऐसी सरसरीति से वह कही गई है। बीच-बीच में लोकोक्ति और सुभाषितों की छटा भी देखते बनती है। प्राकृत भाषा के अभ्यासियों के लिए यह सुन्दर रचना है। महेन्द्रसूरि ने यह रचना अपने शिष्य की अभ्यर्थना से ही बनाई थी।

195. नये कर्मग्रन्थ (नव्य कर्मग्रन्थ)

तपागच्छीय जगचन्द्रसूरि के शिष्य तथा सुदंसणचरिय, भाष्यत्रय सिद्धपंचाशिकासूत्रवृत्ति, श्राद्धदिनकृत्यवृत्ति, वन्दारुवृत्ति आदि के कर्त्ता देवेन्द्रसूरि (ईसवी सन् 1270) ने कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक नाम के पाँच कर्मग्रन्थों की रचना की है। इन पर उनका स्वोपज्ञ विवरण भी है। प्राचीन कर्मग्रन्थों को आधार मानकर इनकी रचना की गई है, इसीलिए इन्हें नव्य कर्मग्रन्थ कहा जाता है। पहले कर्मग्रंथ में 60 गाथायें हैं, जिनमें ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्म, उनके भेद प्रभेद और उनके विपाक का दृष्टान्तपूर्वक प्रतिपादन किया गया है। दूसरे कर्मग्रन्थ में 34 गाथायें हैं। यहाँ 14 गुणस्थानों का स्वरूप और इन गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का प्ररूपण है। तीसरे कर्मग्रन्थ में 24 गाथायें हैं, इनमें मार्गणा के आश्रय से जीवों के कर्मप्रकृतिविषयक बंध-स्थिति का वर्णन है। चौथे कर्मग्रन्थ में 86 गाथायें हैं, इनमें जीवस्थान मार्गणास्थान गुणस्थान भाव और

संख्या पाँच विषयों का विस्तृत विवेचन है। इसे सूक्ष्मार्थ विचार नाम से भी कहा गया है।

पाँचवे कर्मग्रन्थ में 100 गाथायें हैं। इनमें पहले कर्मग्रन्थ में वर्णित कर्मप्रकृतियों में से कौन सी प्रकृतियाँ ध्रुवबंधिनी, अध्रुवबंधिनी, ध्रुवोदया, अध्रुबोदया, ध्रुवसत्ता, अध्रुवसत्ता, सर्वधाती, देशधाती अधाती पुण्यप्रकृति पापप्रकृति, परावर्तमान प्रकृति और अपरावर्तमानप्रकृति होती है, इसका निरूपण है।

196. नाट्यशास्त्र

आचार्य भरत द्वारा रचित नाट्यशास्त्र सर्वाधिक प्राचीन संस्कृत व्याकरण है। इसमें प्राकृत भाषा के व्याकरण सम्बंधी कुछ नियमों का भी उल्लेख हुआ है। नाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में 6 से 23 लोकों में प्राकृत व्याकरण के कुछ सिद्धान्त विवेचित हैं। इसके अतिरिक्त 32वें अध्याय में प्राकृत के बहुत से उदाहरण दिये हैं। भरत के प्राकृत व्याकरण सम्बंधी ये अनुशासन अत्यंत ही संक्षिप्त एवं अस्पष्ट हैं, किन्तु यह व्याकरण-ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो जाता है कि भरत के समय में ही प्राकृत व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की गई थी। दूसरी बात यह भी हो सकती है कि उस समय प्राकृत का कोई प्रसिद्ध व्याकरण-ग्रन्थ उपलब्ध रहा होगा। अत: आचार्य भरत ने प्राकृत व्याकरण के केवल कुछ सामान्य नियमों का मात्र उल्लेख करना ही पर्याप्त समझा होगा।

197. निमित्तशास्त्र

इस निमित्तशास्त्र नामक ग्रन्थ के कर्ता हैं ऋषिपुत्र। ये गर्ग नामक आचार्य के पुत्र थे। गर्ग स्वयं ज्योतिष के प्रकांड पंडित थे। पिता ने पुत्र को ज्योतिष का ज्ञान विरासत में दिया। इसके सिवाय ग्रंथकर्ता के संबंध में और कुछ पता नहीं लगता। ये कब हुए, यह भी ज्ञात नहीं है। इस ग्रंथ में 187 गाथाएँ हैं जिनमें निमित्त के भेद, आकाश-प्रकरण, चंद्र-प्रकरण, उत्पात-प्रकरण, वर्षा उत्पात, देव-उत्पातयोग, राज-उत्पातयोग, इन्द्रधनुष द्वारा शुभ-अशुभ का ज्ञान, गन्धर्वनगर का फल, विद्युल्लतायोग और मेघयोग का वर्णन है।

198. नित्ति डोलची एवं अन्य पाश्चात्य विद्वान्

बीसवीं शताब्दी के चतुर्थ एवं पंचम दशक में पाश्चात्य विद्वानों ने प्राकृत

भाषा के क्षेत्र में जो कार्य किया उसमें ल्युजिआ नित्ति का अध्ययन विशेष महत्व का है। उन्होंने न केवल प्राकृत के विभिन्न वैयाकरणों के मतों का अध्ययन किया है, अपितु अभी तक प्राकृत भाषा पर हुए पिशेल आदि के ग्रन्थों की सम्यग् समीक्षा भी की है। उनका प्रसिद्ध ग्रन्थ **लेस ग्रमेरियन्स प्राकृत्स** (प्राकृत के व्याकरणकार) है, जो पेरिस से सर्न 1938 ई. में प्रकाशित हुआ है। नित्ति डोलची का दूसरा गन्थ **डु प्राकृतकल्पतरु डेस रामशर्मन विब्लियोथिक डिले आल हेट्स इटूयड्स** है। इन्होंने प्राकृत-अपभ्रंश भाषा से सम्बन्धित समस्याओं पर शोध-निबन्ध भी लिखे हैं- **प्राकृत ग्रमेरिअन्स टर्डिस एट डायलेक्ट्स डु** आदि। इसी समय टी. बरो का **द लेंग्वेज आफ द खरोष्ट्री डोकुमेंट्स फ्राम चाईनीज तुर्किस्तान** नामक निबन्ध 1937 में कैम्ब्रिज से प्रकाशित हुआ। प्राकृत मुहावरों के सम्बन्ध में विल्तोरे पिसानी ने **एन अननोटिस्ड प्राकृत इडियम** नामक लेख प्रकाशित किया। मागधी एवं अर्धमागधी के स्वरूप का विवेचन करने वाला डब्ल्यू ई क्लर्क का लेख **मागधी एण्ड अर्धमागधी** सन् 1944 ई. में प्रकाश में आया। 1948 ई. में नार्मन ब्राउन ने जैन महाराष्ट्री प्राकृत और उसके साहित्य का परिचय देने वाला **जैन महाराष्ट्री प्राकृत सम केनिकल मेटेरियल इन** नाम से एक आलेख लिखा।

इस शताब्दी के छठे दशक में प्राकृत के साहित्यिक ग्रन्थों पर भी पाश्चात्य विद्वानों ने दृष्टिपात किया। कुवलयमालाकथा की भाषा ने विद्वानों को अधिक आकृष्ट किया। सन् 1950 में अल्फड मास्तर ने **ग्लीनिंग्स फ्राम द कुवलयमाला** नामक लेख लिखा। जिसमें उन्होंने ग्रन्थ की 18 देशी भाषाओं पर प्रकाश डाला। दूसरे विद्वान् जे. क्यूपर ने **द पैशाची फ्रागमेंन्ट आफ द कुवलयमाला** में ग्रन्थ की भाषा की व्याकरण-मूलक व्याख्या प्रस्तुत की। प्राकृत भाषा के अध्ययन के इस प्रसार के कारण विश्व की अन्य भाषाओं के साथ भी उसकी तुलना की जाने लगी। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री ज्यूल्स ब्लाख ने अपने **प्राकृत Cia लैटिन लैंग्वेज** नामक लेख में प्राकृत और लैटिन भाषा के सम्बन्धों पर विचार किया है।

199. निमित्तपाहुड

निमित्तपाहुड शास्त्र द्वारा केवली, ज्योतिष और स्वप्न आदि निमित्तों का ज्ञान प्राप्त किया जाता था। आचार्य भद्रेश्वर ने अपने कहावली में और शीलांकसूरि ने अपनी सूत्राकृतांगटीका में निमित्तपाहुड का उल्लेख किया है।

200. नियमसारो

नियमसार आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक रचना है। इसमें मिथ्यादर्शनादि को त्यागने तथा शुद्धभाव में स्थित आत्मा की आराधना का कथन किया गया है। इस ग्रन्थ में 186 गाथाएँ हैं, जो 12 अधिकारों में विभक्त हैं। नियम का अर्थ है – मोक्ष प्राप्ति का मार्ग। इस दृष्टि से इस ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र को मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कहा है –

सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥ ... (गा. 134)

अर्थात् – जो श्रमण या श्रावक सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की भक्ति करता है, वह निश्चित रूप से निर्वाण की भक्ति होती है। ऐसा जिनेन्द्रों द्वारा कहा गया है।

201. निरयावलिया

निरयावलिका का अर्थ है नरक में जाने वाले जीवों का पंक्तिबद्ध वर्णन करने वाला सूत्र। पूर्व में इस अर्धमागधी आगम ग्रन्थ में 1 श्रुतस्कन्ध, 52 अध्ययन एवं पाँच वर्ग थे तथा इसमें निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका, वृष्णिदशा, इन पाँच उपांगों का समावेश था, किन्तु वर्तमान समय में ये पाँचों उपांग पृथक-पृथक रूप में स्वीकृत हैं। वर्तमान में निरयावलिका में दस अध्ययन हैं। इसके दस अध्ययनों में काल, सुकाल, महाकाल, कण्ह, सुकण्ह, महाकण्ह, वीरकण्ह, रामकण्ह, पिउसेनकण्ह एवं महासेनकण्ह के जीवन-चरित का वर्णन है। ये सभी कुमार राजा श्रेणिक के पुत्र तथा कूणिक (अजातशत्रु) के भाई थे। यह उपांग ऐतिहासिक वर्णनों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

202. निया प्राकृत

प्राकृत भाषा का प्रयोग भारत के पड़ौसी प्रान्तों में भी बढ़ गया था इस बात का

पता निया प्रदेश (चीनी तुर्किस्तान) से प्राप्त लेखों की भाषा से पता चलता है, जो प्राकृत भाषा से मिलती-जुलती है। निया प्राकृत का अध्ययन डॉ. सुकुमार सेन ने किया है, जिससे ज्ञात होता है कि इन लेखों की प्राकृत भाषा का सम्बन्ध दरदी वर्ग की तौखारी भाषा के साथ है। अतः प्राकृत भाषा में इतनी लोच और सरलता है कि वह देश-विदेश की किसी भी भाषा से अपना सम्बन्ध जोड़ सकती है।

203. निर्युक्ति साहित्य

जैन आगम साहित्य पर सर्वप्रथम प्राकृत भाषा में लिखी गई पद्यबद्ध टीकाएँ निर्युक्तियों के नाम से जानी जाती हैं। निर्युक्ति का अर्थ है एक सूत्र में विद्यमान अर्थ की व्याख्या करना। निर्युक्तियों की व्याख्या शैली निक्षेप पद्धति है। एक शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु कौनसा अर्थ किस प्रसंग के लिए उपयुक्त है यही स्पष्ट करना, निर्युक्ति का उद्देश्य है। सही दृष्टि से शब्द के साथ अर्थ का सम्बन्ध स्थापित करना ही निर्युक्ति है। प्राकृत गाथाओं में लिखी गई ये निर्युक्तियाँ विषय का संक्षिप्त रूप से प्रतिपादन करती हैं। विषय का प्रतिपादन करने के लए तथा विवेच्य विषय को समझाने के लिए इन निर्युक्तियों में अनेक दृष्टान्तों व कथानकों का भी उपयोग किया गया है।

व्याख्या साहित्य में निर्युक्तियाँ सर्वाधिक प्राचीन हैं। निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु माने गये हैं। ये भद्रबाहु अन्तिम श्रुतकेवली, छेदसूत्र के रचयिता भद्रबाहु से पृथक हैं। इन्होंने आगम संकलन काल (ई. सन् की चौथी पाँचवी शताब्दी के लगभग) से ही निर्युक्तियाँ लिखना प्रारम्भ कर दिया था। भद्रबाहु ने निम्न दस सूत्रों पर निर्युक्तियों की रचना की है- 1. आवश्यक 2. दशवैकालिक 3. उत्तराध्ययन 4. आचारांग 5. सूत्रकृतांग 6. दशाश्रुतस्कन्ध 7. बृहत्कल्प 8. व्यवहार 9. सूर्यप्रज्ञप्ति 10. ऋषिभाषित। भद्रबाहु की इन निर्युक्तियों में श्रमण-जीवन से सम्बन्धित सभी विषयों पर चर्चा हुई है।

204. निर्वाणलीलावतीकथा (निव्वाण लीलावईकहा)

निर्वाण लीलावती कथा-ग्रन्थ वि.सं. 1082-1095 के मध्य लिखा गया था। इसके कर्त्ता जिनेश्वरसूरि हैं। मूल ग्रन्थ अनुपलब्ध है। इसका सार रूप संस्कृत में

जिनरत्नसूरि का प्राप्य है। इस कथा-ग्रन्थ के माध्यम से यह विवेचित करने का प्रयत्न किया गया है कि क्रोध, मान, माया, लोभ, हिंसा, चोरी आदि पापों का फल जन्म-जन्मांतरों तक भोगना पड़ता है।

यह कथा भी स्त्री-प्रधान नहीं है फिर भी आकर्षण के लिए यह नाम चुना गया है। कुवलयमाला के समान ही इसमें भी संसार-परिभ्रमण के कारणों को प्रदर्शित करने वाली कथाएँ दी गई हैं। कुवलयमाला में जिस तरह क्रोध, मान, माया, लोभ और मोह से प्रभावित व्यक्ति कथा के पात्र बनाये गये हैं। उसी तरह निर्वाणलीलावती में पाँच दोष-युगलों अर्थात् (1) हिंसा-क्रोध (2) मृशा-मान (3) स्तेय-माया (4) मैथुन-मोह और (5) परिग्रह-लोभ को तथा स्पर्शन आदि पंच-इन्द्रियों के वशीभूत होने को संसार का कारण बताते हुए उनका फल भोगनेवाले व्यक्तियों की कथाएँ दी गई हैं। कुवलयमाला के समान ही इसका नाम इन कथाओं के एक नायिका-पात्र के नाम से रखा गया है और कथाओं को एक साथ पूर्वभवों के दृष्टान्त द्वारा जोड़ा गया है। इस कथानक को लेकर प्राकृत भाषा में निव्वाणलीलावई नामक कथा-ग्रन्थ सं.1082 और 1095 के मध्य आजोपल्ली में जिनेश्वरसूरि ने रचा। समस्त ग्रन्थ प्राकृत पद्यों में है पर मूल रचना अभी तक अनुपलब्ध है।

205. निर्वाणकाण्ड

प्राकृत का प्राचीन स्तोत्र निर्वाणकाण्ड हैं। इसमें चौबीस तीर्थंकर एवं अन्य ऋषिमुनियों के निर्वाण-स्थान का निर्देश किया गया है। इस स्तोत्र में तीर्थों का उल्लेखकर वहाँ से मुक्ति पानेवालों को नमस्कार किया है। इस स्तोत्र में अष्टापद, चम्पा, ऊर्जयन्त (गिरनार) सम्मेदशिखर, तारउर, पावागिर, गजपन्था, तुंगीगिर, सुवर्णगिरि, रेवानदी बड़वानी, चेलना नदी, चूलगिरि द्रोणगिरि, मेढगिरि, कुन्थुगिरि, कोटिशिला, रेसिन्दीगिरि स्थानों से निर्वाण-लाभ करने वाले महापुरुषों को नमस्कार किया है। इस काण्ड में कुल 21 गाथाएँ हैं। यह निर्वाणकाण्ड स्तोत्र दिगम्बर सम्प्रदाय में अत्यन्त प्रमाणित स्तोत्र माना जाता है। तीर्थस्थानों का इतिहास इस स्तोत्र में निहित है। चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण

एवं अन्य महान् तपस्वी, जिन्होंने घोर तपश्चरण कर निर्वाण प्राप्त किया है इस स्तोत्र में उल्लिखित हैं।

206. निशीथसूत्र (निसीहं)

अर्धमागधी आगम साहित्य के छेदसूत्रों में निशीथसूत्र एक मानदण्ड के उनकी प्रायश्चित्त विधि की विशेष चर्चा की गई है। अनिवार्य कारणों से या बिना रूप में है। यह सूत्र अपवाद बहुल है। इसमें श्रमणाचार के अपवादिक नियमों एव कारण ही संयम की मर्यादा को भंग करके यदि कोई स्वयं आलोचना करके प्रायश्चित्त ग्रहण करे तो किस दोष का कितना प्रायश्चित्त होता है, यह इस छेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय है। अतः यह छेदसूत्र हर किसी को नहीं पढ़ाया जाता है। निशीथसूत्र में 20 उद्देशक हैं, जिनमें चार प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है। 19 उद्देशकों में प्रायश्चित्त का विधान तथा 20वें उद्देशक में प्रायश्चित्त देने की प्रक्रिया का वर्णन है। निशीथ आचारांगसूत्र की पाँचवीं चूलिका ही है, किन्तु विस्तृत होने के कारण बाद में इसे निशीथ के नाम से अलग कर दिया गया। इसके अतिरिक्त इस सूत्र में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति, श्रमण-श्रमणी के आचार, गोचरी, भिक्षाचरी, कल्प, क्रिया आदि के नियमों, दोषों एवं उनके शुद्धिकरण के उपायों का वर्णन है।

207. निशीथ-विशेषचूर्णि

जिनदासगणिकृत प्रस्तुत चूर्णि मूलसूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य के विवेचन के रूप में हैं। इसमें संस्कृत का अल्प प्रयोग है। प्रारम्भ में पीठिका है, जिसमें निशीथ की भूमिका के रूप में तत्सम्बद्ध आवश्यक विषयों का व्याख्यान किया गया है। प्रारंभिक मंगल-गाथाओं में आचार्य ने अपने विद्यागुरू प्रद्युम्न क्षमाश्रमण को नमस्कार किया है। इसी प्रसंग पर उन्होंने यह भी बताया है कि निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी है। निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अंधकार। अप्रकाशित वचनों के निर्णय के लिए निशीथसूत्र है।

अष्टम उद्देश्य से सम्बन्धित चूर्णि में उद्यान, उद्यानगृह, उद्यानशाला, निर्याण, निर्याणगृह, निर्याणशाला, अट्ट, अट्टालक, चरिका, प्रकार, द्वार गोपुर, दक, दक

मार्ग, दकपथ, दकतीर, दकस्थान, शून्यगृह, शून्यशाला, भिन्नगृह, भिन्नशाला, कूटागार, कोष्ठागार, तृणगृह, तृणशाला, तुषगृह, छुसगृह, छुसशाला, पर्यायगृह, पर्यायशाला, कर्मान्तगृह, कर्मान्तशाला, महागृह, महाकुल, गोगृह, गोशाला आदि स्वरूप बताया गया है। एकादश उद्देश्य की व्याख्या में अयोग्य दीक्षा का निषेध करते हुए आचार्य ने 48 प्रकार के व्यक्तियों को प्रव्रज्या के अयोग्य माना है- 18 प्रकार के पुरुष, 20 प्रकार की स्त्रियाँ और 10 प्रकार के नपुंसक। इसी प्रसंग पर आचार्य ने 16 प्रकार के रोग एवं 8 प्रकार की व्याधि के नाम भी गिनाये हैं। शीघ्र नष्ट होने वाली पीड़ा व्याधि तथा देर से नष्ट होने वाला कष्ट रोग कहलाता है।

अंतिम बीसवें उद्देश्य की व्याख्या के अन्त में चूर्णिकार के पूरे नाम- जिनदासगणि महत्तर का उल्लेख कियागया है तथा प्रस्तुत चूर्णि का नाम विशेषनिशीथचूर्णि बताया गया है। प्रस्तुत चूर्णि का जैन आचारशास्त्र के व्याख्याग्रन्थों में एक विशिष्ट स्थान है। इसमें आचार के नियमों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन पर प्रकार डालने वाली सामग्री की भी प्रचुरता है। अन्य व्याख्याग्रन्थों की भाँति इसमें भी अनेक कथानक उद्धृत किये गये हैं। इनमें धूर्ताख्यान, तरंगवती, मलयवती, मगधसेन, आर्यकालक एवं उनकी भगिनी रूपवती तथा उज्जयिनी के राजा गर्दभिल्ल आदि के वृतान्त उल्लेखनीय हैं।

208. नेमिचन्द्र आचार्य

शौरसेनी प्राकृत साहित्य के समर्थ लेखक आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। ये नेमिचन्द्र सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। अतः इनका समय 11वीं शताब्दी (सन्1028) के लगभग निश्चित है। नेमिचन्द्र सिद्धान्त ग्रन्थों के प्रकाण्ड पंडित थे। उनकी ये रचनाएँ उपलब्ध हैं – 1. गोम्मटसार 2. त्रिलोकसार 3. लब्धिसार 4. क्षपणासार 5. द्रव्य संग्रह। आचार्य नेमिचन्द्र के इन ग्रन्थों में कर्मसिद्धान्त, जैनभूगोल, द्रव्य-विवेचन आदि का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। इनके ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत भाषा में परम्परा से प्राप्त प्राचीन शब्दावली

का प्रयोग मिलता है और साथ ही अनेक नये शब्दों के प्रयोग भी उपलब्ध हैं। इनका साहित्य जैनदर्शन और सिद्धान्त के साथ भूगोल और गणित की दृष्टि से भी उपयोगी है।

आचार्य नेमिचन्द्र जैन सिद्धान्त साहित्य के बहुश्रुत एवं अद्वितीय विद्वान थे। इन्हें सिद्धान्तचक्रवर्ती की उपाधि प्राप्त थी। ये कर्नाटक के गंगवंशीय राजा राचमल्ल के सेनापति चामुण्डराय के समकालीन थे। इनका समय लगभग 11वीं शताब्दी माना गया है। इन्होंने अनेक प्राकृत ग्रन्थों का प्रणयन कर जैन सिद्धान्त साहित्य की विस्तार से व्याख्या प्रस्तुत की है। इनकी निम्न रचनाएँ प्रसिद्ध हैं –

1. गोम्मटसार 2. त्रिलोकसार 3. क्षपणसार 4. लब्धिसार 5. द्रव्यसंग्रह

गोम्मटसार दो भागों में है – जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड। इस ग्रन्थ के माध्यम से आचार्य ने षट्खण्डागम के विषय को सरलता से समझाने का प्रयत्न किया है। त्रिलोकसार करुणानुयोग का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें तीनों लोकों की रचना से सम्बन्धित सभी तथ्यों का निरूपण हुआ है। जम्बूद्वीप, लवणसमुद्र, मानुष क्षेत्र, भवनवासियों के लिए रहने के स्थान, आयु, परिवार आदि का विस्तार से विवेचन हुआ है। खगोल विज्ञान की दृष्टि से ग्रह, नक्षत्र, तारा, सूर्य, चन्द्र आदि की आयु, विमान, गति, परिवार आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री भी इसमें विवेचित है। लब्धिसार में आत्मा की शुद्धि के लिए आवश्यक पाँच लब्धियों – क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना, प्रायोग्य और करण को प्राप्त करने की विधि का विस्तार से वर्णन हुआ है। क्षपणसार में कर्मों से विमुख होने की विधि का वर्णन है। द्रव्यसंग्रह जैन सिद्धान्त शास्त्र का 58 गाथाओं का संक्षिप्त ग्रन्थ है। इसमें जीव, अजीव, धर्म, अधर्म, आकाश एवं काल इन छः द्रव्यों का निरूपण किया गया है। सात तत्त्वों, ध्यान एवं मोक्ष–मार्ग का भी इसमें विवेचन हुआ है। यथा ध्यान का स्वरूप बताते हुए कहा गया है –

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिन्तह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं॥ ... (गा. 53)

अर्थात् – कुछ मत करो, कुछ मत बोलो, कुछ मत सोचो। जिससे आत्मा, आत्मा में स्थिर हो, यही परम ध्यान है।

209. नेमिचन्द्रसूरि

महावीरचरिय के रचयिता बृहद्गच्छ के आचार्य नेमिचन्द्रसूरि हैं। इनका समय विक्रम की 12वीं शती माना जाता है। इनकी छोटी-बड़ी 5 रचनाएँ मिलती हैं - 1. आख्यानमणिकोश (मूलगाथा 52), 2. आत्मबोधकुलक अथवा धर्मोपदेशकुलक (गाथा 22), 3. उत्तराध्ययनवृत्ति (प्रमाण 12000 श्लोक), 4. रत्नचूड़कथा (प्रमाण 3081 श्लोक) और 5. महावीरचरियं (प्रमाण 3000 श्लोक)। प्रस्तुत रचना उनकी अन्तिम कृति है और इसका रचनाकाल सं. 1141 है। रचयिता के दीक्षागुरु तो आम्रदेवोपाध्याय थे पर वे आनन्दसूरि के मुख्य पट्टधर के रूप में स्थापित हुए थे। पट्टधर होने के पहले इनकी सामान्य मुनि अवस्था (वि. सं. 1129 के पहले) का नाम देविंद (देवेन्द्र) था। पीछे उनके देवेन्द्रगणि और नेमिचन्द्रसूरि दोनों नाम मिलते हैं।

210. नेमिचन्द्रसूरि (देवेन्द्रगणि)

रयणचूडरायचरिय के रचयिता नेमिचन्द्रसूरि (पूर्व नाम देवेन्द्रगणि) हैं जो बृहद्गच्छ के उद्द्योतनसूरि के प्रशिष्य और आम्रदेव के शिष्य थे। इस रचना का समय तो मालूम नहीं पर इन्होंने अपनी दूसरी कृति महावीरचरियं को सं. 1139 में बनाया था। इनकी अन्य कृतियों में उत्तराध्ययन-टीका (सं. 1129) तथा आख्यानमणिकोश भी मिलते हैं। इन्होंने रत्नचूड़कथा की रचना डंडिल पदनिवेश में प्रारम्भ की थी और चड्डावलिपुरी में समाप्त की थी। इसकी प्राचीन प्रति सं. 1208 की मिली है। इसकी ताड़पत्रीय प्रति चक्रेश्वर और परमानन्दसूरि के अनुरोध से प्रद्युम्नसूरि के प्रशिष्य यशोदेव ने सं. 1221 में तैयार की थी।

211. नेमिनाहचरियं

22वें तीर्थंकर नेमिनाथ पर प्राकृत में तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं। प्रथम जिनेश्वरसूरि की है जो सं. 1175 में लिखी गई थी। दूसरी मलधारी हेमचन्द्र (हर्षपुरीय गच्छ के अभयदेव के शिष्य) की 5100 ग्रन्थाग्र प्रमाण (12वीं का उत्तरार्ध) है तथा तीसरी बृहद्गच्छ के वादिदेव सूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरि कृत विशाल रचना है जिसका रचना संवत् 1233 है। यह गद्य-पद्यमय रचना 6 अध्यायों में विभक्त है। इसका ग्रन्थाग्र 13600 प्रमाण है।

212. पउमचरिउ

पउमचरिउ की कथावस्तु को स्वयम्भू कवि ने काण्डों में विभक्त किया है। कथावस्तु को काण्डों में विभाजित करने में इन्होंने महाकवि वाल्मीकि का अनुशरण किया है। इसमें पाँच काण्ड हैं- विद्याधर काण्ड, अयोध्या काण्ड, सुन्दर काण्ड, युद्ध काण्ड और उत्तर काण्ड।

विद्याधरकाण्ड- विद्याधर काण्ड में वर्णित इन्द्र, बलि और रावण क्रमशः विद्याधर वंश, वानर वंश तथा राक्षस वंश के प्रतिनिधि रहे हैं। भरत एवं बाहुबलि ने इक्षवाकु वंश का प्रतिनिधित्व किया है। इनमें प्रारम्भ की चार संधियों में इक्षवाकुवंशी ऋषभ और उनके पुत्र भरत तथा बाहुबलि की कथा है। भरत और बाहुबली के युद्ध का कथन भी इसमें किया गया है। शेष सोलह संधियों में एक ही वंश से उद्भूत विद्याधर, वानर और राक्षसवंश की परस्पर ईर्ष्या, प्रीति, प्रतियोगिता और युद्धों का कथन मिलता है। स्वयंभू कवि ने इसमें यह भी बताया है कि इनमें ये तीन वंश– विद्याधर, राक्षस एवं वानर परस्पर चाहे कितना ही लड़े हों किन्तु इक्ष्वाकुवंश का इनसे किसी भी बात को लेकर आमना–सामना नहीं हुआ, बल्कि इन तीनों का इस वंश से आदरसम्मान का भाव ही रहा है।

अयोध्या काण्ड – अयोध्याकांड की प्रारम्भिक तीन संधियाँ श्री राम के विवाह एवं वनवास से सम्बन्धित हैं। इसके बाद 24 से 35 तक की संधियों में राम-लक्ष्मण के शौर्य, पराक्रम, शरणागत रक्षा तथा जिनधर्म के सिद्धान्तों से सम्बन्धित अवान्तर कथाएँ हैं। **सुन्दर काण्ड** – यह हनुमान की विजयों का काण्ड है। मन्दोदरी, सीता व रावण के परस्पर वार्तालाप से सुन्दरकाण्ड की सुन्दरता बढ़ गई है। यहाँ कवि की स्वतन्त्र उद्भावना का बहुत ही मौलिक चित्रण हुआ है। **युद्ध काण्ड**– युद्ध काण्ड का आरम्भ विभीषण का रावण को त्यागकर राम के दल में मिलने की घटना से होता है। युद्ध काण्ड का मुख्य काव्यात्मक आकर्षण 62वीं संधि में हैं इसमें रावण गुप्त रूप से रात्रि में लंका नगर में घूमकर अपने योद्धाओं की रमणियों का वार्तालाप सुनता है जिसमें उनकी सम्मोहक चेष्टाओं के बीच रोमांचकारी उक्तियों संजायी गई हैं। यह श्रृंगार और वीर रस के संयोग का दुर्लभ उदाहरण है। स्वयंभू कवि ने युद्ध काण्ड में वीर, श्रृंगार, करुण एवं शान्त रस के रूप में एक साथ चार रसों का सफलतापूर्वक समावेश कर अद्भुत काव्यत्व प्रदर्शित किया है।

चरित्र चित्रण– पौराणिक महाकाव्य पउमचरिउ के सभी पात्र सबके लिए चिर परिचित हैं। इन सभी पात्रों के चरित्र-चित्रण में कवि स्वयंभू की अपार मार्मिकता, हृदयग्राहिता और प्रभावकारिता दिखाई देती है। राम ओर सीता सभी पात्रों में प्रधान हैं।

प्रकृति वर्णन– पउमचरिउ में प्रकृतिवर्णन के उल्लेख वस्तुगणना, अलंकार उद्दीपन एवं मानवीकरण के रूप में मिलते हैं। ऋषभजिन शकटमुख नाम के उद्यान में आकर ठहरते हैं, पउमचरिउ में उस उद्यान के विषय में लम्बी सूची गिनाई है। नन्दनवन के वृक्षों की परिगणना करते करते तो स्वयंभू थक से गये प्रतीत होते हैं और वे कह उठते हैं कि और भी बहुत से वृक्ष हैं जिन्हें कौन समझ सकता है। वरुणकुमारों के साथ रावण ऐसे क्रीड़ा कर रहा है मानो बैल जलधाराओं के साथ खेल रहा हो। यहाँ प्रकृति का अलंकार रूप में चित्रण मिलता है। आते हुए वसंत की ऋद्धि देखकर मधु, इक्षुरस और सुरा से मस्त भोली-भाली नर्मदा रूपी बाला ऐसे मचल उठी मानों कामदेव की रति हो, यहाँ उद्दीपन रूप में प्रकृति का चित्रण है।

रस-रसभिव्यक्ति की दृष्टि से पउमचरिउ में हमें मुख्यतः शान्त, वीर, श्रृंगार और करुण रस मिलते हैं। करुण रस की अभिव्यक्ति पउमचरिउ में अनेक स्थलों पर हुई है। शान्त रस के रूप में पउमचरिउ में अनेक ऐसे स्थल मिलते हैं जिनमें संसार को तुच्छ, नश्वर और दुःख बहुत बतलाकर तथा शरीर की क्षणभंगुरता का प्रतिपादन कर संसार के मिथ्यात्व का उपदेश देते हुए उसके प्रति विरक्ति का भाव पैदा किया गया है। ऐसे निर्वेद भाव के स्थलों में शान्त रस अभिव्यक्त हुआ है।

अलंकार – उपमा कालिदासस्य के समान स्वयंभू का सर्वप्रिय अलंकार उत्प्रेक्षा है। उत्प्रेक्षा का प्रयोग पउमचरिउ में पद-पद पर अनायास मिलता है। कडवक के कडवक उत्प्रेक्षा की लड़ियों से भरे हैं। जैसे रावण ने अचानक मन्दोदरी को देखा मानों भ्रमर ने अभिनव कुसुममाला देखी हो। मन्दोदरी के पैरों के बजते हुए नूपुर ऐसे मालूम होते हैं मानो बन्दीजन मधुर शब्दों का पाठ कर रहे हों। चढ़ती हुई रोमराजि ऐसी थी मानों काली बालनागिन ही शोभित हो रही हो, आदि-

आदि। वनगमन के समय के वर्णन में कवि कहता है कि जानकी सीता अपने घर से उसी प्रकार निकल गई मानों हिमवंत पर्वत से महा नदी गंगा निकली हो- **णिय मंदिरहो विणिग्गय जाणइ, णं हिमवंतहो गंग महाणइ** । -प.च. 23.6

वैश्विक महत्त्व की सूक्तियाँ - महाकवि स्वयम्भू की रचनाओं में उनके व्यवहारिक अनुभव सूक्तियों के रूप में प्राप्त होते हैं। आज के विश्व को इन सूक्तियों से प्रेरणा और प्रोत्साहन मिलता है। कवि को यह विश्वास है कि उसके काव्य-वचन सुभाषित की तरह अमर रहेंगे- **होन्तु सुहासिय वयणाई** (प.च., 1.1)

213. पउमचरियं

आचार्य विमलसूरि प्राकृत कविता के सशक्त हस्ताक्षर हैं। उन्होंने रामकथा को आधार बनाकर महाराष्ट्री प्राकृत में पउमचरियं नामक महाकाव्य लिखा है। इसमें 118 सर्ग हैं। इस ग्रन्थ में पौराणिक प्रबन्ध एवं शास्त्रीय प्रबन्ध दोनों के लक्षणों का समावेश है, किन्तु इसे मुख्यतः पौराणिक महाकाव्य कहना अधिक उपयुक्त होगा। इसमें आदि कवि बाल्मीकि की रामायण एवं जैन परम्परा के पुराणतत्व का मिश्रण देखने को मिलता है। किन्तु इससे ग्रन्थ के काव्यतत्व में कमी नहीं आती है।

पउमचरियं की प्रशस्ति में विमलसूरि का समय ईसा की प्रथम शताब्दी दिया है, किन्तु ग्रन्थ के अन्तपरीक्षण से विद्वानों ने इसे तीसरी चौथी शताब्दी का महाकवि माना है। विमलसूरि जितने सिद्धान्त और दर्शन के ज्ञाता हैं उतने ही प्रतिभा सम्पन्न कवि भी है। इस महाकाव्य में उन्होंने कई मौलिक उद्भावनाएं की हैं। इस ग्रन्थ में कवि ने राम और रावण दोनों के चरित को स्वाभाविक रूप से विकसित किया है। इस ग्रन्थ की भाषा प्रांजल और प्रवाहयुक्त है। कवि ने समुद्र, वन, नदी, पर्वत, ऋतु, युद्ध, सौन्दर्य आदि के वर्णन महाकाव्य की गरिमा के अनुसार किये हैं। विभिन्न अलंकारों के प्रयोग से यह काव्य रसमय और आकर्षक बन गया है। सेतुबन्ध महाकाव्य ने देशी-विदेशी कई विद्वानों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया है। अतः इसके जर्मन, संस्कृत हिन्दी एवं अंग्रेजी अनुवाद भी उपलब्ध हैं। विद्वानों ने इस ग्रन्थ का आलोचनात्मक अध्ययन भी

प्रस्तुत किया है। प्राचीन कवियों ने भी सेतुबन्ध के काव्यात्मक उत्कर्ष का स्मरण किया है। बाणभट्ट ने कहा है कि प्रवरसेन की कीर्ति इस सेतुबन्ध महाकाव्य के कारण सेतु के द्वारा कविसेना की भांति समुद्र के उस पार तक चली गयी है (हर्षचरित 1.14.5)। महाकवि दण्डी ने इसे सूक्तिरूपी रत्नों का सागर कहा है (काव्यादर्श 1.34)।

यह प्राकृत का सर्वप्रथम चरित महाकाव्य है। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है, जिस पर यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। भाषा में प्रवाह तथा सरलता है। वर्णनानुकूल भाषा श्लेष, माधुर्य और प्रसाद गुणयुक्त होती गयी है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, श्लेष आदि अलंकारों का इसमें प्रयोग पाया जाता है। वर्णन संक्षिप्त होने पर भी मार्मिक हैं। समुद्र वन, नदी, पर्वत, सूर्योदय, सूर्यास्त, ऋतु, युद्ध आदि के वर्णन महाकाव्यों के समान हैं। इस काव्य में 118 सर्ग हैं। घटनाओं की प्रधानता होने के कारण वर्णन लम्बे नहीं हैं। भावात्मक और रसात्मक वर्णनों की कमी नहीं है।

उत्प्रेक्षा द्वारा कवि ने वर्णनों को बहुत सरस और अभिव्यन्जना पूर्ण बनाया है। सन्ध्याकालीन अन्धकार द्वारा सभी दिशाओं को कलुषित होते देखकर कवि उत्प्रेक्षा करता है कि यह तो दुर्जन स्वभाव है, जो सज्जनों के उज्वल चरित्र पर कालिख पोतता है। यथा-

उच्छरई तमो गयणो मइलन्तो दिसिवहे कसिणवण्णो।
सज्जणचरिउज्जोयं नज्जइ ता दुज्जण सहावो ॥-2/100 ॥

इस काव्य में कवि ने गाथा छन्द का प्रयोग प्रधानरूप से किया है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तित हो गया है। वर्णिक छंदों में वसन्ततिलका, उपजाति, मालिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, रुचिरा एवं शार्दुलविक्रीडित का प्रयोग उल्लेखनीय है।

प्राकृत भाषा में निबद्ध यह कृति जैन पुराण साहित्य में सबसे प्राचीन कृति है। इसमें जैन मान्यतानुसार रामकथा का वर्णन है। यह ग्रन्थ 118 अधिकारों में विभक्त है जिनमें कुल मिलाकर 8651 गाथाएँ हैं जिनका मान 12 हजार लोक प्रमाण है। रामचरित पर यह एक ऐसी प्रथम जैन रचना है जिसमें यथार्थता के

दर्शन और अनेक ऊटपटांग तथा अतार्किक बातों का निरसन हुआ है। इसमें पात्रों के चरित्र-चित्रण में परिस्थितिवश उदात्त भूमिका प्रस्तुत की गई है और पुरुष तथा स्त्री चरित्र को ऊँचा उठाया गया है।

प्राकृत साहित्य में महापुरुषों के जीवन-चरित को नवीन काव्य शैली में प्रस्तुत करने वाले प्रथम विद्वान् विमलसूरि थे। उन्होंने वाल्मीकि रामायण की कथा के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत में पउमचरियं की रचना की। प्रशस्ति में इसका रचनाकाल ई. सन् की प्रथम शताब्दी दिया गया है, किन्तु विद्वान् विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसे तीसरी-चौथी शताब्दी की रचना मानते हैं। विमलसूरि का यह ग्रन्थ प्राकृत का आदि चरितकाव्य ग्रन्थ माना जाता है। प्रस्तुत चरितकाव्य में 118 सर्ग हैं, जिनमें राघव के चरित्र को विस्तार से प्रतिपादित किया गया है। इसी चरितकाव्य की परम्परा में आगे चलकर रविषेण ने पद्मचरित की रचना की है। विमलसूरि ने इस चरितकाव्य में वाल्मीकि रामायण की कथा को कुछ संशोधनों के साथ प्रस्तुत कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया है। यथा – इसमें राक्षस एवं वानर दोनों को ही नृवंशीय कहा है। इसी प्रकार इंद्र, सोम, वरुण इत्यादि को देव न मानकर विभिन्न प्रान्तों के मानववंशी सामन्तों के रूप में चित्रित किया है। सीता को राजा जनक एवं उसकी पत्नी विदेहा की औरस पुत्री माना है। रावण के दशानन नाम का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया है कि नौ मणियों के हार में उसके नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण पिता ने उसका नाम दशानन रख दिया। इस प्रकार विमलसूरि ने वाल्मीकि रामायण की अनेक बातों को यथार्थ रूप देकर मौलिकता प्रगट की है।

इस सम्पूर्ण चरितकाव्य में नायक राम का चरित उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। राम के चरित में उदारता, धैर्य, कर्त्तव्य-पालन, क्षमा, पश्चाताप आदि गुणों का समावेश कर हर परिस्थिति में उनके चरित्र को ऊँचा उठाया है। नायिका सीता के चरित्र में विनम्रता, त्याग, सहिष्णुता, वात्सल्य और पति के प्रति अटूट प्रेम एवं श्रद्धा आदि गुणों का समावेश कर उसे आदर्श नारी के रूप में उपस्थित किया है। प्रतिनायक रावण को भी धार्मिक एवं व्रती पुरुष के रूप में अंकित किया गया है। वह प्रारम्भ में सीता पर मोहित अवश्य होता है, किन्तु बाद में युद्ध में राम-

लक्ष्मण को जीतकर सम्मान सहित सीता को उन्हें लौटाने की बात भी सोचता है। रावण की यह विचारधारा उसके चरित्र को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करती है। अन्य पात्रों के चरित्र भी विकसित हैं। यथा-राजा दशरथ पुत्र के वियोग में कायरों की तरह प्राणों का त्याग नहीं करते हैं, अपितु निर्भय वीर की भाँति श्रमण दीक्षा अंगीकार कर आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर होते हैं। कैकेयी के चरित्र में भी मातृ-वत्सलता का गुण उजागर हुआ है। वह वात्सल्य भाव से प्रेरित होकर ही भरत के लिए राज्य चाहती है। इस प्रकार प्रायः सभी चरित अपनी-अपनी स्वाभाविक विशेषताओं के साथ प्रस्तुत हुए हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से यह चरितकाव्य अद्वितीय है। समुद्र, वन, पर्वत, नदी, सूर्यास्त, नख-शिख, आदि के वर्णन महाकाव्यों की भाँति सजीव हैं। रस, भाव एवं अलंकारों की कवि ने स्वाभाविक योजना प्रस्तुत की है। इस ग्रन्थ की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। यत्र-तत्र अपभ्रंश का प्रभाव है। भाषा में प्रवाह एवं सरलता है। भाषा को सजीव बनाने के लिए सूक्तियों का प्रचुर प्रयोग किया गया है। यथा - हनुमान रावण को समझाते हुए कहते हैं -

पत्ते विणासकालो नासइ बुद्धिं नराण निक्खुत्तं। - (गा. 53.138)

अर्थात् - विनाशकाल आने पर मनुष्य की बुद्धि निश्चित रूप से नष्ट हो जाती है।

पउमचरियं रामचरित के अतिरिक्त अनेक कथाओं का भण्डार है। इसमें अनेकों अवान्तर कथाएँ दी गई हैं तथा परम्परागत अनेकों कथाओं को यथोचित परिवर्तन के साथ प्रसंगानुकूल बनाया गया है और कुछ नवीन कथाओं की सृष्टि की गई है। वाल्मीकि रामायण यदि संस्कृत साहित्य का आदि काव्य है तो पउमचरियं प्राकृत साहित्य का पउमचरियं के अन्तः परीक्षण में हमें गुप्त-वाकाटक युग की अनेक प्रकार की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री मिलती है। इसमें वर्णित अनेक जन-जातियों, राज्यों और राजनैतिक घटनाओं का तत्कालीन भारतीय इतिहास से सम्बन्ध स्थापित किया गया है। जैनधर्म के सिद्धान्त निरूपण की दृष्टि से पउमचरियं ऐसी रचना है जो साम्प्रदायिकता से परे है। ग्रन्थ में वर्णित अनेक तथ्यों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि इसमें श्वेताम्बर,

दिगम्बर और यापनीय सभी सम्प्रदायों का समावेश हो गया है। संभवतः विमलसूरि उस युग के थे जब जैनों में साम्प्रदायिकता का विभेद गहरा न हो सका था।

214. पउमपभचरियं

इस काव्य में 6वें तीर्थंकर पद्मप्रभ का चरित वर्णित है। यह एक अप्रकाशित रचना है। इसके रचियता देवसूरि हैं। इनकी दूसरी कृति सुपार्श्वचरित (प्राकृत) का भी उल्लेख मिलता है। इनका थोड़ा सा परिचय प्राप्त है। ये जालिहरगच्छ के सर्वानन्द के प्रशिष्य तथा धर्मवशेषसूरि के शिष्य एवं पट्टधर थे। ग्रन्थकार ने बतलाया है कि प्राचीन कोटिक गण की विद्याधर शाखा से जालिहर और कासद्रहगच्छ एक साथ निकले थे। अन्य सूचनाएँ जो उन्होंने दी हैं, तदनुसार उन्होंने देवेन्द्रगणि से तर्कशास्त्र पढ़ा था और हरिभद्रसूरि से आगम। उनके दादागुरु पार्श्वनाथचरित के रचियता सर्वानन्द थे। प्रस्तुत प्राकृत कृति का समय सं. 1254 बतलाया गया है।

215. पद्मनन्दि मुनि

पद्मनन्दि नाम के 9 से भी अधिक आचार्य एवं भट्टारक हुए हो गये हैं जिनका उल्लेख विभिन्न ग्रन्थों, शिलालेखों एवं मूर्तिलेखों में मिलता है। लेकिन वीरनन्दि के प्रशिष्य एवं बालनन्दि के शिष्य आचार्य पद्मनन्दि उन सबसे भिन्न हैं। ये राजस्थानी विद्वान् थे और बारां नगर इनका प्रमुख साहित्यिक केन्द्र था। पद्मनन्दि ने अपने प्रमुख ग्रन्थ जम्बूदीपण्णती में बारां नगर का विस्तृत वर्णन किया है। वह नगर उस समय पुष्करणी, बावड़ी, सुन्दर, भवनों, नानाजनों से संकीर्ण और धनधान्य से समाकुल जिनमन्दिरों से विभूषित तथा सम्यक्दृष्टिजनों और मुनिगणों के समूहों से मंडित था। पद्मनन्दि के समय बारां नगर का शक्तिभूपाल शासक था। वह राजा शील-सम्पन्न, अनवरत दानशील, शासन वत्सल धोर, नानागण कलित, नरपति संपूजित तथा कलाकुशल एवं नरोत्तम था। राजपूताने के इतिहास में गुहिलोत वंशी राजा नरवाहन के पुत्र शालिवाहन के उत्तराधिकारी शक्तिकुमार का उल्लेख मिलता है। पं. नाथूराम प्रेमी ने बारां की भट्टारक गादी के आधार पर पद्मनन्दि का समय विक्रम संवत्

1100 के लगभग माना है। पद्मनन्दि प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान थे। जैन-दर्शन तथा तीनों लोकों की स्थिति का उन्हें अच्छा ज्ञान प्राप्त था। अपने समय के वे प्रभावशली आचार्य एवं भट्टारक थे तथा अनेक शिष्य-प्रशिष्यों के स्वामी थे। उस समय प्राकृत के पठन-पाठन का अच्छा प्रचार था। राजस्थान एवं मालवा उनकी गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र था। पद्मनन्दि की प्राकृत भाषा की तीन कृतियां उपलब्ध होती हैं जिनमें एक जम्बूदीवपण्णत्ती, दूसरी धम्मरसायण तथा तीसरी प्राकृतपंचसंग्रहवृत्ति है।

216. परमात्मप्रकाश

जोइन्दुकृत परमात्मप्रकाश जैनगृहस्थों तथा मुनियों में बहुत प्रसिद्ध है। विशेषकर साधुओं को लक्ष्य करके इसकी रचना की गई है। विषय साम्प्रदायिक न होने से यद्यपि समस्त जैनसाधु इसका अध्ययन करते हैं, फिर भी दिगम्बर जैनसाधुओं में इसकी विशेष ख्याति है। परमात्मप्रकाश सभी आस्तिकों को प्रिय है। कन्नड और संस्कृत में इस पर अनेक प्राचीन टीकाएँ हैं। वे भी इसकी लोकप्रियता प्रदर्शित करती हैं। अब तक प्रकाश में आये हुए अपभ्रंश साहित्य में परमात्मप्रकाश सबसे प्राचीन है और सबसे पहले प्रकाशन भी इसी का हुआ था। हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण में परमात्मप्रकाश से अनेक उदाहरण दिये हैं, अतः इसे हम हेमचन्द्र के पहले की अपभ्रंश भाषा का नमूना कह सकते हैं।

इस ग्रन्थ में प्रारम्भ के सात दोहों में पंचपरमेष्ठी को नमस्कार किया गया है। फिर तीन दोहों में ग्रन्थ की उत्थानिका है। पाँच में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का स्वरूप बताया गया है। इसके बाद दस दोहों में विकलपरमात्मा का स्वरूप आता है। पांच क्षेपकों सहित चौबीस दोहों में सरलपरमात्मा का वर्णन है। 6 दोहों में जीव के स्वशरीर-प्रमाण की चर्चा है। फिर द्रव्य, गुण, पर्याय, कर्म निश्चय सम्यग्दृष्टि, मिथ्यात्व आदि की चर्चा है। दूसरे अधिकार में प्रारम्भ के दस दोहों में मोक्ष का स्वरूप, एक में मोक्ष का फल, उन्नीस दोहों में निबन्ध और व्यवहार मोक्षमार्ग, तथा आठ में अभेदरत्नत्रय का वर्णन है। इसके बाद चौदह में समभाव की चौदहवें में पुण्य पाप की समानता की, और इकतालीस दोहों में शुद्धोपयोग के स्वरूप की चर्चा की है। अन्त में परमसमाधि का कथन है।

परमात्मप्रकाश में सब 345 पद्य हैं, उनमें 5 गाथाएँ एक स्त्रग्धरा और मालिनी है, किन्तु इनकी भाषा अपभ्रंश नहीं है। तथा एक चतुष्पादिका और शेष 337 अपभ्रंश दोहे हैं। पूज्यपाद के समाधिशतक और परमात्मप्रकाश में भी घनिष्ट समानता है। देवसेन के तत्वसार और परमात्मप्रकाश में भी काफी समानता है।

217. पंचकल्पमहाभाष्य

आचार्य संघदासणी की वसुदेवहिंडी के अतिरिक्त दूसरी कृति पंचकल्पमहाभाष्य है जो पंचकल्पनिर्युक्ति के विवेचन के रूप में है। इसमें कुल 2655 गाथाएँ हैं। जिसमें भाष्य की 2574 गाथाएँ है। इसमें पहले जिनकल्प और स्थविरकल्प ये दो भेद किये हैं। श्रमणों के ज्ञान, दर्शन और चारित्र की विविध सम्पदा का वर्णन करते हुए चारित्र-सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसंपराय और यथाख्यात ये पाँच प्रकार बताये हैं। चारित्र-क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का है। ज्ञान-क्षायिक और क्षायोपशमिक के रूप से दो प्रकार का है और दर्शन-क्षायिक, क्षायोपशमिक और औपशमिक रूप से तीन प्रकार का रूप है।

218. पंच संग्रह

पंचसंग्रह एक संग्रह ग्रंथ है जो कर्मस्तव, शतक और सित्तरी आदि के आधार से लिखा गया है। इसमें जीवसमास, प्रकृतिसमुत्कीर्तन, कर्मस्तव, शतक और सप्ततिका इन पाँच विषयों का विवेचन है। अतएव इसे पंचसंग्रह कहा जाता है। आचार्य अमितगति (वि.सं. 1073)और पंडित आशाधर पंचसंग्रह का उल्लेख किया है। जीव समास अधिकार में 206 गाथायें हैं जिनमें 20 प्ररूपणाओं का कथन किया गया है। उल्लेखनीय है कि षट्खंडागम के सत्प्ररूपणा सूत्रों की धवला टीका में गुणस्थान और मार्गणाओं का विवेचन आचार्य वीरसेन ने प्रस्तुत जीवसमास अधिकार के आधार से ही किया है। प्रकृतिमुत्कीर्तन नामक दूसरे अधिकार में 12 गाथाओं में आठ कर्मो की प्रकृतियों का विवेचन है। कर्मस्तव नामक तीसरे अधिकार में 77 गाथायें है जिनमें से 53 गाथायें कर्मस्तव अथवा बंधोदयसतवयुक्त नाम से प्रसिद्ध श्वेतांबरीय प्राचीन द्वितीय कर्मग्रंथ में ज्यों की त्यों पाई जाती हैं। इस अधिकार में कर्मो के बंध उदय, उदीरणा और सत्व का कथन किया गया है। शतक नामक चौथे अधिकार में 422 गाथायें हैं। इस

अधिकार में उपर्युक्त श्वेतांबरीय शतक अथवा बंधशतक नामक पाँचवें कर्मग्रंथ का अंतर्भाव हो जाता है। पाँचवे अधिकार का नाम सप्ततिका है उपर्युक्त श्वेतांबरीय छठे कर्मग्रंथ सित्तरि अथवा सप्ततिका का अंतर्भाव होता है। पंडित कैलाशचन्द्र जी शास्त्री ने पंचसंग्रहकार का समय विक्रम की आठवीं शताब्दी के पूर्व माना है।

219. पंचसंगह (चन्द्रर्षि)

पार्श्वऋषि के शिष्य श्वेतावम्बराचार्य चन्द्रर्षि महत्तर ने प्राकृत पंचसंग्रह की रचना की है। इस पर उन्होंने स्वोपज्ञवृत्ति लिखी है। चन्द्रर्षि का समय विक्रम की 9 वीं-10 वीं शताब्दी माना जाता है। मलयगिरि की इस पर टीका है। इसमें 963 गाथायें हैं जो समग (शतक, सित्तरि), (सप्ततिका), कसायपाहुड (कषायप्राभृत), छकम्म (सत्कर्म) और कम्मपयडि (कर्मप्रकृति) नामक पाँच ग्रन्थों अथवा योग उपयोग विषयक मार्गणा, बंधक, बंधव्य, बंधहेतु और बंधविधि इन पाँच अर्थाधिकारों में विभक्त हैं। इन पाँचों का यहाँ संक्षिप्त विवेचन किया गया है, अतएव ग्रन्थ को पंचसंग्रह कहा जाता है।

220. पंचास्तिकाय (पंचत्थिकायो)

आचार्य कुन्दकुन्द ने जिनदेव भगवान् महावीर के सिद्धान्तों के सार को पंचास्तिकाय में संक्षिप्त रूप से निरूपित किया है। इस ग्रन्थ में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं आकाश इन पाँचों द्रव्यों का विवेचन किया गया है। इन्हें बहुप्रदेशी होने के कारण अस्तिकाय रूप कहा है। यह ग्रन्थ दो अधिकारों में विभक्त है। प्रथम अधिकार में द्रव्य का लक्षण, द्रव्य-पर्याय तथा द्रव्य-गुण की अभेदता एवं पाँचों अस्तिकायों का विशेष व्याख्यान किया है। द्वितीय अधिकार में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, पाप, पुण्य, संवर, निर्जरा एवं मोक्ष इन नौ पदार्थों के साथ मोक्ष-मार्ग का भी निरूपण किया है। मोक्ष-मार्ग प्राप्ति में राग को बाधक बताया है तथा किंचित मात्र राग का भी आचार्य ने निषेध किया है। यथा -

तम्हा णिव्वुदिकामो रागं सव्वत्थ कुणदि मा किंचि।
सो तेण वीदरागो भविओ भवसायरं तरदि॥...(गा. 172)

अर्थात् - निर्वाण मार्ग के अभिलाषी को किंचित मात्र भी राग नहीं करना चाहिए। इसी से वह वीतरागी हुआ संसार सागर को पार कर जाता है।

221. पाइअकहासंगह (प्राकृत कथासंग्रह)

पउमचंदसूरि के किसी अज्ञातनाम शिष्य ने विक्कमसेणचरिय नामक प्राकृत कथा ग्रंन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में आई हुई चौदह कथाओं में से बारह कथायें प्राकृत कथासंग्रह में दी गई हैं। इससे अधिक ग्रन्थकर्ता और उसके समय आदि के संबंध में और कुछ जानकारी नहीं मिलती। प्राकृत कथासंग्रह की एक प्रति संवत् 1318 में लिखी गई थी, इससे पता लगता है कि मूल ग्रंथकार का समय इससे पहले ही होना चाहिये। इस संग्रह में दान, शील, तप भावना, समयक्त्व, नवकार तथा अनित्यता आदि से संबंध रखनेवाली चुनी हुई सरस कथायें हैं, जिनमें अनेक लौकिक और धार्मिक आख्यान कहे गये हैं।

समुद्रयात्रा के वर्णन में मार्ग में कालिका वायु चलती है जिससे जहाज टूट जाता है। बहुत से यात्रियों को अपने प्राणों से वंचित होना पड़ता है। श्रेष्ठीपुत्र के हाथ में लकड़ी का एक तख्ता पड़ जाता है, और उसके सहारे वह किसी पर्वत के किनारे जा लगता है। वहाँ से सुवर्णभूमि पहुँचकर वह सोने की ईटें प्राप्त करता है। कर्म की प्रधानता बतलाते हुए इस ग्रन्थ में कहा गया है-

अहवा न दायव्वो दोसो कस्स वि केण कइया वि।
पुव्वज्जियकम्माओ हवंति जं सुक्खदुक्खाइं ॥

अथवा किसी को कोई भी दोष नहीं देना चाहिये, पूर्वोपार्जित कर्म से ही सुख-दुख होते हैं।

222. पाइयलच्छीनाममाला

पाइयलच्छीनाममाला उपलब्ध प्राकृत कोश-ग्रन्थों में स्वतन्त्र रूप से लिखा गया सबसे प्राचीन कोश-ग्रन्थ है। कवि धनपाल ने वि.स. 1029 में अपनी छोटी बहन सुन्दरी के अध्ययन हेतु धारानगर में इस कोश-ग्रन्थ की रचना की थी। यह अति संक्षिप्त पद्यबद्ध कोश है। इस कोश-ग्रन्थ में संस्कृत के अमरकोश की रीति से करीब 279 गाथाओं में 998 प्राकृत शब्दों के पर्यायवाची शब्दों का संग्रह किया गया है। ग्रन्थ का प्रारम्भ मंगलाचरण से हुआ है, जिसमें विभिन्न देव पर्यायों का निरूपण हुआ है। शब्दों की चयन प्रक्रिया में अकारादि क्रम को न अपना कर विषय, स्थान एवं समय के आधार पर केवल नाम शब्दों का चयन

कर उनके पर्यायों का उल्लेख किया गया है। संस्कृत व्युत्पत्तियों से सिद्ध प्राकृत शब्द तथा देशी शब्द इन-दोनों ही प्रकार के शब्दों का संकलन इस ग्रन्थ में किया गया है। कवि ने भ्रमर के पर्यायवाची शब्दों का उल्लेख निम्न गाथा में इस प्रकार किया है-

फुल्लंधुआ रसाऊ भिंगा भसला य महुअरा अलिणो।
इंदिदरा दुरेहा धुअगाया छप्पया भमरा॥-(गा. 11)

अर्थात् - फुल्लंधुअ, रसाऊ, भिंग, सल, महुअर, अलि, इंदिदर, दुरेह, धुअगाय, छप्पय और भमर ये भ्रमर के 11 नाम हैं।

इस कोश में कुछ ऐसे शब्द भी आये हैं, जो आज भी लोकभाषाओं में प्रचलित हैं। यथा - आलसी के लिए 'मट्ठ' शब्द तथा नूतन पल्लवों के लिए 'कुंपल' शब्द का प्रयोग किया है, जो आज भी ब्रज, भोजपुरी आदि में प्रयुक्त होता है। इस दृष्टि से यह कोश-ग्रन्थ भाषा-विज्ञान ही नहीं, अपितु तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक एवं लोक मान्यताओं के अध्ययन में भी सहायक सिद्ध होता है।

223. पाइय-सद्द-महण्णवो

प्राकृत भाषा का यह प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ है। कलकत्ता के पंडित हरगोविन्ददास त्रिकमचंद सेठ ने 14वर्षों के कठोर परिश्रम के उपरांत इस कोश-ग्रन्थ का संकलन एवं सम्पादन किया है। इस कोश-ग्रन्थ में आर्ष प्राकृत से लेकर अपभ्रंश युग तक की प्राकृत भाषाओं के विविध विषयों से सम्बन्धित जैन एवं जैनेतर प्राचीन ग्रन्थों की अति विशाल शब्द राशि एवं उनके संभावित अर्थों का विवेचन किया गया है। प्रत्येक शब्द के साथ किसी न किसी ग्रन्थ का प्रमाण अवश्य दिया गया है। प्राकृत भाषा के विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ अत्यंत उपयोगी है।

224. पालि भाषा

भगवान बुद्ध के वचनों का संग्रह जिन ग्रंथों में हुआ है, उन्हें त्रिपिटक कहते हैं इन ग्रंथों की भाषा को पालि कहा गया है। पालि भाषा का गठन तत्कालीन विभिन्न बोलियों के मिश्रण से हुआ माना जाता है, जिसमें मागधी प्रमुख थी।

पालि भाषा की जो विशेषताएँ है, उनमें अधिकांश प्राकृत तत्त्व हैं। अत: पालि का प्राकृत भाषा का ही एक प्राचीन रूप स्वीकार किया जाता है। पालि भाषा बुद्ध के उपदेशों और तत्संबंधी साहित्य तक ही सीमित हो गयी थी। इस रूढ़िता के कारण पालि भाषा से आगे चलकर अन्य भाषाओं का विकास नहीं हुआ, जबकि प्राकृत की सन्तति निरन्तर बढ़ती रही। किन्तु पालि का साहित्य पर्याप्त समृद्ध है। अत: प्राचीन भारतीय भाषाओं को समझने के लिए पालि का ज्ञान आवश्यक हे। पालि में मध्यदेशी भाषा शौरसेनी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ भी उपलब्ध होती हैं। भारत में मध्यदेश की बोली का सर्वदा विशेष प्रभाव रहा है। अत: मध्यदेश की भाषा ही पालि का आधार है। इसमें लुङ्.लकार आत्मनेपदी क्रियाओं और प्राचीन गण वाली क्रियाओं के रूपों आदि पर छान्दस का प्रभाव से स्पष्ट लक्षित होता है। मथुरा, अवंती, कौशाम्बी, कन्नौज, कौशल आदि स्थानों की बोलियों के प्रभाव से भी पालि भाषा अछूती नहीं है। अत: वैदिक ग्रंथों की संस्कृत तथा अन्य प्राकृत भाषाओं के मिश्रण से पालि भाषा गठित हुई, ऐसा माना जा सकता है। पालि एवं प्राकृत भाषाओं के तुलनात्मक संबंधों का संक्षिप्त विवरण निम्नानुसार है:-

पालि और प्राकृत भाषाओं की समानताएँ

1- दोनों भाषाओं का ध्वनि समूह एक समान है।

2- दोनों भाषाओं में ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ऐ का लोप होता है।

3- ऋ ध्वनि अ, इ, उ स्वरों में से किसी एक स्वर में परिवर्तित हो जाती हैं।

4- ह्रस्व स्वर ए और ओ का प्रयोग दोनों भाषाओं में मिलता है।

5- विसर्ग का प्रयोग दोनों में नहीं मिलता है।

7- मूर्धन्य ध्वनि दोनों भाषाओं में समान रूप से पायी जाती है।

8- दोनों में द्विवचन नहीं होता है।

9- दोनों में चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति के रूप प्राय: एक ही रहते हैं।

10-संयुक्त व्यंजनों का समीकरण भी दोनों में एक समान होता है।

11-चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग दोनों में हेत्वर्थ के लिये होता है।

12-भविष्यकाल के लिये क्रियात्मक धातु में 'इस्स' (स्स)और इहि (हि) लगाने के बाद प्रत्यय जोड़े जाते हैं।

उपर्युक्त समानाताओं के अतिरिक्त पालि एवं प्राकृत भाषाओं के व्यंजन-परिवर्तनों की विशेषताओं में भी सामान्य समानताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। विद्वानों ने प्राकृतों के साथ पालि के साम्य-वैशम्य का अध्ययन किया है।

225. पासनाहचरियं

इसमें 23वें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का चरित विस्तार से दिया है, जो पाँच प्रस्तावों में विभक्त है। यह प्राकृत गद्य-पद्य में लिखी गई सरस रचना है जिसमें समासान्त पदावली और छन्द की विविधता देखने में आती है। इसमें संस्कृत के अनेक सुभाषित भी उद्धृत हैं। इसका ग्रन्थाग्र 9000 प्रमाण है। इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। अन्य ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के दस भवों का वर्णन मिलता है। तीसरे, पांचवें, सातवें और नवें भव में देवलोक एवं नव ग्रैवेयक में देव रूप से पार्श्वनाथ उत्पन्न हुए थे। इन चार भवों की गणना इस चरित्र के लेखक ने नहीं ली, इसलिए शेष छः भवों का वर्णन ही दिया गया है। इस प्राकृत चरित ग्रन्थ में संस्कृत के गुणचन्द्र द्वारा रचित उत्तरपुराण में दिये गये पार्श्वनाथ चरित से कुछ बातों में अन्तर है।

226. पासनाहचरियं -देवभद्राचार्य

इस चरित ग्रन्थ के कर्ता देवभद्राचार्य हैं। ये विक्रम की 12वीं शताब्दी के महान् विद्वान् एवं उच्चकोटि के साहित्यकार थे। इनका नाम आचार्य पदारूढ़ होने के पहले गुणचन्द्रगणि था। उस समय संवत् 1139 में श्री महावीरचरियं नामक विस्तृत 12024 लोक प्रमाण ग्रन्थ रचा। दूसरा ग्रन्थ कथारत्नकोष है जो आचार्य पदारूढ़ होने के बाद वि. सं. 1158 में रचा था। प्रस्तुत पासनाहचरियं की रचना उन्होंने वि. सं. 1168 में गोवर्द्धन श्रेष्ठि के पुत्र यशदेव श्रेष्ठि की प्रेरणा से की थी।

227. पालि-प्राकृत भाषाओं के ज्ञाता डॉ. हर्मन जैकाबी

जैनविद्या का अध्ययन करने वाले विद्वानों में इस समय के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ. हर्मन जैकाबी थे, जिन्होंने प्राकृत वाङमय का विशेष अनुशीलन किया है।

जैकोबल ने **औसगे वेल्ते एत्से लिंगन इन महाराष्ट्री** महाराष्ट्री प्राकृत की चुनी हुई कहानियाँ नाम से एक पाठ्यपुस्तक तैयार की, जो सन् 1886 ई. में लिपजिंग (जर्मनी) में प्रकाशित हुई। इसके इण्ट्रोडक्शन में उन्होंने महाराष्ट्री प्राकृत के सम्बन्ध में विशद विवेचन किया है तथा वैदिक भाषाओं से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत किया है। जैकोबी ने अपने द्वारा सम्पादित प्राकृत ग्रन्थों की भूमिकाओं के अतिरिक्त प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में स्वतन्त्र निबन्ध भी लिखे हैं। सन् 1912-13 में उन्होंने **प्राकृत देर जेंस उवर आइने नीव सन्धिरीगल इन पाली उण्ड उवर दी वेटोमिंग इण्डिश्चिन स्प्राखन** नामक निबन्ध लिखा जो पालि-प्राकृत भाषाओं पर प्रकाश डालता है। जैन कथा साहित्य के आधार पर प्राकृत का सर्वप्रथम अध्ययन जैकोबी ने ही किया है। इस सम्बन्ध में उनका **उवर डैस प्राकृत इन डेर इत्सेलंग लिटरेचर डेर जैन** नामक निबन्ध महत्वपूर्ण है।

228. पिंडणिज्जुत्ती

अर्धमागधी आगम साहित्य में पिंडनिर्युक्ति एवं ओघनिर्युक्ति की गणना कहीं मूलसूत्रों में और कहीं प्रकीर्णक साहित्य में की जाती है, फिर भी साधुओं के आचार-व्यवहार का निरूपण होने के कारण इन दोनों ग्रन्थों को श्वेताम्बर परम्परा के मूल 45 आगमों में सम्मिलित किया गया है। पिंड का अर्थ है - श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार। इसमें श्रमणों की आहार विधि का वर्णन हुआ है, अतः इसका पिंडनिर्युक्ति नाम सार्थक है। इसके रचयिता आचार्य भद्रबाहु हैं। दशवैकालिकसूत्र के पाँचवें अध्याय पिंडैषणा पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण पिंडनिर्युक्ति के नाम से अलग आगम की मान्यता दी गई है। भद्रबाहु ने इस ग्रन्थ में 671 प्राकृत गाथाओं में पिंडनिरूपण, उद्गमदोष, उत्पादनदोष, ग्रासदोष, एषणादोष आदि का विवेचन किया है।

पिण्ड शब्द पिंडि संघाते धातु से बना है। अन्वयार्थ की दृष्टि से सजातीय या विजातीय ठोस वस्तुओं के एकत्रित होने को पिण्ड कहा जाता है। सामायिक दृष्टि से तरल वस्तु को पिण्ड कहा गया है। आचारांग में पानी की एषणा के अर्थ में पिण्डैषणा शब्द का प्रयोग हुआ है। पिण्ड निर्युक्ति में अशन, पान, खाद्य और

स्वाद्य इन सभी के लिए पिण्ड शब्द व्यवहृत हुआ है। श्रमण के ग्रहण करने योग्य आहार को पिण्ड कहा गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में उसका विवेचन है। उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण-इसमें ये आठ अधिकार हैं। इसमें 671 गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ परस्पर मिल चुकी हैं। प्रस्तुत निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु माने जाते हैं।

229. पिशेल, रिचर्ड

प्रो. रिचर्ड पिशेल का जन्म 18 जनवरी 1849 ई. में जर्मनी के ब्रेजला नामक स्थान में हुआ था। आपके पिता का नाम ई. पिशेल था। सन् 1870 ई. में रिचर्ड पिशेल को ब्रेजला यूनिवर्सिटी से डाक्टरेट की उपाधि मिली थी। आप 1874 भारतीय विद्या विभाग के रीडर पद पर नियुक्त हुए और 1875 ई. में कील विश्वविद्यालय, जर्मनी में आपको संस्कृत तथा तुलनात्मक भाषा विभाग का प्रोफेसर बनाया गया। आपने बर्लिन विश्वविद्यालय में भी अपनी सेवायें दी हैं। सन् 1908 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में आपको प्राकृत भाषाओं पर व्याख्यान देने के लिए भारत आमन्त्रित किया गया था। किन्तु इस व्याख्यान के पूर्व ही आपका निधन हो गया। आपने संस्कृत-प्राकृत पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनमें कालिदासकृत शाकुन्तलम्, हेमचन्द्र का प्राकृत व्याकरण और प्राकृत भाषाओं का व्याकरण आदि प्रसिद्ध पुस्तक हैं। ये पुस्तकें पहले जर्मन भाषा में लिखी गईं, फिर उनके अंग्रेजी और हिन्दी अनुवाद विद्वानों ने तैयार कर प्रकाशित किये हैं। वैदिक स्टडीज और बौद्धधर्म पर भी डॉ. पिशेल के शोधकार्य प्रकाशित हैं। प्राकृत भाषा और भारतीय विद्या के इस मूर्धन्य मनीषी डॉ. पिशेल का 26 दिसम्बर सन् 1908 में मद्रास में देहावसान हो गया। डॉ. एल. डी. बार्नेट ने डॉ. पिशेल के जीवन और योगदान पर महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित किया है।

230. पुष्पिका (पुप्फचूलकहा)

अर्धमागधी आगम साहित्य में पुष्पिका उपांग ग्रन्थों में स्व-समय और पर समय के ज्ञान की दृष्टि से कथाओं का संकलन है। कथाओं में कुतूहल तत्त्व की प्रधानता है। सभी आख्यानों में वर्तमान जीवन पर उतना प्रकाश नहीं डाला गया जितना उनके परलोक के जीवन पर डाला गया है। सांसारिक मोह और ममताओं

का इसमें सबल चित्रण है। ग्रन्थ में पुनर्जन्म और कर्मसिद्धान्त का समर्थन सर्वत्र मुखरित हो रहा है। इसमें दस अध्ययन है। इस उपांग ग्रन्थ के तीसरे अध्ययन में सोमिल ब्राह्मण की कथा है। इस ब्राह्मण की तपस्या का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। चतुर्थ अध्ययन में एक बहुत ही सरस और मनोरंजन कथा है। सुभद्रा सन्तान न होने के कारण संसार से विरक्त हो जाती है और सुव्रता आर्यिका के पास दीक्षा ग्रहण करती है। दीक्षित हो जाने पर भी वह बच्चों से बहुत स्नेह करती है, उन्हें खिलाती- पिलाती है और उनका शृंगार करती है। प्रधान आर्यिका के द्वारा समझाये जाने पर भी उसकी ममता बच्चों से कम नहीं होती। फलतः इस राग भावना के कारण वह अगले भव में एक ब्राह्मणी होती है और सन्तान से उसका घर भर जाता है।

इस उपांग अर्धमागधी ग्रन्थ में भी ऐसे व्यक्तियों की कथाएँ हैं, जिन्होंने धार्मिक साधना द्वारा स्वर्गलाभ एवं दिव्य सम्पदायें प्राप्त की हैं। इसमें दस अध्ययन हैं, जिनके नाम श्री, ह्री, धृति आदि हैं। कथा साहित्य की दृष्टि से इसका रूप गठन पुष्पिका उपांग ग्रन्थ के समान ही है। साहित्यिक छटा पंचम अध्ययन में दिखलायी पड़ती है। स्वर्ग के देव अपने अतुल वैभव के साथ भगवान महावीर की वन्दना के लिए आते हैं।

231. पुहवीचंदचरियं

यह प्राकृत भाषा में 7500 गाथाओं में निबद्ध विशाल ग्रंथ है, जो अनेक अवान्तर कथाओं से भरा हुआ है। इसकी रचना बृहद्गच्छीय सर्वदेवसूरि के प्रशिष्य एवं नेमिचन्द्र के शिष्य सत्याचार्य ने महावीर सं. 1631 अर्थात् वि.सं. 1161 में की थी। इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ मिलती हैं। ग्रन्थ अप्रकाशित है।

232. पुष्पदंत एवं भूतबलि

आचार्य धरसेन के पास शिक्षा प्राप्त करने के लिए आन्ध्रदेश से जो दो व्युत्पन्न विद्वान् आये थे, इतिहास में उनके नाम पुष्पदन्त और भूतबलि प्राप्त होते हैं। किन्तु कथानक के अनुसार ये नाम उनके गुरु धरसेनाचार्य ने उनकी परीक्षा लेने के बाद दिये थे अतः इन दोनों शिष्यों के मूल नामों का उल्लेख नहीं मिलता। शिक्षा प्राप्ति के बाद ये मुनि पुनः दक्षिण भारत की ओर गये थे और वहीं पर

उन्होंने शौरसेनी प्राकृत में 'षट्खण्डागम' ग्रन्थ की रचना की। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री मानते हैं कि षट्खण्डागम ग्रन्थ का प्रारम्भिक भाग वनवास देश (उत्तर कर्णाटक) में रचा गया और शेष ग्रन्थ द्रविड़ देश में। इन दोनों आचार्यों में पुष्पदंत ज्येष्ठ थे और भूतबलि उनसे अवस्था में कम। विद्वानों ने इन आचार्यों का समय धरसेनाचार्य के समकालीन होने से वीरनिर्वाण सं. 633 के पश्चात् लगभग ई. सन् 50-90 माना है।

'षट्खण्डागम' ग्रन्थ का विषय पुष्पदन्त एवं भूतबलि ने आचार्य धरसेन से पढ़ा था। इस ग्रन्थ को लिखने की रूपरेखा पुष्पदन्त ने बनायी होगी। किन्तु वे ग्रन्थ के प्रथम भाग सत्प्ररूपणा के 177 सूत्रों की रचना ही कर सके। बाद में भूतबलि ने ग्रन्थ के पाँच खण्डों के छः हजार सूत्रों की रचना की और बाद में महाबन्ध नामक छठे खण्ड के 30 हजार सूत्रों का निर्माण किया। वास्तव में षट्खण्डागम ग्रन्थ में प्राचीन परम्परा से प्राप्त श्रुतज्ञान की प्ररूपणा की गयी है। 'षट्खण्डागम' नामक शौरसेनी प्राकृत का यह प्राचीन ग्रन्थ छह खण्डों में विभक्त है :-

1- जीवट्ठाण	:	जीव के गुण धर्म और अवस्थाओं का वर्णन।
2- खुद्दाबन्ध	:	मार्गणाओं के अनुसार बन्ध और अबन्ध का वर्णन।
3- बंध सामित्तविचय	:	कर्म की प्रकृतियां और उनके स्वामी।
4- वेयणा	:	आठ कर्मों का वेदना की अपेक्षा से वर्णन।
5- वग्गणा	:	बन्धनीय पुद्गल स्कन्धों का वर्णन।
6- महाबंध	:	प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग बन्ध।

इस तरह यह षट्खण्डागम ग्रन्थ जैनदर्शन में कर्मसिद्धान्त गुणस्थान और जीव की विभिन्न अवस्थाओं का सांगोपांग वर्णन करता है।

233. पैशाची प्राकृत

देश में उत्तर-पश्चिम प्रान्तों के कुछ भाग को पैशाच देश कहा जाता था। वहाँ पर विकसित इस जनभाषा को पैशाची कहा गया है। यद्यपि इसका कोई एक स्थान नहीं है। विभिन्न स्थानों के लोग इस भाषा को बोलते थे। प्राकृत भाषा से समानता होने के कारण पैशाची को भी प्राकृत का एक भेद मान लिया गया है।

इस भाषा में बृहत्कथा नामक पुस्तक लिखे जाने का उल्लेख है। किन्तु वह मूल रूप में प्राप्त नहीं है। उसके रूपान्तर प्राप्त हैं, जिनसे मूल ग्रन्थ का महत्त्व ज्ञात होता है।

वररुचि एवं हेमचन्द्र ने पैशाची भाषा की विशेषताओं का उल्लेख किया है। आगे के वैयाकरणों ने पैशाची के भेद-प्रभेद बतलाए हैं। कुछ विशेष उदाहरण भी दिए हैं। मार्कण्डेय ने इसे शूरसेन और पांचाल की भाषा कहा है। वस्तुतः यह भ्रमणशील किसी जाति विशेष की भाषा थी। इसमें कई प्रदेशों की बोलियों के तत्त्व सम्मिलित हैं। यथा-

1. ज्ञ के स्थान पर ञ होता है। प्रज्ञा> पञ्ञा आदि।
2. वर्ग के तृतीय व चतुर्थ वर्ण का प्रथम व द्वितीय वर्ण में परिवर्तन।
   यथा- मेघः > मेखो, राजा > राचा, मदन > मतन आदि।
3. ष्ट के स्थान पर सट और स्नान के स्थान पर सन आदेश। यथा-
   कष्ट > कसट, स्नान > सनान आदि।
4. मध्यवर्ती क, ग, च आदि वर्णों का लोप नहीं होता। यथा-
   शाखा > साखा, प्रतिभास > पतिभास आदि।

हेमचन्द्र, त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर आदि प्राकृत वैयाकरणों ने चूलिका पैशाची का भी उल्लेख किया है। पैशाची से इसमें थोड़ा सा अन्तर है। यथा-

1. र के स्थान पर विकल्प से ल। यथा-
   गोरी > गोली, चरण > चलन, राजा > लाचा आदि।
2. भ् को फ् आदेश। यथा- भवति > फोति आदि।

234. प्रकीर्णक

श्वेताम्बर जैन आगम साहित्य में प्रकीर्णकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। नन्दीसूत्र के टीकाकार मलयगिरि ने प्रकीर्णक को परिभाषित करते हुए कहा है कि अरहंतों द्वारा उपदिष्ट श्रुत का अनुसरण करते हुए श्रमण-निर्ग्रंथ भक्ति भावना एवं श्रद्धावश मूल भावना से दूर न रहते हुए, जिन ग्रन्थों का निर्माण करते हैं, उन्हें प्रकीर्णक कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव के 84,000 तथा भगवान् महावीर के 14,000 प्रकीर्णक होने का उल्लेख मिलता है। नंदीसूत्र, स्थानांगसूत्र,

व्यवहारसूत्र, धवला, पाक्षिक आदि सूत्रों में विभिन्न प्रकीर्णक ग्रन्थों के नाम गिनाये गये हैं, किन्तु इस क्रम में कुछ ग्रन्थों का विच्छेद हो गया तथा कुछ नये शास्त्र ग्रन्थ जुड़ते भी गये हैं। अतः सर्वमान्य रूप में प्रकीर्णक की संख्या निश्चित नहीं हो सकी है। वर्तमान समय में श्वेताम्बर परम्परा के 45 आगमों की मान्यता में निम्न 10 प्रकीर्णक मान्य हैं।

1. चउसरण 2. आउरपच्चक्खाण 3. महापच्चक्खाण

4. भत्तपरिण्णा 5. तंदुलवेयालिय 6. संथारय

7. गच्छायार 8. गणिविज्जा 9. देविंदत्थय 10. मरणसमाहि।

235. प्रकीर्णक ग्रंथ

आगम साहित्य के उपरान्त विभिन्न विषयों पर लिखित ग्रंथ प्रकीर्णक साहित्य के रूप में जाने जाते हैं। बारह प्रकीर्णक ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। यथा–

(1) चतुःशरण

चतुःशरण का अपरनाम कुशलानुबन्धि अध्ययन भी है। इसमें 63 गाथाएँ हैं। प्रारम्भ में षडावश्यक पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि सामायिक आवश्यक से चारित्र की शुद्धि होती है, चतुर्विंशति जिनस्तवन से दर्शन की विशुद्धि होती है, वन्दन से ज्ञान में निर्मलता आती है। प्रतिक्रमण से ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनों में विशुद्धि होती है। कायोत्सर्ग से तप की शुद्धि होती है और पच्चक्खाण से वीर्य की विशुद्धि होती है।

अरिहंत सिद्ध साहू केवलिकहिओ सुहावहो धम्मो।

एए चउरो चउगइहरणा, सरणं लहइ धन्नो॥11॥ – चतुःशरण, गा.2

ग्रन्थ के अन्त में वीरभद्र का उल्लेख होने से प्रस्तुत प्रकीर्णक के रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं। इस पर भुवनतुंग की वृत्ति और गुणरत्न की अवचूरि भी प्राप्त होती है।

(2) आतुरप्रत्याख्यान (आउरपच्चक्चखाण)

आतुरप्रत्याख्यान मरण से सम्बन्धित है। इसके कारण इसे अन्त कालीन प्रकीर्णक भी कहा गया है। इसका दूसरा नाम बृहदातुरप्रत्याख्यान भी है। इस प्रकीर्णक में 70 गाथाएँ हैं। दस गाथा के पश्चात् कुछ भग गद्य में है। प्रथम

बालपण्डितमरण की व्याख्या है। देशयति की व्याख्या करते हुए पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत चार शिक्षाव्रत, संलेखना, बालपंडित का वैमानिकों में उपपात और उनकी सात भव से सिद्धि बताई है।

(3) महाप्रत्याख्यान

महाप्रत्याख्यान (महापच्चक्खाण) प्रकीर्णक में त्याग का विस्तृत वर्णन है। इसमें 142 गाथाएँ हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में तीर्थंकर, जिन, सिद्ध और संयतों को नमस्कार किया है और पाप व दुश्चरित्र की निन्दा करते हुए उनके प्रत्याख्यान पर बल दिया है। ममत्व-त्याग को महत्त्व दिया है। निश्चयदृष्टि से आत्मा ही ज्ञान, दर्शन व चारित्र रूप है। साधक को मूलगुण और उत्तरगुणों का प्रतिक्रमण करना चाहिए, पापों की आलोचना, निन्दा और गर्हा करनी चाहिए। जो निश्शल्य होता है उसी की शुद्धि होती है।

(4) भक्तपरिज्ञा

प्रस्तुत प्रकीर्णक में भक्तपरिज्ञा नामक मरण का विवेचन मुख्य होने के कारण इसका नाम भक्तपरिज्ञा है। इसमें 172 गाथाएँ हैं। वास्तविक सुख की उपलब्धि जिनाज्ञा की आराधना से होती है। पण्डितमरण की आरधना पूर्णतया सफल होती है। पण्डितमरण (अभ्युद्यत मरण) के भक्तपरिज्ञा, इंगिनी और पादपोपगमन ये तीन भेद किये हैं। भक्तपरिज्ञा का फल है कि साधक जघन्य सौधर्म देवलोक में उत्पन्न होता है। उत्कृष्ट गृहस्थ साधक अच्युत कल्प में पैदा होता है। श्रमण स्वर्गसिद्धि में या निर्वाण को प्राप्त होता है। प्रस्तुत प्रकीर्णक के कर्ता वीरभद्र हैं। गुणरत्न ने इस पर अवचूरि भी लिखी है।

(5) तन्दुलवैचारिक

प्रस्तुत ग्रन्थ में सौ वर्ष की आयु वाला व्यक्ति कितना तन्दुल यानि चावल खाता है इस संख्या वर विशेष रूप से चिन्तन करने के कारण उप लक्षण से इसका नाम तन्दुलवैचारिक (तन्दुलवेयालिय) रखा गया है। इस प्रकीर्णक में 139 गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कुछ गद्यसूत्र भी हैं। इसमें मुख्य रूप से गर्भविषयक वर्णन है। सर्वप्रथम भगवान महावीर को नमस्कार किया गया है। उसके पश्चात् जिसकी आयु सौ वर्ष की है, परिगणना करने पर उसकी जिस प्रकार दस अवस्थाएँ होती हैं, और उन दस अवस्थाओं को संकलित कर निकाल

देने पर उसकी जितनी आयु अवशेष रहती है, उसका वर्णन किया गया है। अन्त में इस बात पर प्रकाश डाला है कि प्रस्तुत शरीर जन्म, जरा, मरण एवं वेदनाओं से भरा हुआ एक प्रकार का शकट है। अतः ऐसा कार्य करना चाहिए जिससे सम्पूर्ण दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो सके।

(6) संस्तारक

जैन साधना पद्धति में संथारा-संस्तारक का अत्यधिक महत्त्व है। जीवन भर में जो भी श्रेष्ठ और कनिष्ठ कृत्य किये हों उसका लेखा लगाकर अन्तिम समय में समस्त दुष्प्रवृत्तियों का परित्याग करना, मन, वाणी और शरीर को संयम में रखना, ममता से मन को हटाकर समता में रमण करना, आत्मचिन्तन संस्तारक यानि संथारे का आदर्श है। मृत्यु से भयभीत होकर उससे बचने के लिए पापकारी प्रवृत्तियाँ करना, रोते और बिलखते रहना यह उचित नहीं है। जैनधर्म का यह पवित्र आदर्श है कि जब तक जीओ, तब तक आनन्दपूर्वक जीओ और जब मृत्यु आ जाये तो विवेकपूर्ण आनन्द के साथ मरो।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 123 गाथाएँ हैं। इसमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य तृण आदि शैया का महत्त्व प्रतिपादित किया है। संस्तारक पर आसीन होकर पण्डितमरण को प्राप्त करने वाला श्रमण मुक्ति को वरण करता है। प्रशस्त संथारे का महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि जैसे पर्वतों में मेरु, समुद्रों में स्वयंभूरमण और तारों में चन्द्र श्रेष्ठ है उसी प्रकार सुविहितों में संथारा सर्वोत्तम है।

मेरु व्व पव्वयाणं सयंभुरमणु व्व चेव उदहीणं।
चंदो इव ताराणं तह संथारो सुविहिआणं॥ - संस्तारक, गाथा 30

अतीत काल में संथारा करने वाली महान्आत्माओं का संक्षेप में परिचय दिया है। उनमें से कुछ नाम इस प्रकार हैं- अर्णिकापुत्र, सुकोशलऋषि, अवन्ति, कार्तिकार्य, चाणक्य, अमृतघोष, चिलातिपुत्र, गजसुकुमाल आदि इनके उपसर्गजय की प्रशंसा भी की गई है।

(7) गच्छाचार (गच्छायार)

इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले श्रमण-श्रमणियों के आचार का वर्णन है। इस प्रकीर्णक में 137 गाथाएँ हैं। यह प्रकीर्णक महानिशीथ, विजयविमरगणि

की टीका है। इसमें गच्छ में रहने वाले आचार्य तथा श्रमण और श्रमणियों के आचार का वर्णन है।

गच्छ के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि गच्छ महान् प्रभावशाली है, उसमें रहने से महान् निर्जरा होती है। सारणा, वारणा और प्रेरणा होने से साधक के पुराने दोष नष्ट होते हैं, और नूतन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। वह सुगच्छ है जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ श्रमण अधिक मात्रा में हों।

गच्छाणुभावो तत्थ वसंताण निज्जरा विउला।

सरणवारणचोअणमाईहिं न दोसपडिवत्ती॥ – गच्छाचार, गा.–51

(8) गणिविद्या (गणिविज्जा)

गणिविद्या यह ज्योतिष का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें केवल 82 गाथाएँ हैं। इसमें (1) दिवस, (2) तिथि, (3) नक्षत्र, (4) करण, (5) ग्रह, (6) दिवस, (7) मुहूर्त, (8) लग्न और (9) निमित्त- इन नौ विषयों का विवेचन है। दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रह दिवस ग्रह दिवस से मुहूर्त्त, मुहूर्त से शकुन, शकुन से लग्न और लग्न से निमित्त बलवान होता है। करण के नाम, शुभ कार्यों के लिए कौनसा करण, उपयुक्त है। छाया मुहूर्त, अच्छे कार्यों के लिए शुभ योग, तीन प्रकार के शुकुन, तीन प्रकार के शकुनों में किया जाने वाला कार्य, प्रशस्त और अप्रशस्त लग्न, मिथ्या और सत्य निमित्त, तीन प्रकार के निमित्त निमित्त की सत्यता, प्रशस्त निमित्तों में सभी कार्य करने चाहिए और अप्रशस्त निमित्तों में सभी शुभ कार्य करने का निषेध किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ में होना का भी वर्णन है।

(9) देवेन्द्रस्तव (देविंदथव)

देवेन्द्रस्तव प्रकीर्णक में बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। इसमें 307 गाथाएँ हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में बताया है कि कोई श्रावक भगवान ऋषभदेव से लेकर चौबीसवें तीर्थंकर महावीर तक की स्तुति करता है। तीर्थंकर बत्तीस इन्द्रों से पूजित है। आठ प्रकार के व्यन्तर देव, व्यन्तर देवों के महर्द्धिक सोलह इन्द्र, तीनों लोक में व्यन्तरेन्द्रों का स्थान, व्यन्तरेन्द्रों का जघन्य, मध्यम

और उत्कृष्ट विस्तार और उनकी स्थिति का चित्रण किया गया है। अन्त में ईषत् प्राग्भारा का वर्णन किया है। और औपपातिक के सदृश सिद्धों का वर्णन कर जिनेन्द्रदेव की महिमा और गरिमा का वर्णन कर कहा कि भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक देवों की स्तुति पूर्ण हुई। प्रस्तुत प्रकीर्णक के रचयिता वीरभद्र माने जाते हैं।

(10) मरणसमाधि (मरणसमाही)

मरणसमाधि के अपरनाम मरणविभक्ति है। यह प्रकीर्णक सभी प्रकीर्णकों में बड़ा है- (1) मरणविभक्ति, (2) मरणविशोधि, (3) मरण समाधि (4) संलेखनाश्रुत (5) भक्तपरिज्ञा, (6) आतुरप्रत्याख्यान (7) महाप्रत्याख्यान (8) आराधना इन आठ प्राचीन श्रुतग्रन्थों के आधार पर प्रस्तुत प्रकीर्णक की रचना हुई है। आचार्य ने समाधिमरण के कारणभूत (1) आलोचना (2)संलेखना (3) क्षमापना (4) काल (5) उत्सर्ग (6) उद्‌ग्रास (7) संथारा (8) निसर्ग (9)वैराग्य (10) मोक्ष (11)ध्यान विशेष (12) लेश्या (13) सम्यक्त्व (14) पादोपगमन- ये चौदह द्वार बताये हैं।

संलेखना के आभ्यन्तर और बाह्य ये दो प्रकार बताये हैं, कषायों को कृश करना यह आभ्यन्तर संलेखना है और काया को कृश करना यह बाह्य संलेखना है।

संलेहणा य दुविहा अब्भितरिया य बाहिरा चेव।

अब्भितरिय कसाए बाहिरिया होइ य सरीरे॥ - मरणसमाधि गा.176

संलेखना की विधि पर भी प्रकाश डाला है। परीषह सहन करते हुए पादोपगमन संथारा करके सिद्धगति प्राप्त करने वालों के दृष्टान्त भी दिये हैं। अन्त में अनित्य, अशरण आदि बारह भावनाओं पर भी प्रकाश डाला है।

(11) चन्द्रवेध्यक प्रकीर्णक का अर्थ है राधावेद। जैसे सुसज्जित होने पर भी अन्तिम समय में किन्चितमात्र भी प्रमाद करने वाला वेधक राधावेद का वेध नहीं कर सकता उसी प्रकार जीवन की अन्तिम घड़ियों में किन्चितमात्र भी प्रमाद का आचरण करनेवाला साधक सिद्धि का वरण नहीं कर पाता। अतः आत्मार्थी साधक को सदा-सर्वदा अप्रमत्त होकर विचरण करना चाहिए। प्रस्तुत प्रकीर्णक

में विनय, आचार्यगुण, शिष्यगुण, विनयनिग्रहगुण, ज्ञानगुण, चरणगुण, मरणगुण– इन सात विषयों का विस्तार से विवेचन है।

विणयं आयरियगुणे सीसगुणे विणयनिग्गह गुणेय।

नाणगुणे चरणगुणे मरणगुणे इत्थ वच्छामि॥ – चन्द्रवेध्यक, गा.3

इस प्रकीर्णक में 175 गाथाएँ हैं।

(12) वीरस्तव (वीरत्थव)

इसमें श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की गई है। महावीर के अनेक नामों का उल्लेख भी हुआ है। इसमें 43 गाथाएँ हैं।

236. प्रज्ञापना (पण्णवणा)

अर्धमागधी जैन उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र का चौथा स्थान है। यह ग्रन्थ जैन तत्त्वज्ञान का उद्बोधक सूत्र है। प्रज्ञापना का अर्थ है – ज्ञापित करना या बतलाना। प्रस्तुत आगम में जीव-अजीव की प्रज्ञापना होने के कारण इसे प्रज्ञापन के नाम से जाना गया है। अजीव तत्त्व का वर्णन इसमें संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है तथा जीव तत्त्व की चर्चा अति विस्तार से की गई है। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र का वही स्थान है, जो अंग साहित्य में व्याख्याप्रज्ञप्ति का है। व्याख्याप्रज्ञप्ति की तरह प्रज्ञापना के लिए भगवती विशेषण प्रयुक्त हुआ है, जो इसकी महत्ता को सूचित करता है। आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना को समवायांग का उपांग कहा है, किन्तु इसके रचयिता स्वयं श्यामाचार्य ने प्रज्ञापना को दृष्टिवाद का निष्कर्ष कहा है'। प्रज्ञापनासूत्र एवं षट्खण्डागम दोनों का विषय प्रायः समान है तथा षट्खण्डागम की रचना दृष्टिवाद के अंश से हुई है। इस दृष्टि से प्रज्ञापना का सम्बन्ध दृष्टिवाद से जोड़ा जा सकता है। प्रज्ञापनासूत्र मे 36 पद हैं, जिनमें स्थान, गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, लेश्या, सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन आदि अनेक दृष्टियों से जीवों के भेद-प्रभेद एवं अल्प-बहुत्व पर विचार किया गया है।

पन्नवणा में 349 सूत्रों में निम्नलिखित 36 पदों का प्रतिपादन हैं;-प्रज्ञापना स्थान, बहुवक्तव्य, स्थिति विशेष व्युतक्रान्ति, उच्छास, संज्ञा, योनि, चरम भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, सभ्यक्त्व,

अन्तक्रिया, अवगाहना संस्थान क्रिया, कर्म, एवं कर्मबन्धक, कर्मवेदक, वेदनबन्धक, वेदवेदक, आहार, उपयोग पश्यत्ता, दर्शनता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचारणा, वेदना और समुघत। इन पदों का विस्तृत वर्णन गौतम इन्द्रभूति और महावीर के प्रश्नोत्तररूप में किया गया है। जैसे अंगों में भगवती सूत्र वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सबसे बड़ा है। इस उपांग के कर्ता वाचकवंशीय पूर्वधारी आर्य यामाचार्य हैं जो सुधर्मा स्वामी की तेईसवी पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे और महावीरनिर्वाण के 376 वर्ष बाद मौजूद थे। इसके टीकाकार मलयगिरि हैं, जिन्होंने हरिभद्रसूरिकृत विषम पदों के विवरणरूप लघु टीका के आधार से टीका लिखी है।

1. इस उपांग में 25 आर्य देशों का उल्लेख है। मगध, अंग, बंग, आदि पच्चीस देशों को पूरा देश कहा है और केकय श्रेतिका को आधा आर्य देश माना है।
2. कर्म-आर्य, शिल्प-आर्य एवं भाषा-आर्य जैसे आर्य जाति के भेदों को स्पष्ट किया है।
3. वर्णनों में आलंकारिक प्रयोग कम ही आये है।
4. जैनागम सम्बन्धी परिभाषिक शब्दावली विशेष रूप से वर्तमान है।
5. पशु-पक्षियों के अनेक भेद-प्रभेद निर्दिष्ट है।

कर्मभूमियाँ पन्द्रह होती हैं-- पाँच भरत, पाँच ऐरावत, पाँच महाविदेह। ये दो प्रकार के होते हैं-आर्य और म्लेच्छ। म्लेच्छ-शक, यवन, चिलात किरात षवर बर्बर मुरूं ड उड्ड (ओड्र), भडग, निण्णग, पक्कणि, कुलक्ख, गौंउ, सिंहल, पारस, गोध, कोंच, अंध, दमिल द्रविड, चिल्लल, पुलिंद हारोस, डोंब, बोक्कण, गंधहारग (1) बहलीक, अज्झल (जल्ल1) रोमपास (1) बकुश, मलय, बंधुय, सूयलि, कोंकणग, मेय, पहव मालव, मग्गर, आभासिय, आक्खण, चीण लासिक, खस, खासिय नेहुर मोंढ, डोबिलग, लओस, पओस, केकय, अक्खाग, हूण, रोमक रूरू मस्य आदि।

आर्य दो प्रकार के होते हैं- ऋद्धिप्राप्त, और अनृद्धिप्राप्त। ऋद्धिप्राप्त- अरहंत, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, चारण और विद्याधर। अनृद्धिप्राप्त नौ प्रकार के होते हैं-क्षेत्रार्य, जात्यार्य, कुलार्य, कर्मार्य, शिल्पार्य, भाषार्य, ज्ञानार्य, दर्शनार्य और चारित्रार्य।

ग्यारहवाँ भाषापद है। इस पद में भाषा सम्बन्धी विचारणा करते हुए बताया है कि भाषा किस प्रकार उत्पन्न होती हैं, कहाँ पर रहती है उसकी आकृति किस प्रकार की हैं, उसका स्वरूप, भेद-प्रभेद और बोलने वाला व्यक्ति इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर चिन्तन किया गया है। जो बोली जाय वह भाषा है। दूसरे शब्दों में कहें तो जो दूसरों के अवबोध-समझने में कारण हो वह भाषा है। भाषा का आदि कारण तो जीव है और उपादान कारण पुद्गल है। जीव स्थितिपरिणत भाषा के पुद्गलों को काययोग से ग्रहण कर भाषा रूप में परिणत करता है। ये भाषा के पुद्गल जब भाषा के रूप में बाहर निकलते हैं तब सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हो जाते हैं।

237. प्रथम प्राकृत

शौरसेनी प्राकृत प्राचीनकाल से ही सार्वजनीन रहने के कारण महाभाषा अथवा राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही। बीसवीं सदी के पाणिनी माने जाने वाले प्रमुख भारतीय-भाषाविद् एवं भाषा-सर्वेक्षक डॉ. जार्ज गियर्सन ने भारत के भाषा-सर्वेक्षण के बाद बताया था कि "समग्र भातर में सहस्रों प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनकी समग्रता का अध्ययन दुरूह एवं समयसाध्य है।" फिर भी उन्होंने समग्र भारत की पद-यात्रा कर लगभग साढ़े पांच सौ से ऊपर की भाषाओं की जानकारी अपने Linguistic Survey of India के 18 भागों में प्रस्तुत करते हुए उनका मूलस्रोत प्रथम प्राकृत को माना है।

ईसा-पूर्व की अनेक सदियों-पूर्व से भारतीय आर्यभाषा प्राकृत के नाम से अभिहित थी। प्राकृत का अर्थ है नैसर्गिक या स्वाभाविक एवं अकृत्रिम भाषा। इसके विपरीत संस्कृत का अर्थ है संस्कार की हुई तथा नियमबद्ध भाषा। प्राकृत की इस परिभाषा से स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन वैदिक मन्त्रों की बोलचाल की भाषायें बाद के मन्त्रों की नियमबद्ध संस्कृत भाषा की तुलना में वास्तव में प्राकृत नैसर्गिक भाषाएँ थीं। वस्तुतः इन्हें भारत की प्रथम-प्राकृत कहा जा सकता है।

238. प्रत्येकबुद्धचरित

यह प्राकृत भाषा में निबद्ध रचना है जिसका ग्रन्थाग्र 6050 लोक है। बृहट्टिप्पनिका के अनुसार इसकी रचना सं. 1261 में श्रीतिलकसूरि ने की थी। श्रीतिलकसूरि चन्द्रगच्छीय शिवप्रभसूरि के शिष्य थे। ग्रन्थ अब तक अप्रकाशित है।

239. प्रवचनसार (पवयणसारो)

शौरसेनी आगम साहित्य में प्रवचनसार की गणना द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत की जाती है। इस ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य अमृतचन्द्र के अनुसार इसमें 275 गाथाएँ हैं तथा आचार्य जयसेन के अनुसार 317 गाथाएँ हैं। यह ग्रन्थ तीन भागों में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक भाग के प्रारम्भ में महत्त्वपूर्ण मंगलाचरण की गाथाएँ हैं। प्रथम भाग ज्ञानाधिकार में आत्मा एवं ज्ञान के एकत्व पर बल दिया गया है यथा - **जो जाणदि सो णाणं हवदि।** (गा. 36) अर्थात् जो जानता (ज्ञाता) है वह ज्ञान है। इस अधिकार में केवलज्ञान का विशिष्ट विवेचन हुआ है। केवलज्ञान की महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि जीव जब सम्पूर्ण रूप से केवलज्ञान को प्राप्त होता है, तब जीव, पुद्गलादि द्रव्यों की समस्त अतीत, वर्तमान एवं अनागत पर्यायें उस केवलज्ञानी के ज्ञान में प्रतिभाषित हो जाती हैं। वह उन सभी पर्यायों को जानते एवं देखते हुए भी उनमें लिप्त नहीं होता है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार में इन्द्रिय-अतीन्द्रिय सुख, शुभ-अशुभ एवं शुद्धोपयोग तथा मोहक्षय का भी निरूपण हुआ है।

ज्ञेयाधिकार में षड्द्रव्यों का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। द्रव्य को सत् अर्थात् उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य युक्त कहा है। इसके अतिरिक्त इस अधिकार में जीव का लक्षण, जीव एवं पुद्गल का सम्बंध, निश्चय-व्यवहारनय का अविरोध एवं शुद्धात्म स्वरूप आदि विषयों का विवेचन किया है। तीसरे चारित्राधिकार में मुनि की बाह्य एवं आभ्यान्तरिक क्रियाओं की शुद्धता का प्रतिपादन हुआ है। इस सन्दर्भ में दीक्षा-विधि, छेद का स्वरूप, युक्त आहार, उत्सर्ग एवं अपवाद मार्ग आदि का विवेचन हुआ है। वस्तुतः प्रवचनसार एक शास्त्रीय ग्रन्थ के साथ-साथ नवदीक्षित श्रमण हेतु एक व्यवहारिक नियम पुस्तिका भी है, जो आचार्य कुन्दकुन्द की आध्यात्मिक अनुभूति से ही प्रकट हुई है। इस ग्रन्थ पर अमृतचन्द्राचार्य और जयसेनाचार्य की प्रसिद्ध संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हैं।

240. प्रवरसेन

इस महाकाव्य का रचयिता प्रवरसेन नामक महाकवि है। आश्वासों के अन्त में प्राप्ति पुष्पिकाओं में **पवरसेण विरए** के साथ **कालिदासकए** पद भी पाया जाता है। सेतुबन्ध की कुछ पाण्डुलिपियाँ इस प्रकार की भी उपलब्ध हैं, जिनमें

केवल प्रवरसेन का ही नाम उपलब्ध होता है। अतएव प्रवरसेन इस काव्य ग्रन्थ के रचयिता हैं, यह सर्वमान्य है। महाकवि बाण ने हर्षचरित (1/14/5) में सेतुबन्ध का नामोल्लख निम्न प्रकार किया है–

कीर्त्तिः प्रवरसेनस्य प्रयाता कुमुदोज्जवला।
सागरस्य परं पारं कपिसेनेव सेतुना॥

बाण का समय सातवीं सदी माना जाता है, जो प्रवरसेन के सर्वाधिक निकटवर्ती हैं। कम्बुज के एक शिलालेख से भी बाण की उक्ति का समर्थन होता है। इस शिलालेख के आधार पर कह सकते हैं कि दसवीं सदी के प्रारम्भ तक सेतुबन्ध काव्य का रचयिता प्रवरसेन ही माना जाता था। लेख में बताया है–

येन प्रवरसेनेन धर्मसेतु विवृण्वता।
परः प्रवरसेनोऽपि जितः प्राकृतसेतुकृत्॥

अर्थात् यशोवर्मा (889–909 ईसवीं) अपनी प्रवरसेन द्वारा स्थापित धर्मसेतुओं से दूसरे प्रवरसेन को पीछे छोड़ गया क्योंकि उसने केवल एक साधारण प्राकृत सेतु सेतुबन्ध महाकाव्य का निर्माण किया है।

इतिहास में प्रवरसेन नाम के चार राजा उपलब्ध होते हैं, दो कश्मीर में और दो दक्षिण के वाकाटक वंश में। प्रथम प्रवरसेन का समय ईसवी प्रथम शताब्दी और द्वितीय प्रवरसेन का समय ईस्वी सन् द्वितीय शताब्दी आता है। विचार करने पर कश्मीर के इन दोनों ही प्रवरसेनों का सम्बन्ध सेतुबन्ध के रचयिता के साथ स्थापित करना संभव नहीं जान पड़ता है। वाकाटक वंश में भी दो प्रवरसेन हुए हैं। सन् 410 ई. में प्रभावती के द्वितीय पुत्र ने प्रवरसेन द्वितीय के नाम से राज्यभार संभाला। इसका राज्यकाल 440 ई. तक रहा। यही प्रवरसेन प्रस्तुत सेतुबन्ध नामक महाकाव्य का रचयिता है। प्रवरसेन ने वैष्णव धर्मानुयायी होने के कारण विष्णु के अवतार रूप में रामकथा को अपने इस महाकाव्य का आधार बनाया है। अतः इस काव्य का रचनाकाल पाँचवीं शताब्दी है।

241. प्रश्नव्याकरण (निमित्तशास्त्र)

पण्हवागरण नामक दसवें अर्धमागधी साहित्य के अंग आगम से भिन्न इस नाम का एक ग्रंथ निमित्त विषयक है, जो प्राकृत भाषा में गाथाबद्ध है। इसमें 450

गाथाएँ हैं। इसकी ताड़पत्रीय प्रति पाटन के ग्रंथभण्डार में हैं। उसके अंत में लीलावती नामक टीका भी प्राकृत में है।

इस ग्रन्थ में निमित्त के सब अंगों का निरूपण नहीं है, केवल जातकविषयक प्रश्नविद्या का वर्णन किया गया है प्रश्नकर्ता के प्रश्न के अक्षरों से ही फलादेश बता दिया जाता है। इसमें समस्त पदार्थों को जीव, धातु और मूल- इन तीन भेदों में विभाजित किया गया है तथा प्रश्नों द्वारा निर्णय करने के लिये अवर्ग, कवर्ग आदि नामों से पाँच वर्गों में नौ-नौ अक्षरों के समूहों में बाँटा गया है। इससे यह विद्या वर्गकेवली के नाम से कही जाती है। चूडामणिशास्त्र में भी यही पद्धति है। इस ग्रंथ पर तीन अन्य टीकाओं के होने का उल्लेख मिलता है : 1. चूडामणि 2. दर्शनज्योति, जो लींबडी-भंडार में है और 3. एक टीका जैसलमेर भंडार में विद्यमान है। यह ग्रन्थ अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है।

242. प्रश्नव्याकरण सूत्र (पण्हावागरणाइं)

अर्धमागधी आगम के अंग ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरणसूत्र का दसवां स्थान है। समवायांग, नंदी, एवं अनुयोगद्वारसूत्र में प्रश्नव्याकरण के लिए 'पण्हावागरणाइं' शब्द मिलता है। इसका शाब्दिक अर्थ है - 'प्रश्नों का व्याकरण' अर्थात् निर्वचन, उत्तर एवं निर्णय। इन ग्रन्थों में प्रश्नव्याकरणसूत्र में दिव्य-विद्याओं, लब्धियों, अतिशयों आदि से सम्बन्धित जिस विषय सामग्री से युक्त प्रश्नों का उल्लेख किया गया है, वर्तमान समय में वह सामग्री इस ग्रन्थ में तनिक भी नहीं प्राप्त है। संभवतः वर्तमान समय में कोई इस सामग्री का दुरुपयोग न करे, अतः इन विषयों को निकालकर इस ग्रन्थ में जैनदर्शन के तत्त्वों आस्रव एवं संवर के वर्णन का समावेश कर दिया गया है। यह आगम दो खण्डों में विभक्त है, जिनमें क्रमशः मन के रोगों का उल्लेख एवं उनकी चिकित्सा का विवेचन किया गया है। प्रथम खण्ड में उन रोगों के नाम बताये गये हैं - हिंसा, असत्य, स्तेय, अब्रह्मचर्य, परिग्रह। द्वितीय खण्ड में इन रोगों की चिकित्सा बताई गई है - अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। आस्रव और संवर का निरूपण एवं विश्लेषण इस आगम ग्रन्थ में विस्तार से किया गया है।

243. प्राकृतकल्पतरु

प्राकृतकल्पतरु के कर्ता रामशर्मा तर्कवागीश भट्टाचार्य हैं जो बंगाल के रहने

वाले थे। इनका समय ईसवीं सन् की 17वीं शताब्दी माना जाता है रामशर्मा ने विषय के विवेचन में पुरुषोत्तम के प्राकृतानुशासन का ही अनुगमन किया है। इस पर लेखक की स्वोज्ञ टीका है। इनमें तीन शाखायें हैं। पहली शाखा में दस स्तवक हैं जिनमें महाराष्ट्री के नियमों का प्रतिपादन है। दूसरी शाखा में तीन स्तवक हैं, जिनमें प्रथम मागधी और दाक्षिणत्या का विवेचन है। तृतीय स्तवक में विभाषा का विधान है। विभाषाओं में शाकारिकी, चांडालिका, शाबरी, आभारिका और टक्की का विवेचन है। तीसरा शाखा में नगर, अपभ्रंश, व्राचड, अपभ्रंश तथा पैशाचिक का विवेचन है। पैशाचिक के दो भेद हैं- एक शुद्ध, दूसरा संकीर्ण। कैकय, शौरसेन, पांचाल, गौड़, मागध और व्राचड का यहाँ विवेचन किया है।

244. प्राकृत एवं अपभ्रंश

मध्ययुग में ईसा की दूसरी से छट्ठी शताब्दी तक प्राकृत भाषा का साहित्य में कई रूपों में प्रयोग हुआ। वैयाकरणों ने प्राकृत भाषा में भी नियमों के द्वारा एकरूपता लाने का प्रयत्न किया, किन्तु प्राकृत में एकरूपता नहीं आ सकी। यद्यपि साहित्य में कृत्रिम प्राकृत का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। इससे वह लोक से दूर हटने लग गई थी। लेकिन जिन लोक प्रचलित भाषाओं में साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ था, वे लोक भाषाएँ अभी भी प्रवाहित हो रही थीं। उन्होंने एक नई भाषा को जन्म दिया, जिसे अपभ्रंश कहा गया है। यह प्राकृत भाषा के विकास की तीसरी अवस्था है। प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषाओं का क्षेत्र प्रायः एक जैसा था तथा एक विशेष प्रकार का साहित्य इनमें लिखा गया है। विकास की दृष्टि से भी इनमें घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः कई विद्वानों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश को एक मान लिया है, जबकि वे दोनों स्वतंत्र भाषाएँ हैं। अपभ्रंश जन सामान्य की भाषा का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है। इसके अतिरिक्त विभक्ति, प्रत्यय, परसर्गों में भी प्राकृत और अपभ्रंश में स्पष्ट अन्तर है। अपभ्रंश में देशी रूपों की बहुलता है। यह उकार बहुला भाषा है।

अपभ्रंश को आभीरी, भाषा, देशी एवं अवहट्ठ आदि नाम भी समय समय पर दिये गये हैं। ये सब नाम अपभ्रंश के विकास को सूचित करते हैं। पश्चिमी भारत की एक बोली – विशेष **आभीरी** से अपभ्रंश प्रभावित है। जन भाषा की बोली

होने से इसे **भाषा** कहा गया है। कथ्य भाषा होने से यह **देशी** कही गई है तथा परवर्ती अपभ्रंश के लिए **अवहट्ट** कहा गया है, जो अपभ्रंश और हिन्दी भाषा को परस्पर जोड़ने वाली कड़ी है। वह आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की पूर्ववर्ती अवस्था है।

245. प्राकृत एवं जैनागम विभाग

प्राकृत एवं जैनागम विभाग, सम्पूर्णानन्द विश्वविद्यालय, वाराणसी के श्रमणविद्या संकाय में एक स्वतंत्र विभाग है। 1958 में इस विश्वविद्यालय की स्थापना के समय से ही विश्वविद्यालय ने प्राकृत का शिक्षण एवं परीक्षा प्रारम्भ की। प्राकृत के स्वतंत्र अध्यापक के अभाव में जैनदर्शन के साथ इसका सहयोजन किया गया। उत्तरप्रदेश विश्वविद्यालय अधिनियमों के अनुसार 26 दिसम्बर 1978 से प्रवृत्त परिनियमावली के अनुरूप विश्वविद्यालय के विभागों का संकायों के रूप में जब पुनर्गठन हुआ तो उसके अन्तर्गत प्राकृत एवं जैनागम विभाग को स्वतन्त्र विभाग का रूप प्रदान किया गया। 21 जुलाई 1979 को डॉ. गोकुलचन्द जैन, द्वारा कार्यभार ग्रहण करने के साथ 1979-80 शिक्षा सत्र से प्राकृत एवं जैनागम विभाग का विधिवत् शुभारम्भ हुआ।

प्राकृत के शास्त्री, आचार्य और स्नातकोत्तर प्रमाण-पत्रीय शिक्षण की व्याख्या विश्वविद्यालीय विभाग में हैं। मध्यमा स्तर का शिक्षण सम्बद्ध विद्यालयों-महाविद्यालयों में होता है। आचार्य स्तर पर प्राकृत की विभिन्न शाखाओं के चार वर्ग बनाये गये हैं- 1. अर्धमागधी प्राकृतागम, 2. शौरसेनी प्राकृतागम, 3. महाराष्ट्री प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य। 4. प्राकृतागम एवं पाली त्रिपिटक। विश्वविद्यालय में प्राकृत एवं जैनविद्या में अनुसन्धानोपाधि की भी व्यवस्था है।

246. प्राकृत एवं संस्कृत

संस्कृत और प्राकृत भाषा के बीच किसी प्रकार कार्य-कारण या जन्य-जनक भाव नहीं है। दोनों के विकास का स्रोत एक है। डॉ. एलफेड, डॉ. पिशॅल, डॉ. पी.डी. गुणे आदि विद्वान् भी प्राकृत भाषा के स्रोत के रूप में एक प्राचीन लोकभाषा को स्वीकार करते हैं, जिससे छान्दस् - भाषा (संस्कृत) का भी विकास हुआ है।

किसी भी भाषा के दो रूप होते हैं– कथ्य और साहित्य–निबद्ध। कथ्य भाषा सर्वदा परिवर्तनशील होती है, किन्तु जब साहित्य और व्याकरण के नियमों से बंध जाती है तो उसका विकास रुक जाता है। अतः पुनः जनभाषा से एक नई भाषा उभर कर आती है जो आगे साहित्य और जनमानस में सम्प्रेषण का माध्यम बनती है। यही स्थिति संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के साथ हुई है। संस्कृत शब्दों के सादृश्य और पार्थक्य के आधार पर उन्हें तीन भागों में विभक्त किया गया है- (1)तत्सम (2)तद्भव एवं (3)देश्य। जो शब्द संस्कृत से प्राकृत में ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिये हैं तथा जिनकी ध्वनियों में कुछ भी परिवर्तन नहीं हुआ वे तत्सम शब्द हैं। यथा–नीर, धूलि, कवि, संसार, कुल, जल आदि। तथा जिनकी ध्वनियों में जो शब्द संस्कृत से वर्णलोप, वर्णागम, वर्णपरिवर्तन और वर्ण-विकार द्वारा उत्पन्न हुए हैं वे तद्भव या संस्कृतभव कहलाते हैं। यथा–अग्ग ‹अग्र इट्ठट ‹ इष्ट्, ईसा ‹ ईर्ष्या, गअ ‹ गज, चक्क ‹ चक्र, फंस ‹ स्पर्श आदि। सभी प्राकृत–व्याकरण इन्हीं तद्भव शब्दों का ही अनुशासन करते हैं। वास्तव में इन्हीं शब्दों के कारण प्राकृत को संस्कृत का बिगड़ा हुआ रूप अथवा संस्कृत से प्राकृत की उत्पत्ति आदि मानने की धारणाएँ उत्पन्न हुई हैं, जो निराधार हैं।

प्राकृत भाषा में कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका संस्कृत से कोई संबंध नहीं है तथा जिनका अर्थ मात्र रूढ़ि पर अवलम्बित है। ऐसे शब्दों को देश्य या देशी कहा गया है, जो जनसाधारण की बोलचाल की भाषा से लिये गये हैं। यथा–अगय (दैत्य), आकसिय (पर्याप्त), दुराव (हस्ती), ऊसअ (उपधान), एलविल (धनाढ्य), कदो (कुमुद), चउक्कर (कार्तिकेय), गड्डा (बलात्कार) आदि। इस प्रकार के देश्य शब्दों के प्रयोग के कारण स्पष्ट हो जाता है कि प्राकृत का लोकभाषा के साथ हमेशा घनिष्ठ संबंध बना रहा है। जबकि संस्कृत क्रमशः शिष्ट समुदाय में सिमटती चली गयी। संस्कृत और प्राकृत के संबंध स्पष्ट रूप से समझ लेना आवश्यक है। वैयाकरणों ने प्राकृत की प्रकृति संस्कृत को किस रूप में माना है, इससे यह भी स्पष्ट हो जायेगा तथा इससे द्वितीय स्तरीय प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति के स्रोत का भी पता चल सकेगा।

प्राकृत के कुछ वैयाकरण प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति में 'प्रकृति' शब्द का अर्थ संस्कृत करते हुए प्राकृत भाषाओं की उत्पत्ति लौकिक संस्कृत से मानते हैं। इस

संबंध में निम्न उद्धरण दिये जाते हैं-

1- 'प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत् आगतं वा प्राकृतम् ' (प्राकृत-व्याकरण, हेमचंद्र)

2- 'प्रकृतिः संस्कृत तत्र भवं प्राकृतमुच्यते' (प्राकृतसर्वस्व, मार्कण्डेय)

3- 'प्रकृति संस्कृत तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम् (प्राकृतचन्द्रिका)

4- 'प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृतो मता' (षड्भाषाचन्द्रिका, लक्ष्मीधर)

5- 'प्राकृतस्त तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः' (प्राकृत-संजीवनी, वसन्तराज) इत्यादि।

वैयाकरणों के अतिरिक्त कई अलंकारिकों ने भी यही मत प्रकट किया है। इन सबका तात्पर्य यह है कि प्राकृत शब्द 'प्रकृति' शब्द से बना है। प्रकृति का अर्थ है, संस्कृत भाषा से जो उत्पन्न हुई है, वह है प्राकृत भाषा। किन्तु प्राकृत शब्द की यह व्याख्या अप्रमाणिक ही नहीं है, भाषातत्व से असंगत भी है। यह अप्रमाणिक है क्योंकि प्रकृति शब्द का मुख्य अर्थ संस्कृत भाषा कभी नहीं होता। गौण अर्थ लिया नहीं जा सकता। अव्यापक इसलिए है कि प्राकृत के सभी शब्द संस्कृत से उत्पन्न नहीं हैं और असंगत इसलिए कि कभी साहित्य की भाषा से किसी भी बोल-चाल की भाषा का जन्म नहीं होता। अतः संस्कृत से जनभाषा प्राकृत कैसे उत्पन्न हो सकती है? संस्कृत को प्राकृत की 'प्रकृति' या योनि जिस अर्थ में कहा गया है, उसकी तह तक पहुँचना आवश्यक है।

'**प्रकृतिः संस्कृतम्**' का अर्थ है कि प्राकृत भाषा को सीखने के लिए संस्कृत शब्दों को मूलभूत रखकर उनके साथ उच्चारण भेद के कारण प्राकृत शब्दों का जो साम्य-वैषम्य है, उसको दिखाना। अर्थात् संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत भाषा का सीखने का प्रयत्न करना। प्राकृत शब्द की व्युत्पति करते समय 'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम् अथवा प्रकृतीनां साधरणजनानामिदं प्राकृतम् अर्थों को स्वीकार करना चाहिये। प्राचीन आचार्यो ने भी 'प्राकृत' शब्द का यही अर्थ ग्रहण किया है। आठवीं शताब्दी के महाकवि वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा को जनभाषा माना है। इससे ही समस्त भाषाओं का विकास स्वीकार किया है। 10वीं सदी के विद्वान् कवि राजशेखर ने प्राकृत का संस्कृत की योनि विकास-स्थान कहा है।

11वीं शताब्दी के विद्वान व्याख्याकार नमि साधु ने रूद्रटकृत काव्यालंकार के 2/12 श्लोक की व्याख्या करते समय 'प्राकृत' शब्द की व्युत्पत्ति को पूर्णतः स्पष्ट कर दिया है।

प्राकृत एवं संस्कृत के विकास के इस क्रम को स्पष्ट करते हुए भाषाशास्त्री स्वर्गीय डा. नेमिचन्द्र शास्त्री कहते हैं कि 'प्राकृत को बहता नीर और संस्कृत को बद्ध महासरोवर कह सकते हैं। प्राकृत और संस्कृत दोनों के एक ही छान्दस् स्रोत से प्रवाहित होने पर भी एक वृद्धा कुमारी बनी रही और दूसरी कुमारी युवती। संस्कृत पुरानी होती हुई भी सदा मौलिक रूप धारण करती है, इसके विपरीत प्राकृत चिर युवती है, जिसकी संतानें निरन्तर विकसित होती जा रही हैं।' जिस प्रकार प्राकृत ने संस्कृत के अनेक शब्दों, ध्वनिरूपों एवं काव्यरूपों को ग्रहण कर अपना साहित्य विकसित किया है, उसी प्रकार संस्कृत भाषा भी समय-समय पर प्राकृत से प्रभावित होती जा रही है। संस्कृत साहित्य में लोकचेतना और लोकजीवन के प्रचलित शब्द इस बात का स्पष्ट करते हैं। संस्कृत प्राकृत की योनि इसी अर्थ में कहा गया है कि व्याकरण आदि के नियमों में सुगठित संस्कृत भाषा के द्वारा प्राकृत के व्याकरण को भी सीखा जा सके। प्राकृत के तद्भव शब्दों की जानकारी संस्कृत व्याकरण से ही होती है। प्राकृत एवं संस्कृत दो स्वतंत्र भाषाएँ हैं, अतः उनकी अपनी अलग-अलग मौलिक विशेषताएँ भी हैं।

प्राकृत में कृदन्तों को अधिक सरल कर दिया गया है। ध्वनि परिवर्तन प्राकृत में अधिक मात्रा में होता है, संस्कृत में कम। यही कारण है कि संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने अपने संस्कृत लाक्षणिक ग्रंथों में प्राकृत की गाथाओं के दृष्टान्त देना पसंद किया है। प्राकृत के अध्ययन के बिना संस्कृत काव्यशास्त्र को नहीं समझा जा सकता। अतः ये दोनों संस्कृत एवं प्राकृत भाषाएँ एक दूसरे की पूरक हैं। संस्कृत नाटकों के अधिकांश पात्रों की भाषा प्राकृत है। प्राकृत के माध्यम ही उनका रसास्वादन किया जा सकता है। आज कोई शोध-कार्य एवं स्तर का रचनात्मक लेखन बिना इन दोनों भाषाओं के ज्ञान के नहीं हो सकता। भारतीय भाषाओं का सम्पूर्ण भवन इन्हीं दो भाषाओं के मजबूत पायों पर स्थित है।

247. प्राकृत का अर्थ एवं महत्त्व

प्राचीन विद्वान् नमिसाधु के अनुसार प्राकृत शब्द का अर्थ है-व्याकरण आदि

संस्कारों से रहित लोगों का स्वाभाविक वचन-व्यापार। प्राक् कृत पद से प्राकृत शब्द बना है, जिसका अर्थ है पहिले किया गया। जैन धर्म के द्वादशांग ग्रंथों में ग्यारह अंग ग्रंथ पहिले किये गये हैं। अतः उनकी भाषा प्राकृत है, जो बालक, महिला आदि सभी को सुबोध है। इसी प्राकृत के देश-भेद एवं संस्कारित होने से अवान्तर विभेद हुए हैं। प्राकृत शब्द की व्युत्पत्ति करते समय **'प्रकृत्या स्वभावेन सिद्धं प्राकृतम्'** अथवा **प्रकृतीनां साधारणजनानामिदं प्राकृतम्** अर्थ को स्वीकार करना चाहिये। जन सामान्य की स्वाभाविक भाषा प्राकृत है।

बोलचाल की भाषा अथवा कथ्य भाषा प्राकृत का वैदिक भाषा के साथ जो सम्बन्ध था, उसी के आधार पर साहित्यिक प्राकृत भाषा का स्वरूप निर्मित हुआ है। अतः वैदिक युग से लेकर महावीर युग तक की प्राकृत भाषा ने तत्कालीन साहित्य को भी अवश्य प्रभावित किया होगा। यदि वैदिक ऋचाओं, उपनिषदों, महाभारत और आदि रामायण तथा पालि, प्राकृत आगमों की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया जावे तो कई मनोरंजक तथ्य प्राप्त हो सकेंगे। इसी कड़ी को ध्यान में रखते हुए प्रसिद्ध भाषाविद् वाकरनाल ने कहा है कि –'प्राकृतों का अस्तित्त्व निश्चित रूप से वैदिक बोलियों के साथ-साथ वर्तमान था, इन्हीं प्राकृतों से परवर्ती साहित्यिक प्राकृतों का विकास हुआ है। यही बात आठवीं शताब्दी के कवि वाक्पतिराज ने पहले ही कह दी थी कि- सभी भाषाएं इसी (जनबोली प्राकृत) से निकलती हैं और इसी को प्राप्त होती हैं। जैसे जल (बादल के रूप में) समुद्र से निकलते हैं और समुद्र को ही (नदियों के रूप में) आते हैं'। यथा-

सयलाओ इमं वाया बिसन्ति एत्तो य णेन्ति वायाओ।
एन्ति समुद्दं च्चिय णेन्ति सायराओ च्चिय जलाइं॥

प्राकृत भाषा अपने जन्म से ही जनसामान्य से जुड़ी हुई है। ध्वन्यात्मक और व्याकरणात्मक सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत भाषा लम्बे समय तक जनसामान्य के बोलचाल की भाषा रही है। प्राकृत की आदिम अवस्था का साहित्य या उसका बोलचाल वाला स्वरूप तो हमारे सामने नहीं है, किन्तु वह जन-जन तक पैठी हुई थी। महावीर, बुद्ध तथा उनके चारों ओर दूर-दूर तक के विशाल जन-समूह को मातृभाषा के रूप में प्राकृत उपलब्ध हुई। इसीलिए

महावीर और बुद्ध ने जनता के सांस्कृतिक उत्थान के लिए प्राकृत भाषा का आश्रय लिया, जिसके परिणाम स्वरूप दार्शनिक आध्यात्मिक, सामाजिक आदि विविधताओं से परिपूर्ण आगमिक एवं त्रिपिटक साहित्य के निर्माण की प्रेरणा मिली। इन महापुरुषों ने इसी प्राकृत भाषा के माध्यम से तत्कालीन समाज के विभिन्न क्षेत्रों में क्रान्ति की ध्वजा लहरायी थी। इससे ज्ञात होता है कि तक प्राकृत मातृभाषा के रूप में दूर-दूर के विशाल जन समुदाय को आकर्षित करती रही होगी। जिस प्रकार वैदिक भाषा को आर्य संस्कृति की भाषा होने का गौरव प्राप्त है, उसी प्रकार प्राकृत भाषा को **आगम/आर्य भाषा** होने की प्रतिष्ठा प्राप्त है।

प्राकृत जन-भाषा के रूप में इतनी प्रतिष्ठित थी कि उसे सम्राट अशोक के समय में **राज्यभाषा** होने का गौरव प्राप्त हुआ है। और उसकी यह प्रतिष्ठा सैकड़ों वर्षों तक आगे बढ़ी है। अशोक ने भारत के विभिन्न भागों में जो राज्यादेश प्रचारित किये थे उसके लिए उसने दो सशक्त माध्यमों को चुना। एक तो उसने अपने समय की जन भाषा प्राकृत में इन अभिलेखों को तैयार कराया ताकि वे जन-जन तक पहुँच सकें। और दूसरे उसने इन्हें पत्थरों पर खुदवाया ताकि वे सदियों तक अहिंसा, सदाचार, समन्वय का सन्देश दे सकें। इन दोनों माध्यमों ने अशोक को अमर बना दिया है। देश के अन्य नरेशों ने भी प्राकृत में लेख एवं मुद्राएं अंकित करवायीं। ई.पू. 300 से लेकर 400 ईस्वी तक इन सात सौ वर्षों में लगभग दो हजार लेख प्राकृत में लिखे गये हैं। यह सामग्री प्राकृत भाषा के विकास क्रम एवं महत्त्व के लिए ही उपयोग नहीं है, अपितु भारतीय संस्कृति के इतिहास के लिए भी महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है।

प्राकृत भाषा क्रमशः विकास को प्राप्त हुई। वैदिक युग में वह **लोकभाषा** थी। उसमें रूपों की बहुलता एवं सरलीकरण की प्रवृत्ति थी। महावीर युग तक आते-आते प्राकृत ने अपने को इतना समृद्ध और सहज किया कि वह आध्यात्म और सदाचार की भाषा बन सकी। इससे प्राकृत के प्रचार-प्रसार में गति आयी। वह लोक के साथ-साथ साहित्य के धरातल को भी स्पर्श करने लगी। इसीलिए उसे राज्याश्रय और स्थायित्व प्राप्त हुआ। ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में प्रतीत होता है कि प्राकृत भाषा गांवों की झोपड़ियों से राजमहलों की सभाओं तक समादृत होने लगी थी। अतः वह अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम चुन ली गयी

थी। महाकवि हाल ने इसी समय प्राकृत भाषा के प्रतिनिधि कवियों की गाथाओं का गाथाकोश (गाथासप्तशती) तैयार किया, जो ग्रामीण जीवन और सौन्दर्य-चेतना का प्रतिनिध ग्रन्थ हैं।

प्राकृत भाषा के इस जनाकर्षण के कारण कालिदास आदि महाकवियों ने अपने नाटक ग्रन्थों में प्राकृत भाषा बोलने वाले पात्रों को प्रमुख स्थान दिया। नाटक समाज का दर्पण होता है। जो पात्र जैसा जीवन जीता है, वैसा ही मंच पर प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है। समाज में अधिकांश लोग दैनिक जीवन में प्राकृत भाषा का प्रयोग करते थे। अतः उनके प्रतिनिधी पात्रों ने भी नाटकों में प्राकृत के प्रयोग से अपनी पहिचान बनायी रखी। अभिज्ञानशाकुन्तलं की ऋषिकन्या शकुन्तला, नाटककार भास की राजकुमारी वासवदत्ता, शूद्रक की नगरवधू वसन्तसेना तथा प्रायः सभी नाटकों के राजा के मित्र, कर्मचारी आदि पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि प्राकृत जनसमुदाय की भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी। वह लोगों के सामान्य जीवन को अभिव्यक्ति करती थी। इस तरह प्राकृत ने अपना नाम सार्थक कर लिया था। प्राकृत स्वाभाविक वचन- व्यापार का पर्यायवाची शब्द बन गया था। समाज के सभी वर्गों द्वारा स्वीकृत भाषा प्राकृत थी। इस कारण प्राकृत की शब्द- सम्पति दिनोंदिन बढ़ रही थी। इस शब्द-ग्रहण की प्रक्रिया के कारण एक ओर प्राकृत ने भारत की विभिन्न-भाषाओं के साथ अपनी घनिष्ठता बढ़ायी तो दूसरी ओर वह जीवन और साहित्य की अभिव्यक्ति का सशक्त माध्यम बन गयी।

लोकभाषा जब जन-जन में लोकप्रिय हो जाती है तथा उसकी शब्द-सम्पदा बढ़ जाती है तब वह काव्य की भाषा भी बनने लगती है। प्राकृत भाषा को यह सौभाग्य दो तरह से प्राप्त है। प्राकृत में जो आगम ग्रंथ, व्याख्या साहित्य, कथा एवं चरितग्रंथ आदि लिखे गये उनमें काव्यात्मक सौन्दर्य और मधुर रसात्मकता का समावेश है। काव्य की प्रायः सभी विधाओं-महाकाव्य, खंडकाव्य, मुक्तककाव्य आदि को प्राकृत भाषा ने समृद्ध किया है। इस साहित्य ने प्राकृत भाषा को लम्बे समय तक प्रतिष्ठित रखा है। अशोक के शिलालेखों के लेखनकाल से लेकर आज तक इन अपने 2300 वर्षों के साहित्यिक जीवन काल में प्राकृत भाषा ने अपने काव्यात्मक सौन्दर्य को निरन्तर बनाये रखा है। प्राकृत

काव्य की मधुरता के संबंध में कवि ने कहा है कि- ''सुगंधित एवं शीतल जल से, चतुर व्यक्तियों के वचनों से और उसी तरह प्राकृत काव्य से जो आनंद (रस) उत्पन्न होता है, (उसमें हम कभी)संतोष को प्राप्त नहीं होते हैं। अघाते नहीं हैं।'' यथा-

पाइयकव्वम्मि रसो जो , जायइ तह व छेयभणिएहिं।
उययस्स व वासिय-सीयलस्स तित्तिं न वच्चामो ।।

काव्यशास्त्रियों एवं महाकवियों ने भली भांति समझकर प्राकृत काव्य-सुषमा का गुणगान किया है। कवि कहता है कि-नये -नये अर्थो की प्राप्ति, अगाध मधुरता, काव्यतत्व की समृद्धि, सरलता एवं संसार के प्रारम्भ से लेकर अब तक की काव्य- सुषमा, यह (सब)प्राकृत में है। यथा

णवमत्थ-दंसण संनिवेस-सिसराओ बंधरिद्धीओ।
अविरालमिणमो आ-भुवणबंधमिह णवर पाययम्मि ।।

प्राकृत भाषा की इसी मधुरता और काव्यात्मकता का प्रभाव है कि भारतीय काव्यशास्त्रियों ने काव्य के अपने लक्षण-ग्रंथों में प्राकृत की सैकड़ों गाथाओं के उद्धरण दिये हैं। अनेक सुभाषितों को उन्होंने इस बहाने सुरक्षित किया है। ध्वन्यालोक की टीका में अभिनवगुप्त ने प्राकृत की जो गाथा दी है उनमें से एक उक्ति द्रष्टव्य है-

चन्दमउएहिं णिसा णलिनी कमलेहिं कुसुमगुच्छेहिं लआ।
संसेहि सरहसोहा कव्वकहा सज्जणेहिं करइ गरुडं ।।

रात्रि चन्द्रमा की किरणों से, नलिनी कमलों से, लता पुष्प के गुच्छों से, शरद हंसों से (और) काव्यकथा सज्जनों से अत्यन्त शोभा को प्राप्त होती है।

इस प्रकार काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन, भोजराज, मम्मट, विश्वनाथ, पंडितराज जगन्नाथ आदि अलंकारियों द्वारा काव्य लक्षणों के उदाहरण के लिए प्राकृत पद्यों को उद्धृत करना प्राकृत के साहित्यिक सौन्दर्य का परिचायक है। इस प्रकार वैदिक युग महावीर युग एवं उसके बाद के विभिन्न कालों में प्राकृत भाषा का स्वरूप क्रमशः स्पष्ट हुआ है और उसका महत्त्व विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ा है।

भारतीय भाषाओं के आदिकाल की जनभाषा से विकसित होकर प्राकृत

स्वतन्त्र रूप से विकास को प्राप्त हुई। बोलचाल और साहित्य के पद पर वह समान रूप से प्रतिष्ठित रही है। उसने देश की चिन्तनधारा, सदाचार और काव्य-जगत् को अनुप्राणित किया है। अतः प्राकृत भारतीय संस्कृति की संवाहक भाषा है। प्राकृत के स्वरूप की कुछ ऐसी विशेषताएँ हैं, जो प्राचीन समय से आज तक लोक-मानस को प्रभावित करती रही हैं। तभी प्राकृत कवि के इस उद्गार से सहमत होकर कहना पड़ता है कि "प्राकृत काव्य के लिए नमस्कार है और उसके लिए भी जिसके द्वारा प्राकृत काव्य रचा गया है। उनको भी हम नमस्कार करते हैं, जो प्राकृत काव्य को पढ़कर उसे हृदयंगम करते हैं"। यथा-

पाइयकव्वस्स नमो, पाइकव्वं च निम्मियं जेण।
ताहं चिय पणमामो, पढिऊण य जे वि याणन्ति॥

248. प्राकृत के महाकाव्य

प्राकृत के महाकवियों ने अपने-अपने युग के काव्यस्तर एवं प्रवृष्ठि के अनुरूप प्राकृत भाषा को काव्य एवं जीवनमूल्यों से युक्त ऐंसी सशक्त रचनाओं से समृद्ध किया है, जो अपने स्वरूप एवं लक्षणों के कारण महाकाव्य की कोटि में प्रतिष्ठित होती हैं। प्राकृत के ये महाकाव्य ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों से लेकर 16-17 वीं शताब्दी तक लिखे जाते रहे हैं। उनमें से कुछ दुर्भाग्यवश सुरक्षित नहीं रह पाये।

प्राकृत के महाकाव्य पौराणिक धरातल पर भी निर्मित हुए तो उनमें प्रेम और भक्ति को भी विस्तार प्राप्त है। वीररस और शृंगार रस के उत्कर्ष के साथ शान्तरस की साधना भी यहाँ दृष्टिगोचर होती है। कथातत्व का जहाँ संरक्षण हुआ है, वहाँ लाक्षणिक और शास्त्रीय शैली भी अपनायी गयी है। किन्तु प्रस्तुतिकरण में ग्रन्थ विभाजन में प्राकृत के महाकाव्यों ने अपनी स्वतन्त्रता भी सुरक्षित रखी है। जीवन की समग्रता और श्रेष्ठता का प्रतिपादन यदि इनमें है तो ग्राम एवं व्यक्ति जैसे घटक के वर्णन में भी कवि ने उदारता का परिचय दिया है। अतः प्राकृत के महाकाव्य सामाजिक जीवन के सच्चे प्रतिनिधि हैं। रचना-प्रक्रिया और कलात्मक प्रस्तुतिकरण, शैली आदि में प्राकृत के महाकाव्यों का संस्कृत महाकाव्यों के साथ अध्ययन-अनुसंधान का प्रयत्न भारतीय काव्य-स्वरूप को नया रूप प्रदान कर सकता है।

249. प्राकृत में संधि-समास-विधान

जब किसी शब्द में या दो शब्दों के बीच में दो वर्ण (स्वर या व्यंजन) निकट आने पर मिलते हैं तो उनके मेल से उत्पन्न होने वाले शब्द-विकार को संधि कहते हैं। यह संधि स्वर, व्यंजन और अव्ययों में होती है। प्राकृत में संधि की व्यवस्था नित्य नहीं है, वह विकल्प से होती है।

(क) स्वर संधि

अत्यन्त निकट दो स्वरों के मिलने से जो उनमें मिलाप होकर विकास उत्पन्न होता है उसे स्वर-संधि कहते हैं। इस स्वर संधि के प्राकृत में निम्न रूप देखने को मिलते हैं - (1) दीर्घ, (2) गुण (3) विकृतवृद्धि (4) ह्रस्व-दीर्घ (5) प्रकृतिभाव या संधि-निषेध एवं (6) मिलित शब्द। इनके प्रमुख उदाहरण प्रस्तुत हैं-

(क)	लोय	+	अलोय	=	लोयालोयं
	लोय	+	आयासो	=	लोयायासो
	सुद्ध	+	आदेसो	=	सुद्धादेसो
	जीव	+	अजीवा	=	जीवाजीवा
(ख)	मुणि	+	इसरो	=	मुणीसरो
(ग)	साहु	+	उवज्झाओ	=	साहूवज्झाओ

2. गुण संधि : अ या आ वर्ण के बाद यदि इ, ई, उ, ऊ वर्ण हों तो पूर्व एवं पर दोनों स्वरों के स्थान में एक गुण स्वर का आदेश होता है उसे गुण संधि कहते हैं।

यथा -	(क)	ण	+	इच्छेद	=	णेच्छदे
		जीवस्स	+	एवं	=	जीवस्सेवं
	(ख)	खर	+	उदयं	=	खीरोदयं
		जिण	+	उवदेसे	=	जिणोवदेसे

3. विकृत वृद्धि संधि

प्राकृत में मूल स्वर ए और ओ से पहले यदि अ और आ स्वर हों तो उन अ एवं आ स्वर का लोप हो जाता है और दोनों शब्द मिलकर संधि हो जाती है, जिसे विकृत वृद्धि कहते हैं। यथा-

फुल्ल	+	एला	=	फुल्लेला
जल	+	ओह	=	जलोह (जलौघः)

4. ह्रस्व-दीर्घ विधान संधि

प्राकृत में दो पदों के स्व एवं दीर्घ स्वर प्रायः परस्पर में बदलते रहते हैं। इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। उसे अभ्यास से समझना चाहिये। यथा-

(क) ह्रस्व का दीर्घ- सत्त+वीसा = सत्तावीसा

(ख) दीर्घ स्वर का ह्रस्व नई +सोत्तं = नइसोत्तं, नईसोत्तं

5. प्रकृतिभाव संधि :

प्राकृत में संधि कार्य होने की अपेक्षा संधि-निषेध की प्रवृत्ति अधिक पायी जाती है। परस्पर में मिलने वाले दो शब्द अपनी यथावत स्थिति में रह जाते हैं, उनमें मिलकर कोई विकार नहीं हाता, ऐसी स्थिति को प्रकृतिभाव संधि कहा जा सकता है। प्राकृत में इस प्रकार की स्थिति निम्नांकित रूपों में पाई जाती है-

(1) एक पद में संधि नहीं होती नई (नदी) पइ (पति) कवि (कवि)

(2) एक पद में भी कहीं-कहीं विकल्प से स्वर संधि हो जाती है। यथा-

द्वितीय = बीअ स्थविर = थेर थ + इर

चतुर्दश = चोद्दस च+उ+दस, चौदह

(3) ए और ओ के आगे कोई स्वर होने पर संधि कार्य नहीं होता। यथा-

एगे + आया, = एगेआया अहो+अच्छरियं, = अहोअच्छरियं

(4) दो व्यंजन लोप होने वाले शेष स्वरों में संधि नहीं होती। यथा-

गन्ध + कुटिं = गंधउडिं रजनी + चरः = रयणी अरो

इसके अपवाद भी हैं - कुम्भ + कारः = कुभआरो = कुंभारो

6. पूर्व स्वर लोप वाले मिलित शब्द

प्राकृत में दो शब्दों के स्वर जब समीप आते हैं तो उनमें संधिकार्य होने की अपेक्षा पूर्व स्वर का लोप हो जाता है और फिर दोनों शब्द मिलकर एक हो जाते हैं। यथा-

देव +	इंदा	= देविंदों	जिण	+इंद्रा = जिणिंदो
णर +	इंदो	= णरिंदो	देव	+ इड्ढि =देविड्ढि

अण + आहारा=अणाहारा पंच+ आचारा = पंचाचारा

(ख) अव्यय संधि अव्ययसंधि के निम्नांकित उदाहरणों उपलब्ध हैं -

केण +	अपि	=	केणवि, केणावि
कहं +	अपि	=	कहंपि, कहमवि
किं +	अपि	=	किं पि, किमवि

(ग) व्यंजन संधि

शौरसेनी प्राकृत में प्रथम शब्द के अंतिम म् को जब अनुस्वार नहीं होता तब वह बाद के स्वर के साथ मिल जाता है। यथा-

म्	+	स्वर	=	व्यंजन संधि
सक्कं	+	अणज्जो	=	सक्कमणज्जो
भावं	+	आदा	=	भावामादा
जगं	+	असेसं	=	जगमसेसं

समास-विधान

प्राकृत साहित्य में प्रयुक्त समासों को छह भागों में विभक्त कर सकते हैं-

1. अव्ययीभव 2. तत्पुरुष 3. द्विगु 4. कर्मधारय 5. बहुव्रीहि एवं 6. द्वन्द समास।

समास में सम्मिलित दो शब्दों में से प्रथम शब्द को पूर्वपद एवं दूसरे शब्द को उत्तरपद कहते हैं। उत्तरपद में रहनेवाला अव्यय जब पूर्वपद में आ जाता है और वह प्रधान अर्थ का द्योतक होता है। तब ऐसे समास पदों को **अव्ययीभाव समास** कहते हैं। ये समास क्रियाविशेषण होते हैं और नपुसंकलिंग में प्रयुक्त होते हैं। यथा-

उपगुरुं	=	सो उवगुरु चिट्टदइ	=	वह गुरु के समीप बैठता है।
अणुजिणं	=	सावगो अणुजिणं गच्छहि	=	श्रावक जिन के पीछे जाता है।
पइदिणं	=	सीसो पइदिणं पढदि	=	शिष्य प्रतिदिन पढ़ता है।
जहासत्तिं	=	मुणी जहासत्तिं तवइ	=	मुनि यथाशक्ति तप करता है।
अदिदुल्लंह	=	अदिदुल्लहं माणुस जम्म	=	मनुष्य जन्म अति दुर्लभ है।
अइपउरं	=	अइपउरं संसारदुक्खं	=	संसार के दुख बहुत अधिक हैं।

जिसमें पूर्वपद अपनी विभक्ति का लोप कर उत्तरपद के साथ मिला हो और जिसमें उत्तरपद की ही प्रधानता हो वह **तत्पुरुष समास** कहलाता है। पूर्वपद की जो विभक्ति छिपी हुई होती है उसी नाम से यह तत्पुरुष समास जाना जाता है। जैसे- द्वितीया तत्पुरुष, तृतीया तत्पुरुष आदि। इस समास में प्रथम पद विशेषण और द्वितीय पद विशेष रहता है। उसी की प्रधानता होती है। जैसे-

(1) द्वितीया त.	-इंदियातीदो झाणो	= इन्द्रियातीत ध्यान
	-सुहंपत्तो सावगो	= सुख को प्राप्त श्रावक
(2) तृतीया त.	-दयाजुत्तो मुणिवरो	= दया से युक्त मुनिवर
(3) चतुर्थी त.	-थंभकट्ठं चिणोदि	= खम्भे के लिए काष्ठ चुनता है
(4) पंचमी त.	-चरित्तभट्ठो ण सिज्झदि	= चरित्र से भ्रष्ट सिद्ध नहीं होता।
	-सीलदरिद्दा ण समणा	= शील से रहित श्रमण नहीं होते।
(5) षष्ठी त.	-धम्मालयं अप्पा	= आत्मा धर्म का निवास है।
	-कम्मपुंजं डहह	= कर्म समूह को जलाओ।
(6) सप्तमी त.	-लोगुत्तमो धमो	= लोक में उत्तम धर्म।
	-जिणोत्तमो महावीरो	= जिनों में प्रधान महावीर

तत्पुरुष समास का ही एक विकसित रूप कर्मधारय समास है। इसमें पूर्वपद विशेषण और उत्तरपद विशेष्य होता है। इसके कई भेद हैं। शौरसेनी प्राकृत में **कर्मधारय समास** के निम्न उदाहरण भी दृष्टव्य हैं -

अभयदाणं	गणधरो	इंदियचोरा
चरित्तभंडं	भवरुक्खं	बालतवं

पूर्वपद में जब संख्यावाची शब्दों का प्रयोग हो तब उसे **द्विगु समास** कहते हैं। यह समास समुदाय का बोधक होता है। यथा -

णवतत्तवं चउक्कसायं	तिलायं	चउदिसा
छदव्वाणि	अट्ठविहं अट्ठगुणा	सव्वदव्वेसु

जब समास में आये हुए पूर्व एवं उत्तरपद के सभी शब्द किसी अन्य शब्द के विशेषण हो तो उसे **बहुव्रीहि समास** कहते हैं। यथा -

गुणगंभीरा	देहविहूणा	विरत्तचित्तो
अप्पवसो	विरागसम्पण्णो	जिदभवाणं

दो या दो से अधिक संज्ञाएं एक साथ रखी गई हों और उन्हें च (य) शब्द से जोड़ा गया तब वे समान महत्त्व वाले शब्द **द्वन्द समास** कहलाते हैं। यथा–

(1)	पुण्णं य पावं य	=	पुण्णपावाणि
(2)	जीवा य अजीवा य	=	जीवाजीवा
(3)	सुहं च दुक्खं च	=	सुहदुक्खाणि

250. प्राकृत आगम कथाएँ

आगमकालीन कथाओं की प्रवृत्तियों के विश्लेषण के सम्बन्ध में डा. ए. एन. उपाध्ये का यह कथन ठीक ही प्रतीत होता है कि – 'आरम्भ में जो मात्रा उपमाएँ थीं, उनको बाद में व्यापक रूप देने और धार्मिक मतावलम्बियों के लाभार्थ उनसे उपदेश ग्रहण करने के निमित्त उन्हें कथात्मक रूप प्रदान किया गया है। इन्हीं आधारों पर उपदेश प्रधान कथाएँ वर्णात्मक रूप में या जीवन्त वार्ताओं के रूप में पल्लवित की गई है। अतः आगमिक कथाओं की प्रमुख विशेषता उनकी उपदेशात्मक और आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। किन्तु क्रमशः इसमें विकास होता गया है। उपदेश, अध्यात्म, चरित, नीति से आगे बढ़कर कुछ आगमों की कथाएँ शुद्ध लौकिक और सार्वभौमिक हो गई हैं। यही कारण है कि इन कथाओं को यदि स्वरूप मुक्त कहा जाए तो उनके साथ अधिक न्याय होगा।' आक्सफोर्ड ने आगमिक कथाओं की शैली को टेलिग्राफिक स्टाइल कहा है। किन्तु यह शैली सर्वत्र लागू नहीं होती है।

आगम ग्रन्थों की कथाओं की विषयवस्तु विविध है। अतः इन कथाओं का सम्बन्ध परवर्ती कथा–साहित्य से बहुत समय से जुड़ा रहा है। साथ ही देश की अन्य कथाओं से भी आगमो की कथाओं का सम्बन्ध कई कारणों से बना रहा है। डॉ. विन्टरनित्स ने कहा है कि श्रमणसाहित्य का विषय मात्र ब्राह्मण, पुराण और चरित कथाओं से ही नहीं लिया गया है, अपितु लोक कथाओं एवं परी कथाओं आदि से भी गृहीत हैं। प्रो. हर्टल भी जैन कथाओं के वैविध्य से प्रभावित है। उनका कहना है कि जैनों का बहुमूल्य कथा साहित्य पाया जाता है। इनके साहित्य में विभिन्न प्रकार की कथाएँ उपलब्ध हैं। जैसे – प्रेमाख्यान, उपन्यास, दृष्टान्त, उपदेशप्रद पशु कथाएँ आदि। कथाओं के माध्यम से इन्होंने अपने सिद्धान्तों को जन साधारण तक पहुँचाया है।

आगम ग्रन्थों की कथाओं की एक विशेषता यह भी है कि वे प्राय: यथार्थ से जुड़ी हुई हैं। उनमें अलौकिक तत्त्वों एवं भूतकाल की घटनाओं के कम उल्लेख हैं। कोई भी कथा वर्तमान के कथानायक के जीवन से प्रारम्भ होती है। फिर उसे बताया जाता है कि उसके वर्तमान जीवन का सम्बन्ध भूत एवं भविष्य से क्या हो सकता है। ऐसी स्थिति में श्रोता की कथा के पात्रों से आत्मीयता बनी रहती है। जबकि वैदिक कथाओं की अलौकिकता चमत्कृत तो करती है, किन्तु उससे निकटता का बोध नहीं होता है। बौद्ध कथाओं में भी वर्तमान की कथा का अभाव खटकता है। उनमें बोधिसत्व के माध्यम से बौद्ध सिद्धान्त अधिक हावी हैं। यद्यपि इन तीनों परम्पराओं में किसी प्राचीन सामान्य स्रोत से भी कथाएँ ग्रहण की गई हैं, जिसे विन्तरनित्स ने श्रमणकाव्य कहा है।

251. प्राकृत और सर्वोदय सिद्धान्त-

प्राकृत-साहित्य के आचार्यों ने केवल आत्महित का सिद्धान्त ही प्रतिपादित नहीं किया अपितु जगत् के लिए कल्याणकारी अणुव्रत-पालन के माध्यम से सर्वोदय सिद्धान्त का भी प्रतिपादन किया है। शौरसेनी प्राकृत-साहित्य में वर्णित सर्वोदयी-संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। वह वस्तुत: हृदय-परिवर्तन एवं आत्मगुणों के विकास की संस्कृति है। उसका मूल आधार मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ-भावना है। सद्गुण तो सत्साहित्य के अध्ययन, श्रेष्ठ गुणीजनों के संसर्ग, आत्म-संयमन तथा शील एवं सदाचरण से ही आ सकते हैं। इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है-

णवि देहो वंदिज्जई णवि य कुलो णवि य जादि-संतुत्तो।
को वंददि गुणहीणो ण हु समणो णेव सावगो होदि॥8 -(दंसणपाहुड)27

अर्थात् न तो शरीर की वन्दना की जाती है और न कुल की। उच्च जाति की भी वन्दना नहीं की जाती। गुणहीन की वन्दना तो करेगा ही कौन? क्योंकि न तो गुणों के बिना व्यक्ति मुनि-पद धारण कर सकता है और न ही श्रावक पद। मानवीय गुण वन्दनीय हैं। यथा-

सव्वे विय परिहीणा रूवविरूवा वि पडिद-सुवया वि।
सीलं जेसु सुसीलं सुजीविदं माणुसं तेसिं॥ - (सीलपाहुड 18)

अर्थात् भले ही कोई हीन जाति का हो, सौन्दर्य- विहीन कुरूप हो, विकलांग

हो, झुरियों से युक्त वृद्धावस्था को भी प्राप्त क्यों न हो – इस सभी विरूपों के होने पर भी यदि वह उत्तम शील का धारक हो तथा यदि उसके मानवीय गुण जीविक हों, तो उस विरूप एवं हीन जातिवाले का भी मनुष्य-जन्म श्रेष्ठ एवं वन्दनीय है।

252. प्राकृत और छान्दस्

वैदिक युग से महावीर युग तक भारत में अनेक जनबोलियाँ प्रचलित रही हैं जिन्हें 'प्राकृत' के रूप में जाना गया है और उस समय की साहित्यिक भाषा को 'छान्दस्' कहा गया है। इस समय जनबोलियों की बहुलता और प्रभाव के कारण वैदिक भाषा छान्दस् और अन्य साहित्यिक-कृतियों की भाषा में भी 'देशी' शब्दों का बाहुल्य बढ़ने लगा था। भाषा अनियमित हो चली थी। उसमें विकल्प रूपों का प्रयोग होने लगा था। क्योंकि साहित्यिक भाषा की मूल भाषा प्राकृत थी। भाषा की इस अस्थिरता के कारण साहित्यिक भाषा छान्दस् को संस्कारित, नियमित करने का प्रयत्न पाणिनि आदि वैयाकरणों द्वारा हुआ। क्योंकि शब्द की सुरक्षा और शुद्धता वैदिक संस्कृति क प्रमुखता थी। इस प्रकार के प्रयत्नों से तत्कालीन साहित्यिक भाषा पर ही व्याकरण का अंकुश नहीं लगा, अपितु प्राकृत भाषाएँ भी प्रायः व्यवस्थित रूप से प्रयोग में आने लगी होंगी। तभी वे आगे चलकर आगमों, सिद्धान्त ग्रंथों और काव्यों, नाटकों की प्रमुख भाषा बन सकीं।

253. प्राकृत अपभ्रंश का दाय : क्षेत्रीय भाषाएं

जब लोकभाषाएँ साहित्य में रूढ़ हो जाती हैं तब जन समान्य में नई लोकभाषा का व्यवहार होने लगता है। इस प्रकार लोकभाषाएँ विकसित होती रहती हैं। प्राकृत अपभ्रंश के साथ भी यही हुआ। प्राकृतों में कृत्रिमता आ जाने से तथा साहित्य तक सीमित होने से अपभ्रंश भाषा उदय में आई थी। जब अपभ्रंश का साहित्य में सर्वाधिक प्रयोग होने लगा तथा वह नियमबद्ध होने लगी तो आगे चलकर लोक में अन्य क्षेत्रीय भाषाएँ पनपने लगीं। आधुनिक आर्य भाषाओं ने प्राकृत संस्कृत के गुणों को अपनाकर अपभ्रंश के प्रभाव से अपने को अधिक स्पष्ट और सरल बनाया है। उनमें प्राकृत, संस्कृत अपभ्रंश इन तीनों की विशेषताएँ एकत्र हुई हैं। किन्तु लोक-भाषा होने के कारण प्राकृत और अपभ्रंश का दाय उनके विकास में अधिक है। यह संक्रान्ति काल की कुछ रचनाओं के अध्ययन से जाना जा सकता है।

संक्रान्ति काल की कुछ रचनाएँ इस बात की सबल प्रमाण हैं कि प्राचीन अपभ्रंश आदि में नवीन भाषाओं का कैसे समिश्रण हो रहा था। अब्दुल रहमान के **सन्देशरासक** में स्वर संकोच होने लग गया था। संयुक्त व्यंजनों में से प्रायः एक ही सुरक्षित रखा जाता था। जैसे उच्छवास, उस्सास, उसास आदि। इसी तरह **प्राकृतपेंगलम्** एवं **पुरातनप्रबन्धसंग्रह** की भाषा क्रमशः अपभ्रंश की स्थिति को छोड़ती हुई लोकभाषाओं की ओर बढ़ रही थी। पश्चिमी हिन्दी गुजराती और राजस्थानी भाषाओं के बीज इनमें देखे जा सकते हैं।

उक्तिव्यक्तिप्रकरणम् की भाषा में काशी, कोशल प्रदेश की काव्य भाषा के स्वरूप का प्रमाणिक परिचय मिलता है। विशेषकर अवधी भाषा का प्राचीन रूप इनमें देखा जा सकता है। इस ग्रन्थ की भाषा में आधुनिक भारतीय भाषाओं को जन्म देने वाली सामान्य प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं। **वर्ण रत्नाकर** मैथिली का प्रचीनतम् उपलब्ध ग्रन्थ है। इसकी भाषा में मैंथिली के प्राचीनतम रूप तो सुरक्षित हैं ही बंगला मगही और भोजपुरी भाषाओं के प्राचीन रूपों पर भी इससे प्रकाश पड़ता है। **कीर्तिलता** नामक अवहट्ठ भाषा का ग्रन्थ इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। **चर्यापद** की भाषा की कुछ विशेषताएँ बंगला के विकास पर प्रकाश डालती हैं। बंगला तथा पूर्वी भारत की अन्य भाषाएँ असमिया, उडिया आदि मागधी प्राकृत व अपभ्रंश की प्रवृत्तियों से अधिक प्रभावित हैं। **ज्ञानेश्वरी** की भाषा में मराठी आदि भाषा का प्राचीन रूप देखने को मिलता है, जो महराष्ट्री प्राकृत से विकसित माना जाता है।

254. प्राकृत और कन्नड़, तमिल, तेलगु

केवल मराठी ही नहीं अपितु दक्षिण भारत की अन्य भाषाएँ भी प्राकृत के प्रभाव से अछूती नहीं हैं। यद्यपि उनमें संस्कृत के शब्दों की अधिकता है तथापि उन्होंने लोक-भाषाओं से भी शब्दों का संग्रह किया है। दक्षिण की कन्नड़, तमिल, तेलगु, मलयालम आदि भाषाओं में प्राकृत के तत्त्व विषय को लेकर स्वतन्त्रा अनुसन्धान की आवश्यकता है। कुछ विद्वनों ने इस विषय पर कार्य भी किया है। इन भाषाओं में प्रयुक्त प्राकृत से विकसित कुछ शब्द इस प्रकार हैं-

प्राकृत	कन्नड़	अर्थ
ओलग्ग	ओलग, ओलगिसु	सेवा करना
करडा	करडे	करटा
कण्दल	कद	मारना, लड़ाई
कुरर	कुरी, कुरब	भेड़, गडरिया
कोट्ट	कोटे	किला
चबेड	चप्पालि	ताली मारना
देसिय	देशिक	पथिक
धगधग	धागधिसु	तेजी से चलना
पल्लि	पल्ली, हल्ली	गाँव
पुल्लि	पुलि, हुलि	बाघ
पिसुण	पिसुणिअ	कहना

प्राकृत	तमिल	अर्थ
अक्क	अक्का	माँ
कडप्प	कलप्पइ	समूह
कुरर	कोरि	भेड
कोट्ट	कोट्टई	किला
पिल्लम	पिल्लइ	पशु का छोटा बच्चा

प्राकृत	तेलगु	अर्थ
कडप्पु	कलपे	समूह
कुरूलु	कुरुलु	घुंघराले बाल
चबेड	चप्पट	ताली बजाना
डोम्बि	डोमे	भंगिन
पुल्लि	पिलि	बाघ

255. प्राकृत और मध्यदेशीय भाषायें

आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विकासक्रम में मध्यप्रदेश की लोक भाषाओं का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों का मध्यप्रदेश में अधिक प्रसार था। अतः यहाँ विकसित होने वाली बुन्देली, कन्नौजी, ब्रजभाषा, अवधि, बघेली एवं छत्तीसगढ़ी बोलियों पर इनका प्रभाव अधिक है। ये बोलियाँ पश्चिमी और पूर्वी हिन्दी की उपभाषाएँ हैं। इनमें रचित साहित्य प्राकृत और अपभ्रंश की प्रवत्तियों से अछूता नहीं है। बोलचाल की भाषाओं में भी मध्युगीन आर्य-भाषाओं का प्रभाव नजर आता है। इस दशा में समग्ररूप से अध्ययन किया जाना अभी अपेक्षित है। बुन्देली भाषा के कतिपय शब्द द्रष्टव्य हैं-

प्राकृत	**बुन्देली**	**अर्थ**
गोणी	गौन, गोनी	2 मन वजन की बोरी
चंगेड़ा	चंगेरी	डलिया
चिल्लरी	चिलरा	जूँ
चूल्लि	चूला-चूलैया	चूल्हा
चौप्पड	चूपड़ा	लगाया हुआ
छेलि	छिरियाँ	बकरी
जोय	जोहना	देखना
जोहार	जुहार	नमस्ते करना
डगलक	डिगला	ढेला
ढोर	ढोर	पशु
तितत	तीतो	गीला

प्राकृत और मराठी

दक्षिण भारत में महाराष्ट्र में प्राचीन समय में ही संस्कृत और प्राकृत का प्रभाव रहा है। महाराष्ट्री प्राकृत चूंकि लोकभाषा थी अतः उसने आगे आने वाली अपभ्रंश और आधुनिक मराठी को अधिक प्रभावित किया है। प्राकृत और महाराष्ट्री भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कई विद्वानों ने प्रस्तुत किया है। यद्यपि महाराष्ट्री प्राकृत ही मराठी भाषा नहीं है। उसमें कई भाषाओं की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण है।

फिर भी प्राकृत के तत्त्व मराठी में अधिक हैं। जो शब्द 5-6वीं शताब्दी के प्राकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त होते थे वे भी आज की मराठी में सम्मिलित हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि प्राकृत और मराठी का सम्बन्ध बहुत पुराना है- भाषा और क्षेत्र दोनों की दृष्टि से। मराठी के वे कुछ शब्द यहाँ प्रस्तुत हैं जो प्राकृत साहित्य में भी प्रयुक्त हुए हैं तथा जिनके दोनों में समान अर्थ हैं।

प्राकृत	मराठी	अर्थ
अणिय	अणिया	अग्रभाग
अंगोहलि	आंघोल	गले तक का स्नान
उन्दर	उन्दीर	चूहा
कच्छोट्ट	कासोटा	कटिवस्त्र
करवती	करवत	करवा
कोल्लुग	कोल्हा	गीदड़
गार	गार	पत्थर
गुड़िया	गुटी तोटण	घोड़ा
जल्ल	जाल	शरीर का मैल
दद्दर	दादर	सीढ़ी
दौद्धिअ	दूधी	लौकी
नेऊण	नेऊन	ले जाकर
मेहुण	मेदणा	साला
सुणह	षून	बहू

256. प्राकृत और पश्चिमी भाषाएँ

आधुनिक आर्य भाषाओं और बोलियों के वर्गीकरण तथा उनके प्राचीन रूप के अध्ययन अनुसन्धान में डॉ. ग्रियसेन और डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी के मत उल्लेखनीय माने जाते हैं। अन्य विद्वानों ने भी इस विषय पर कार्य किया है। पश्चिमी भारत की आधुनिक भाषाओं में सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी और गुजराती प्रमुख हैं। सिन्ध के ब्राचड़ प्रदेश में बोली जाने वाली अपभ्रंश से सिन्धी भाषा का

विकास माना जाता है। कैकय प्रदेश की अपभ्रंश से पश्चिमी पंजाबी, लहंदी, मुल्तानी का तथा टक्क अपभ्रंश से पूर्वी पंजाबी भाषा का विकास स्वीकार किया है। किन्तु अभी तक सिन्धी एवं पंजाबी भाषाओं का प्राकृत अपभ्रंश के साथ विशेष अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया गया है। प्राकृत ग्रन्थों में इन देशों के व्यापारियों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। उद्योतनसूरि ने कुवलयमालाकहा में सैन्धव और टक्क देश के व्यापारियों की भाषा के शब्दों की बानगी भी प्रस्तुत की है।

प्राकृत और राजस्थानी – जिसे आज राजस्थानी कहा जाता है वह भाषा नागर अपभ्रंश से उत्पन्न मानी जाती है, जो मध्यकाल में पश्चिमोत्तर भारत की काव्यभाषा थी। राजस्थानी भाषा के क्षेत्र और विविधता को ध्यान में रखकर इसकी जनक भाषा को सौराष्ट्र अपभ्रंश तथा गुर्जरी अपभ्रंश भी कहा जाता है। क्योंकि राजस्थानी का सम्बन्ध बहुत समय तक गुजराती भाषा से बना रहा है। राजस्थानी भाषा के अन्तर्गत जो बेलियाँ हैं हाडौती, दूढारी, मेवाड़ी और मारवाड़ी आदि उन सब पर प्राकृत एवं एवं अपभ्रंश का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। ध्वनिपरिवर्तन और व्याकरण दोनों की दृष्टि से राजस्थानी मध्ययुगीन भाषाओं से प्रभावित है।

राजस्थानी के संज्ञा रूपों की रचना पर प्राकृत का सीधा प्रभाव है। प्राकृत में प्रथम विभक्ति के एक वचन के अकार को ओकार होता है। राजस्थानी में भी यही प्रवृत्ति उपलब्ध है। यथा- घोड़ों, छोरो आदि। प्राकृत अपभ्रंश की भाँति राजस्थान में भी विभक्तियों की संख्या कम हो गई है।

प्राकृत के सर्वनामों की संख्या अपभ्रंश में कम हो गई थी। अपभ्रंश से बहुत से सर्वनाम राजस्थानी में यथावत् अपना लिये गये हैं। प्राकृत और अपभ्रंश का हूं हउं (मैं) राजस्थानी में खूब प्रचलित है। यथा- हउं कोसीसा कैत, हूं पापी हेकलौ आदि।

इसी तरह अपभ्रंश के कांइ (क्या) का प्रयोग राजस्थानी में अधिक होता है। काइं छै (ढंढारी), कइं है (मेवाड़ी) आदि का प्रयोग द्रष्टव्य है। राजस्थानी भाषा की अनेक धातुएँ एवं अपभ्रंश से ग्रहीत हैं। उनमें बहुत थोड़ा परिवर्तन हुआ है। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्रियाएँ दृष्टव्य हैं। यथा-

प्राकृत	राजस्थानी	अर्थ
घडइ	घडै	बनाता है
जांचइ	जांचै	मांगता है
खण्डई	खांडै	तोडता है
धारइ	धारै	धारता है
किदो	कीधौ	किया
होसइ	होसी	होगा

इसी प्रकार राजस्थानी भाषा में ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त होते हैं, जो थोड़े से ध्वनि- परिवर्तन के साथ प्राकृत व अपभ्रंश से ग्रहण कर लिये गये हैं।

प्राकृत और गुजराती - गुजराती और राजस्थानी में घनिष्ट सम्बन्ध रहा है। इन पर मध्य देश की शौरसेनी प्राकृत व अपभ्रंश का अधिक प्रभाव है। एल. पी. टेसीटरी ने गुजराती और राजस्थानी के स्वरूप आदि पर विशेष प्रकाश डाला है तथा उन पर प्राकृत के तत्त्वों को स्पष्ट किया है। प्राकृत और गुजराती के कुछ समान शब्द इस प्रकार हैं ।

प्राकृत	गुजराती	अर्थ
अंगोहलि	अंघोल	शरीर का स्नान
उत्थल	उथल-पाथल	उलट - फेर
ओइल्ल	ओलबु	ओढनी
उण्डा	उण्डा	गहरा
कटु	काठु	बदनाम, बुरा
गहिल्ल	गहिल	मन्दबुद्धि, घेलु
डबब	डाबु	बांया
लीट	लीटी	रेखा

गुजराती के बहुत से सर्वनाम भी अपभ्रंश से सीधे आये हैं। हेमचन्द्र के अनुसार अपभ्रंश में कथं तथा केथा को एम और इम आदेश होते हैं। जैसे - केम समप्पउ तुज्झ दिणं । गुजराती के केम छे, एम छे आदि

257. प्राकृत और पूर्वी भाषाएँ

पूर्वी भाषाएँ में इस समय कई भाषाएँ प्रचलित हैं। उनमें भोजपुरी, मगही, मैथिली, उडिया, बंगाली और असमिया प्रमुख हैं। इनमें कई विधाओं में साहित्य भी लिखा गया है। तथा ये बोल-चाल की भी भाषाएँ हैं। इन भाषाओं का विकास जिस क्षेत्र में हुआ है वहाँ प्राचीन समय से प्राकृत व अपभ्रंश बोली जाती रही है, जिसे मागधी व अर्धमागधी कहा जाता था। अत: स्वाभाविक रूप से ये भाषाएँ मागधी प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित होकर विकसित हुई हैं। इनका व अपभ्रंश से क्या और कितना सम्बन्ध है, तुलनात्मक दृष्टि से कुछ साम्य-वैषम्य यहाँ दृष्टव्य है-

प्राकृत और भोजपुरी - बिहार में बोली जाने वाली भाषाओं में भोजपुरी प्रमुख है। यद्यपि इसके बोलने वाले विभिन्न प्रान्तों में भी निवास करते हैं। भोजपुरी के व्याकरण एवं भाषा एवं वैज्ञानिक तत्त्वों के अध्ययन के आधार पर इस भाषा का सम्बन्ध अर्धमागधी प्राकृत के साथ अधिक दृढ़ होता है। इस भाषा में प्राकृत तत्त्वों की प्रचरता है। संक्रान्तिकाल के जो ग्रन्थ उपलब्ध हैं उनमें भी भोजपुरी के उदाहरण प्राप्त होते हैं। ध्वनितत्व की दृष्टि से भोजपुरी में प्राकृत के समान निम्न विशेषताएँ पाई जाती हैं -

(1) ह्रस्व स्वरों का दीर्घ और दीर्घ का ह्रस्व हो जाना। यथा- जीहा-जीभ, चक्क-चाक, आआस- अकास।

(2) ऋ ध्वनि का विभिन्न स्वरों में परिवर्तन। यथा-किसन-किसुन, मच्चु-मिरतु, माय-मतरी।

(3) अकारण अनुनासिक प्रवृत्ति का पाया जाना। यथा- गाम-गाँव, महिषी - भइंस।

(4) विभिन्न वर्णों के स्थान पर दूसरे वर्णों का प्रयोग।

यथा शकुन-सगुन, किस्सा-खिस्सा, केला-केरा।

भोजपुरी भाषा में ध्वनितत्व के अतिरिक्त व्याकरण की दृष्टि से भी प्राकृत की प्रवृत्तियाँ पाई जाती हैं। भोजपुरी के संज्ञारूपों की रचना पर प्राकृत का स्पष्ट

प्रभाव है तथा विभक्ति-लोप के साथ परसर्गों का प्रयोग अपभ्रंश के प्रभाव से इसमें आया है। षष्ठी विभक्ति में भोजपुरी में जो परसंग जोड़े जाते हैं, वे प्राकृत के हैं।

यथा- **उनकरा काम भी करत अइव।**

तो काम से हमरा अलग रहिता।

यहाँ करा और हमरा क्रमशः प्राकृत की कर धातु और अम्हारा आदि शब्दों से आये प्रतीत होते हैं। भोजपुरी के सर्वनामों का प्राकृत से सीधा सम्बन्ध है। वैकल्पिक रूपों का पाया जाना प्राकृत की ही प्रवत्ति है। कुछ सर्वनाम दृष्टव्य हैं-

प्रा. - मए तु तुम्ह तुम्हाण अप्पाणं।

भो. - मयं तु तहें तोहनी अपने।

भोजपुरी भाषा की क्रियाओं में भी प्राकृत के तत्त्व उपलब्ध हैं। अधिकांश धातुओं का मूल प्राकृत धातुएं हैं। यथा- कूटे > कुट्ट, काढ > कड्ढ, चक् > चुक्क, डूब > डुब्ब, सीडापा > सिज्झ आदि। भोजपुरी में प्राकृत के समान ही वर्तमान, भूत, भविष्यत्, आज्ञाविधि और संभावना ये पांच काल होते हैं। भोजपुरी की क्रियाएं प्राकृत की भाँति ही सरल हैं। प्राकृत के अनेक शब्द भोजपुरी में स्वीकार कर लिये गये हैं। कुछ शब्द प्राकृत के प्रत्ययों को जोड़कर बनाये गये हैं तथ कुछ शब्द सीधे ले लिए गये हैं। यथा-

भोजपुरी	अर्थ		प्राकृत का प्रत्यय
इनकरा	इन	करा	केर
गमइ	गम	इ	
इल्ल	घरेलु	घर	एलु आल
कहत	कह	अत	अन्त
डरावन	डर	आवन	आप्पण
करतव	कर	तव	तव्व

प्राकृत और मैथिली - मिथिला के आस-पास के क्षेत्रों में बोली जाने वाली भाषा मैथिली के रूप में प्रसिद्ध हुई है। वर्तमान में साहित्य की दृष्टि से भी यह समृद्ध

भाषा है। इसका विकास भी मागधी अपभ्रंश से हुआ है। भोजपुरी की भाँति मैथिली में भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह संस्कृत से भी प्रभावित है। मैथिली के स्वर और व्यंजनों के कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं, जिनमें प्राकृत की विशेषताएँ स्पष्ट हैं।

संस्कृत	**प्राकृत**	**मैथिली**
कत्यगृह	कच्चहरिअ	कचहरी
कर्दम	कद्दम	कादों
श्रृणोति	सुणइ	सुन्तव
द्रक्ष्यति	देक्खति	देखव
लोहकार	लोहाल	लौहार
शेवाल	सेवाल	सेमर

प्राकृत और उड़िया – उड़िया प्राचीन उत्कल अथवा वर्तमान उड़ीसा की भाषा है। बंगला से इसका घनिष्ट संबंध है। विद्वानों का मत है कि लगभग 14वीं शताब्दी में यह बंगला से पृथक हो गई होगी। मागधी अपभ्रंश की पूर्वी शाखा से उड़िया व बंगला का विकास हुआ माना जाता है। उड़िया में भी प्राकृत की सामन्य प्रवत्तियाँ उपलब्ध होती हैं। यथा–

(1) ऋकार का इ में परिवर्तन

श्रृगाल › सिआल सिआल, हृदय › हिअअ हिआ

(2) ऐ का ए में परिवर्तन–

वैद्य › वेज्ज, वेज, तैल › तैल्लं, तेल

(1) दीर्घ स्वरों का प्रयोग –

भक्त › भत्त, हस्त › हत्थ हाथ

(1) ख, घ, थ, घ, फ, भ, का ह में परिवर्तन–

संस्कृत	**प्राकृत**	**उड़िया**
मुख	मुह	मुह

सखी	सही	सही
लघुक	लहुक	हालु

(11) संयुक्त व्यन्जनों का सरलीकरण–

ग्राम	गाम	गा
ध्वनि	धणि	धई
स्थान	ठाण	ठा
स्तन	थण	थन

उड़िया की क्रियाओं में प्राकृत से थोड़ा अन्तर है। किन्तु उनका विकास अपभ्रंश के माध्यम से हुआ है। क्रियाओं एक वचन बहुवचन से ही सम्बन्धित है।

इस प्रकार उड़िया भाषा व्याकरण और ध्वनि तत्त्वों की दृष्टि से प्राकृत अपभ्रंश के अधिक नजदीक हैं। बंगला और असमिया आदि भाषायें भी मध्ययुगीन आर्य भाषाओं से पर्याप्त प्रभावित हैं।

258. प्राकृत और हिन्दी

आधुनिक भारतीय आय–भाषाओं में हिन्दी का प्रमुख स्थान है। देश के अधिकांश लोगों द्वारा यह बोली जाती है। राष्ट्रभाषा होने का गौरव इसे प्राप्त है। देश के विभिन्न भागों और भाषाओं की सम्पर्क भाषा होने के कारण हिन्दी में विभिन्न भाषाओं के शब्द भी सम्मिलित हो गये हैं। संस्कृत के शब्द भी इसमें ग्रहीत किये गये हैं, किन्तु हिन्दी में प्राकृत अपभ्रंश जैसी लोक–भाषाओं के शब्द भी कम नहीं हैं। यदि इन शब्दों की जानकारी हो तो हिन्दी के हरेक शब्द की व्युत्पत्ति के लिए संस्कृत पर निर्भर नहीं रहना पड़ेगा। हेमचन्द्र की देशीनाममाला तथा प्राकृत अपभ्रंश के अन्य ग्रन्थों के वे कुछ शब्द यहाँ उद्धृत हैं जो हिन्दी में सीधे ग्रहण कर लिये गये हैं तथा उनके अर्थ में भी कोई परिवर्तन नहीं आया है।

प्राकृत	**हिन्दी**	**प्राकृत**	**हिन्दी**
अक्खाड	अखाडा	चिडिय	चिडिया
अरहट्ट	रहट	चारो	चारा
उक्खल	ओखली	चुल्लि	चुल्हा
उल्लुटं	उलटा	चोक्ख	चोखा

कक्कडी	ककडी	छइल्लो	छैला
कहारो	कहार	छल्लि	छाल
कोइला	कोयला	झमाल	झमेला
कुहाड	कुहाडा	झाड	झाड़
खट्टीक	खटीक	झंझडिया	झंझट

हिन्दी भाषा में प्राकृत शब्द ही नहीं ग्रहण किये गये हैं, अपितु बहुत सी हिन्दी की क्रियाएँ भी प्राकृत की हैं। तुलनात्मक दृष्टि से कुछ क्रियाएँ द्रष्टव्य हैं।

प्राकृत	**हिन्दी**	**प्राकृत**	**हिन्दी**
उड्ड	उडना	झिल्लिअ	झेलना
कड्ड	काढना	देक्ख	देखना
कुद्द	कूदना	बुज्झ	बुझना
कुट्ट	कूटना	पिट्ट	पीटना
खेल्ल	खेलना	भिडइ	भिडना
खुद्द	खोदना	बोल्ल	बोलना

शब्द और धातुओं के अतिरिक्त प्राकृत की अन्य प्रवृत्तियाँ भी हिन्दी में परिलक्षित होती हैं। द्विवचन का प्रयोग नहीं होता, संयुक्त व्यंजनों में सरलीकरण है। विभक्तियों का अदर्शन तथा परसर्गों का प्रयोग प्राकृत अपभ्रंश के प्रभाव से हिन्दी में होने लग गया है। किसी भी जनभाषा के लिए इन प्रवृत्तियों से गुजरना स्वाभाविक है। वही हिन्दी भाषा जन-जन तक पहुँच सकती है, जो सुगम और सुबोध हो।

इस प्रकार प्राकृत विभिन्न कालों और क्षेत्रों की भारतीय भाषाओं को निरन्तर प्रभावित करती रही है। आधुनिक भारतीय भाषाओं की संरचना और शब्द तथा धातुरूपों पर भी प्राकृत का स्पष्ट प्रभाव है। यह उसकी सरलता और जन भाषा होने का प्रमाण है। न केवल भारतीय भाषाओं के विकास में अपितु इन भाषाओं के साहित्य की विभिन्न विधाओं को भी प्राकृत अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य ने पुष्ट किया है। यह इस बात का प्रतीक है कि राष्ट्रीय एकता के निर्माण

में भाषा कितना महत्त्वपूर्ण माध्यम होती है। संस्कृति की सुरक्षा भाषा की उदारता पर ही निर्भर है। प्राकृत अपभ्रंश भाषाएँ इस क्षेत्र में अग्रणी रही हैं। उन्हीं का प्रभाव आज की भारतीय भाषाओं में है।

259. प्राकृत का समृद्ध युग

ईसा की दूसरी से छठी शताब्दी तक प्राकृत भाषा का प्रयोग निरन्तर बढ़ता रहा अतः इसे प्राकृत भाषा ओर साहित्य का समृद्ध युग कहा जा सकता है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में इस समय प्राकृत का प्रयोग होने लगा था। महाकवि भास ने अपने नाटकों में प्राकृत को प्रमुख स्थान दिया। कालिदास ने पात्रों के अनुसार प्राकृत भाषाओं के प्रयोग को महत्त्व दिया। इसी युग के नाटककार शूद्रक के विभिन्न प्राकृतों का परिचय कराने के उद्देश्य से मृच्छकटिकं प्रकरण की रचना की। यह लोकजीवन का प्रतिनिधि नाटक है। अतः उसमें प्राकृत के प्रयोग में भी विविधता है।

इसी युग में प्राकृत में कथा, चरित, पुराण एवं महाकाव्य आदि विधाओं में ग्रन्थ लिखे गये। उनमें जिस प्राकृत का प्रयोग हुआ उसे सामान्य प्राकृत कहा जा सकता है। क्योंकि तब तक प्राकृत ने एक निश्चित स्वरूप प्राप्त कर लिया था, जो काव्यलेखन के लिए आवश्यक था। प्राकृत के इस साहित्यिक स्वरूप को महाराष्ट्री प्राकृत कहा गया है इसी युग में गुणाढ्य ने बृहत्कथा नामक कथा ग्रन्थ प्राकृत में लिखा, जिसकी भाषा पैशाची प्राकृत कही गयी है। इस तरह नाटक और साहित्य में प्रमुख रूप से जिन चार प्राकृत भाषाओं का प्रयोग हुआ है वे हैं– 1. शौरसेनी 2. मागधी 3. महाराष्ट्री और 4. पैशाची। इन चारों प्राकृतों का स्वरूप प्राकृत के वैयाकरणों ने अपने ग्रन्थों में स्पष्ट किया है।

260. प्राकृत के प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ

यह भी कहा जाता है कि पाणिनि ने स्वयं भी एक प्राकृत–व्याकरण की रचना की थी और महर्षि वाल्मीकि ने भी प्राकृत–सूत्र लिखे थे। इसी प्रकार चन्द्र-कृत प्राकृत–भाषान्तर विधान कात्यायन–कृत प्राकृत–मंजरी, तथा भामह–कृत

प्राकृत–चन्द्रिका नामक रचनाओं के भी संकेत मिलते हैं। किन्तु दुर्भाग्य से आज वे सभी रचनायें उपलब्ध नहीं हैं। भले ही वे आज अप्राप्य हैं, किन्तु उक्त उल्लेखों से यह धारणा अवश्य बनती है कि ईसा–पूर्व की कुछ सदियों से लेकर परवर्ती कुछ सदियों तक बहुलमात्रा में शाकल्य को आदर्श मानकर प्राकृत के कुछ व्याकरण–ग्रन्थ लिखे गए होंगे।

261. प्राकृत के अन्य संस्थान एवं विभाग

प्राकृत एवं जैनविद्या के अध्ययन, अनुसंधान, शिक्षण में संलग्न देश में अन्य संस्थान एवं विभाग भी हैं। उनके पूर्ण विवरण उपलब्ध न होने से उनका यहाँ उल्लेख नहीं हो पाया है। जैनालाजी एवं प्राकृत विभाग मैसूर, जैनालाजी विभाग धारवाड़, पालि–प्राकृत विभाग अहमदाबाद, पालि–प्राकृत विभाग, नागपुर, जैन अध्ययन केन्द्र, जयपुर, प्राकृत और जैनागम विभाग वाराणसी, जैनदर्शन विभाग वाराणसी, जैनदर्शन विभाग नई दिल्ली, संस्कृत–प्राकृत विभाग आरा, वीरसेवा मंदिर नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, प्राकृत विद्या विकास फण्ड, अहमदाबाद, गणेश प्रसाद वर्णी संस्थान, वाराणसी, प्राकृत परीक्षा बोर्ड, पाथर्डी (अहमदाबाद), सन्मति तीर्थ पूना, प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, दिल्ली आदि विभागों और संस्थानों का भी प्राकृत और जैनविद्या के विकास में महत्ती भूमिका रही है। इनके प्रकाशनों का भी विशेष महत्त्व है।

262. प्राकृतानुशासन (पुरुषोत्तम)

प्राकृतानुशासन के कर्त्ता पुरुषोत्तम आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन थे। ये बंगाल के निवासी थे। इन्होंने प्राकृत व्याकरणशास्त्र की पूर्वीय शाखा का प्रतिनिधित्व किया है। पुरुषोत्तम 12वीं शताब्दी के वैयाकरण हैं। उन्होंने प्राकृत अनुशासन नाम का प्राकृत व्याकरण लिखा है। इस ग्रन्थ के 3 से लेकर 20 अध्याय उपलब्ध हैं। प्रथम दो अध्याय लुप्त हैं। तीसरा अध्याय भी अपूर्ण है। प्रारंभिक अध्यायों में सामान्य प्राकृत का विवेचन है। आगे महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती एवं मागधी का अनुशासन किया गया है। इसके पश्चात् विभाषाओं में शाकारी,

चांडाली, शाबरी, टक्कदेशी का नियमन किया गया है। अपभ्रंश में नागर, ब्राचड एवं उपनागर का तथा अन्त में कैकय, पैशाचिक, शौरसेनी-पैशाचिक आदि भाषाओं के लक्षण प्रस्तुत किये गये हैं।

यह ग्रन्थ 1938 में पेरिस से प्रकाशित हुआ है। एल. नित्ती डौल्ची ने महत्त्वपूर्ण फ्रैन्च भूमिका के साथ इसका सम्पादन किया है। 1954 में डॉ. मनमोहन घोष ने अंग्रेजी अनुवाद के साथ मूल प्राकृतानुशासन को प्राकृत कल्पतरू के साथ (पृ. 156-169) परिशिष्ट 1 में प्रकाशित किया है।

प्राकृतानुशासन में तीन से लेकर बीस अध्याय हैं। तीसरा अध्याय अपूर्ण है। प्रारम्भिक अध्यायों में सामान्य प्राकृत का निरूपण है। नौवें अध्याय में शौरसेनी तथा दसवें में प्राच्या भाषा के नियम दिये गये हैं। प्राच्या को लोकोक्तिबहुल बनाया गया है। ग्याहरवें अध्याय में अवन्ती और बारहवें में मागधी प्राकृत का विवेचन है। इसकी विभाषाओं में शाकारी, चांडाली, शाबरी और टक्कदेशी का अनुशासन किया गया है। उससे पता चलता है कि शाकारी में 'क' और टक्की में उद् की बहुलता पाई जाती है। इसके बाद अपभ्रंश में नागर, ब्राचड, उपनागर आदि का नियमन है। अन्त में कैकय, पैशाचिक और शौरसेनी पैशाचिक भाषा के लक्षण कहे गये हैं।

263. प्राकृत पैंगलम्

प्राकृत पैंगलम् छन्दशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण संग्रह ग्रन्थ है। इसके संग्रहकर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है। विभिन्न साक्ष्यों के आधार पर इसका रचनाकाल 13वीं-14वीं शताब्दी के लगभग माना गया है। इस छंद-ग्रन्थ में पुरानी हिन्दी के आदिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त वर्णिक एवं मात्रिक छंदों का विवेचन किया गया है। यह ग्रन्थ दो परिच्छेदों में विभक्त है। प्रथम परिच्छेद में मात्रिक छंदों का तथा द्वितीय परिच्छेद में वर्णवृत्तों का विवेचन है। इस छन्द ग्रन्थ में प्रयुक्त उदाहरण काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से अत्यंत समृद्ध हैं। इस ग्रन्थ में मेवाड़ के राजपूत राजा हम्मीर की वीरता का सुन्दर चित्रण है। यथा – गाहिणी छन्द में हम्मीर की वीरता

का यह पद्य दृष्टव्य है –

मुंचहि सुंदरि पाअं अप्पहि हसिऊण सुमुहि खग्गं मे।

कप्पिअ मेच्छशरीरं पेच्छइ वअणाइँ तुम्ह धुअ हम्मीरो॥ (गा. 71)

अर्थात् – युद्ध भूमि पर जाता हुआ हम्मीर अपनी पत्नी से कह रहा है – हे सुन्दरी! पाँव छोड़ दो, हे सुमुखी! हँसकर मुझे तलवार दो। म्लेच्छों के शरीर को काटकर हम्मीर निःसंदेह तुम्हारे मुख के दर्शन करेगा। अवहट्ट का प्रयोग इस ग्रन्थ में बहुत मिलता है। मध्य-युगीन छंदशास्त्रियों ने इस ग्रन्थ की परम्परा का पूरा अनुकरण किया है।

264. प्राकृत प्रकाश : वररुचि

प्राकृत वैयाकरणों में चण्ड के बाद वररुचि प्रमुख वैयाकरण है। प्राकृत प्रकाश में वर्णित अनुशासन पर्याप्त प्राचीन है। अतः विद्वानों ने वररुचि को ईसा की चौथी शताब्दी के लगभग का विद्वान् माना हैं। विक्रमादित्य के नवरत्नों में भी एक वररुचि थे। वे सम्भवतः प्राकृत प्रकाश के ही लेखक थे। छठी शताब्दी से तो प्राकृत प्रकाश पर अन्य विद्वानों ने टीकाएँ लिखना प्रारम्भ कर दी थीं। अतः वररुचि ने 4-5वीं शताब्दी में अपना यह व्याकरण ग्रन्थ लिखा होगा। प्राकृत प्रकाश विषय और शैली की दृष्टि से प्राकृत का महत्त्वपूर्ण व्याकरण है। प्राचीन प्राकृतों के अनुशासन की दृष्टि से इसमें अनेकतथ्य उपलब्ध होते हैं।

प्राकृत प्रकाश में कुल बारह परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेद के 44 सूत्रों में स्वरविकार एवं स्वरपरिवर्तनों का निरूपण है। दूसरे परिच्छेद के 47 सूत्रों में मध्यवर्ती व्यंजनों के लोप का विधान है तथा इसमें यह भी बताया गया है कि शब्दों के असंयुक्त व्यंजनों के स्थान पर कितने विशेष व्यंजनों का आदेश होता है। यथा- (1) प के स्थान पर व - शाप > सावो ; (2) न के स्थान पर ण- वचन > वअण, (3) ष, भा के स्थान पर स-शब्द > सद्दो, एवं भाभ > वसहो आदि। तीसरे परिच्छेद के 66 सूत्रों में संयुक्त व्यंजनों के लोप, विकास एवं परिवर्तनों का अनुशासन है। अनुकारी, विकारी और देशज इन तीन प्रकार के शब्दों

का नियमन चौथे परिच्छेद के 33 सूत्रों में हुआ है। यथा 12वें सूत्र 'मोबिन्दुः' में कहा गया है कि अंतिम हलन्त 'म्' को अनुस्वार होता है – वक्षम् > वच्छं, भद्रम् > भद्दं आदि। पांचवे परिच्छेद के 47 सूत्रों में लिंग और विभक्ति का अनुशासन दिया गया है। सर्वनाम शब्दों के रूप और उनके विभक्ति प्रत्यय छठे परिच्छेद के 64 सूत्रों में वर्णित हैं। सप्तम परिच्छेद में तिङतविधि तथा अष्टम में धात्वादेश का वर्णन है। प्राकृत का धात्वादेश सम्बन्धी प्रकरण तुलनात्मक दृष्टि से विशेष महत्त्व का है। नवमें परिच्छेद में अव्ययों के अर्थ एवं प्रयोग दिये गये हैं। यथा–**णवरः केवल** ॥7॥– केवल अथवा एकमात्र के अर्थ में **णवर** शब्द का प्रयोग होता है। उदाहरणार्थ– **एसो णवर कन्दप्पो, एसा णवर सा रई** इत्यादि।

यहाँ तक वररुचि ने सामान्य प्राकृत का अनुशासन किया है। इसके अनन्तर दसवें परिच्छेद के 14 सूत्रों में पैशाची भाषा का विधान है। 17 सूत्र वाले ग्यारहवें परिच्छेद में मागधी प्राकृत का तथा बारहवें परिच्छेद के 32 सूत्रों में शौरसेनी प्राकृत का अनुशासन है। प्राकृत व्याकरण के गहन अध्ययन के लिए वररुचिकृत प्राकृत प्रकाश एवं उसकी टीकाओं का अध्ययन नितान्त अपेक्षित है। महाराष्ट्री के साथ मागधी, पैशाची एवं शौरसेनी का इसमें विशेष विवेचन किया गया है। प्राकृत प्रकाश की इस विषयवस्तु से स्पष्ट है कि वररुचि ने विस्तार से प्राकृत भाषा के रूपों को अनुशासित किया है। चंड के प्राकृत लक्षण का प्रभाव वररुचि पर होते हुए भी कई बातों में उनमें नवीनता और मौलिकता है।

265. प्राकृत धम्मपद

भारतेतर प्राकृत खरोष्ठी लिपि में लिखे हुए खोतान में उपलब्ध प्राकृत धम्मपद का स्थान महत्त्वपूर्ण है। भारतीय हस्तलिखित प्रतियों में सर्वप्राचीन कही जाने वाली यह प्रति भाषा और लिपि की दृष्टि से अपना महत्व रखती है। इसमें 12 परिच्छेद हैं जिनमें 232 गाथाओं में बुद्ध–उपदेश का संग्रह हैं। इसकी भाषा उत्तर पश्चिमी प्रदेश की बोलियों से मिलती–जुलती है, जिसका परिचय हमें

शाहवाजगढ़ी के अशोकी शिलालेखों से मिलता हैं। इनसे अनुमान होता हैं कि खरोष्ठी धम्मपद का मूल रूप भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश में ही लिखा गया है। लिपि के आधार पर इसका समय ईसवी सन् 200 माना गया है।

266. प्राकृत पुष्करिणी

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने अलंकार ग्रन्थों में उदाहरणों के रूप में प्रयुक्त गाथाओं का संकलन **प्राकृत पुष्करिणी** के नाम से किया है। अलंकार ग्रन्थों में जितने उदाहरण आये हैं, वे सभी एक से एक सुन्दर और सरस हैं। प्रत्येक पद्य अपने पीछे प्रबन्ध की परम्परा लिए हुए हैं। अतः इन मुक्तक पद्यों का अपूर्व सौन्दर्य है। प्रायः ये सभी पद्य श्रृंगार रस के हैं। इस संग्रह की अधिकाशं गाथाएँ गाथा सप्तशती की हैं । कुछ गाथाएँ नयी हैं। श्रृंगार रस के मर्म को समझाने के लिए ये गाथाएँ उपयोगी हैं।

267. प्राकृत भारती अकादमी

प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर एक स्वयंसेवी पंजीकृत संस्था है। इसकी स्थापना 21 फरवरी 1977 को हुई थी। अकादमी का मुख्य उद्देश्य प्राकृत, संस्कृत एवं अन्य भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी में उपयोगी साहित्य का प्रकाशन है, जिससे कि यह साहित्य साधारण पाठक एवं विद्वानों तक पहुँच सके। प्राकृत भारती द्वारा अब तक 218 ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कई पुस्तकों के एकाधिक संस्करण भी प्रकाशित हो चुके हैं। वर्तमान में लगभग 10 पुस्तकें प्रति वर्ष प्रकाशित की जाती हैं। प्राकृत भारती की गतिविधियों में नियमित प्राकृत भाषा पाठ्यक्रम चलाना भी है। पत्राचार द्वारा जैनालॉजी में एम. ए. की कक्षाओं का संचालन भी प्राकृत भारतीय अकादमी होता है। इस अकादमी के संचालन में प्रो. कमलचन्द्र सोगानी, पं. विनयसागर एवं श्रीमान् डी. आर. मेहता आदि विद्वानों का विशेष योगदान है।

268. प्राकृत भाषा

मध्ययुगीन भारतीय आर्य भाषायें अनके रूपों में पाई जाती हैं। ये भाषायें श्वेताम्बर जैन आगमों की प्राकृत, दिगम्बर जैन आगम ग्रंथों की शौरसेनी प्राकृत, जैनों की धार्मिक और लौकिक कथाओं की प्राकृत, संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त विविध रूप वाली प्राकृत, मुक्तक काव्यों की महाराष्ट्री प्राकृत, वृहत्कथा की पैशाची प्राकृत, अशोकी शिलालेखों की प्राकृत, निया प्राकृत, खरोष्ठी लिपि में उल्लिखित धम्मपद की प्राकृत आदि के रूप में बिखरी हुई पड़ी हैं। इन सब को सामान्यतया प्राकृत की संज्ञा दी जाती हैं, यद्यपि प्राकृत वैयाकरणों ने इनके जुदा-जुदा नाम दिये हैं। वैयाकरणों में प्राकृत बोलियों का विस्तृत विवेचन कर्ताओं में वररुचि का नाम सर्वप्रथम आता है। उनके अनुसार प्राकृत जिसे आगे चलकर महाराष्ट्री कहा गया है, पैशाची, मागधी और शौरसेनी ये चार प्राकृत भाषायें हैं। प्रारंभिक वैयाकरण सामान्य रूप से प्राकृत को ही मुख्य मानते थे और साहित्यिक रचनाओं की यह भाषा समझी जाती थी। शूद्रक के मृच्छकटिक में सूत्रधार द्वारा बोली जाने वाली भाषा को प्राकृत कहा गया है, यद्यपि उत्तरकालीन वैयाकरणों की शब्दावलि में यह शौरसेनी बन गई है।

269. प्राकृत भाषा विभाग

श्रीलालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ मानित विश्वविद्यालय नई दिल्ली 16 में सत्र 1988-99 से प्राकृतभाषा के स्वतंत्र विभाग का शुभारम्भ केन्द्र सरकार की अनुमति से विधि सम्मत तरीके से हुआ है। इसकी स्थापना के पूर्व विश्वविद्यालय अनुदान आयोग की नियमावली के अनुसार प्रयोग के तौर पर प्राकृतभाषा के अंशकालीन पाठ्यक्रम (प्रमाणपत्रीय एवं डिप्लोमा पाठ्यक्रम) सत्र 1966-97 से प्रारंभ किये गये थे। दो वर्षों में उनकी सक्रियता, पाठ्यपुस्तकों के निर्माण, जनरुचि से आयोग एवं केन्द्र सरकार ने इस विभाग की स्थापना की स्वीकृति प्रदान की अपेक्षित संसाधन भी विद्यापीठ को प्रदान किये। इस विभाग में अब प्राकृतशास्त्री, आचार्य एवं एम. फिल के पाठ्यक्रम संचालित हैं।

270. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण

19वीं शताब्दी में जर्मन विद्वान डॉ. आर. पिशल द्वारा लिखा गया

ग्रामेटिक्स डे प्राकृत स नामक जर्मन ग्रन्थ **प्राकृत भाषाओं का व्याकरण** नाम से हिन्दी भाषा में अनुवादित हुआ है। इसके हिन्दी अनुवादक डॉ. हेमचन्द्र जोशी हैं। डॉ. पिशल का यह ग्रन्थ प्राकृत भाषा के अध्ययन हेतु अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इस ग्रन्थ में प्राकृत का कोई व्याकरणकार नहीं छूटा है। सभी व्याकरण-ग्रन्थों के नियम इसमें शृंखला-बद्ध रूप से दिये गये हैं। वस्तुतः डॉ. पिशल ने अपने समय तक के उपलब्ध सभी व्याकरण और सारे प्राप्य साहित्य को मथकर यह व्याकरण तैयार किया है और प्राकृत व्याकरण के अधिकांश नियम पक्के कर दिये हैं।

271. प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास

प्राकृत भाषा, व्याकरण और साहित्य को जानने के लिए यह पुस्तक-प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, महत्त्वपूर्ण साधन है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने इस शोध ग्रन्थ में सभी प्रकार की प्राकृत भाषाओं का सोहाहरण विवेचन किया है। प्राकृत आगम ग्रन्थों का परिचय देकर काव्यों और मुक्तककाव्य ग्रन्थों का सोदाहरण मूल्यांकन इस ग्रन्थ की विशेषता है। प्राकृत के चरित साहित्य की समीक्षा इस इतिहास ग्रन्थ में उपलब्ध है।

प्राकृत के सट्टक ग्रन्थों का मूल्यांकन कर डॉ. शास्त्री ने इस पुस्तक में प्राकृत के कथासाहित्य के ग्रन्थों का विवेचन प्रस्तुत किया है। ग्रन्थ के अन्त में प्राकृत व्याकरण ग्रन्थों और छन्द अलंकार ग्रन्थों का प्रामाणिक परिचय दिया गया है। सांस्कृतिक दृष्टि से प्राकृत ग्रन्थों के महत्त्व को भी डॉ. शास्त्री ने रेखांकित किया है। यह ग्रन्थ 1966 में बनारस से ताराबुक एजेंसी से प्रकाशित हुआ था। 1988 में इसका द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हुआ। प्राकृत के विद्यार्थियों, विद्वानों एवं सम्पादकों के लिए यह ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण साधन है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद की नितान्त आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

272. प्राकृत भाषा के तीन युग

प्राकृत भाषा के प्रयोग में एकरूपता नहीं है। विभिन्न विभाषाओं के बीज क्रमशः उसमें सम्मिलित होते रहे हैं। प्राकृत भाषा के स्वरूप की दृष्टि से दो भेद किए जा सकते हैं- (1) कथ्य प्राकृत और (2) साहित्य की प्राकृत। प्राकृत

जनभाषा के रूप में प्राचीन समय से बोली जाती रही है, किन्तु उसका कोई उदाहरण हमारे समक्ष नहीं है। जो कुछ भी प्राकृत का स्वरूप हमारे सामने आया है, वह साहित्य के माध्यम से। इस साहित्यिक प्राकृत के भाषा के प्रयोग एवं काल की दृष्टि से तीन भेद किए जा सकते हैं– प्रथम युग, मध्ययुग और अपभ्रंश युग। ई. पू. छठी शताब्दी के ईसा की द्वितीय शताब्दी तक के बीच प्राकृत में रचे गये साहित्य की भाषा प्रथम युगीन प्राकृत कही जा सकती है। ईसा की द्वितीय शताब्दी से छट्ठी शताब्दी तक जिस प्राकृत भाषा में साहित्य लिखा गया है, उसे मध्युगीय प्राकृत कहते हैं। वास्तव में इस युग की प्राकृत साहित्यिक प्राकृत थी, किन्तु जनसामान्य की भाषा प्राकृत से भी उसका सम्बन्ध बना हुआ था। प्रयोग की भिन्नता की दृष्टि से इस समय तक प्राकृत के स्वरूप क्रमशः परिवर्तन हो गया था। तदनुरूप प्राकृत के वैयाकरणों ने प्राकृत के ये पाँच भेद निरूपित किये हैं अर्धमागधी, शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी एवं पैशाची।

273. प्राकृत मार्गोपदेशिका

पं. बेचरदास जीवराज दोषी ने ई. सन् 1968 में हिन्दी माध्यम से प्राकृत भाषा के अध्ययन हेतु **प्राकृत मार्गोपदेशिका** की रचना की। इसमें प्राकृत, पालि, शौरसेनी, मागधी, पैशाची एवं अपभ्रंश भाषा के पूरे नियम बताकर संस्कृत के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ का मूल आधार आचार्य हेमचन्द्र का व्याकरण तथा डॉ. पिशल का प्राकृत भाषाओं का व्याकरण है।

274. प्राकृत भाषा के पाणिनि पिशेल

पाश्चात्य विद्वानों में जर्मन विद्वान् रिजर्ड पिशेल ने सर्वप्रथम प्राकृत भाषाओं का तुलनात्मक एवं व्यवस्थित अध्ययन प्रस्तुत किया है। यद्यपि उनके पूर्व हार्नल, लास्सन, होयेफर, वेबर आदि ने प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था, किन्तु इस अध्ययन को पूर्णता पिशेल ने ही प्रदान की है। रिचर्ड निपशेल ने आचार्य हेमचन्द्रकृत हेशब्दानुशासन प्राकृत व्याकरण का व्यवस्थित रीति से प्रथम बार सम्पादन किया, जो सन् 1877 ई. में प्रकाशित हुआ। प्राकृत भाषा के

अध्ययन में पिशेल ने अपने जीवन का अधिकांश समय व्यतीत किया। प्राकृत भाषा के व्याकरण की प्रकाशित एवं अप्रकाशित अनेक कृतियों के अनुशीलन के आधार पर उन्होंने प्राकृत भाषाओं का व्याकरण **ग्रेमेटिक डेर प्राकृत श्प्राशन** नाम से जर्मन में लिखा जो 1900 ई. में जर्मनी के स्तास्बुर्ग नगर से प्रकाशित हुआ। इसके अब अंग्रेजी और हिन्दी दोनों भाषाओं के अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। प्राकृत भाषा के इस महान् ग्रन्थ में पिशेल ने न केवल प्राकृत भाषा के व्याकरण को व्यवस्थित रूप दिया है, अपितु प्राकृत भाषा की उत्पत्ति आदि पर भी विचार किया है। अपने पूर्ववर्ती पाश्चात्य विद्वानों के मतों का निरसन करते हुए पिशेल ने पहली बार यह मत प्रतिपादित किया कि प्राकृत भाषा संस्कृत से उत्पन्न न होकर स्वतन्त्र रूप से विकसित हुई है। वैदिक भाषा के साथ प्राकृत का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर उन्होंने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन की नई दिशा प्रदान की है।

275. प्राकृत में आधुनिक भाषाओं के पोषक तत्त्व

भारतीय आधुनिक भाषाएँ आज भाषा व साहित्य की दृष्टि से पर्याप्त समृद्ध हैं। उनके विकास की लम्बी परम्परा है। किन्तु यह कह पाना कठिन है कि किस प्राकृत व अपभ्रंश विशेष से कौन सी आधुनिक भाषा का जन्म हुआ है। केवल भाषागत समानता के आधार पर कुछ अनुमान ही किया जा सकता है कि इस अपभ्रंश से यह क्षेत्रीय भाषा उत्पन्न हुई होगी। अतः प्राकृत और अपभ्रंश को आधुनिक भाषाओं की जननी मानने के स्थान पर उनकी पोषक मानना अधिक ठीक है। इस प्रकार के पोषक तत्त्व इन भाषाओं में खोजे भी जा सकते हैं। वस्तुतः भारतीय आधुनिक भाषाओं का जन्म उन विभिन्न लोकभाषाओं से हुआ है, जो प्राकृत व अपभ्रंश से प्रभावित थीं। उनका उस समय कोई नामकरण नहीं था। अतः वे विभिन्न क्षेत्रों की अपभ्रंश के नाम से जानी गई हैं।

प्राकृत अपभ्रंश भारतीय भाषाओं को कई तरह से प्रभावित किया है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम है। अतः उसे इतना सरल होना चाहिए कि कहने एवं सुनने वाले के बीच विचारों का सम्प्रेषण बना रहे। एक दूसरे के अन्तरंग को वे समझ सकें। प्राकृत अपभ्रंश ने इसी सरलीकरण को स्वयं अपनाया तथा दाय के

रूप में क्षेत्रीय भाषाओं को यह विरासत सौंपी है। भाषा का सरलीकरण उन शब्दों को ग्रहण करने से आता है जो जन सामान्य के बीच अभिव्यक्ति के माध्यम से होते हैं। क्षेत्रीय भाषाओं में प्राकृत के शब्दों का भण्डार है। आधुनिक आर्य भाषाओं में भी ऐसे अनेक शब्द आज प्रयुक्त होते हैं, जो प्राकृत अपभ्रंश की यात्रा करते हुए यहाँ तक पहुँचे हैं।

किन्तु लोक शब्दों से ही किसी भाषा का काम नहीं चलता। उसे शिष्ट भाषा के शब्द एवं प्रवृत्तियों को भी अपनाना पड़ता है। यही कारण है कि प्राकृत व अपभ्रंश में तत्सम और तदभव शब्दों का भी समावेश है। भारतीय भाषाओं के इतिहास से यह भलीभाँति ज्ञात होता है कि कभी लोकभाषाओं ने देशी शब्दों को साहित्य के सिंहासन पर बैठाया तो कभी परिष्कृत शब्दों को भी लोक मानस के अनुकूल उन्होंने गढ़ा है। ध्वनि विकास के द्वारा ऐसे शब्द किसी भी भाषा में प्रयुक्त होते रहते हैं।

276. प्राकृत में स्वर विकास

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा वैदिक भाषा के समकालीन प्रचलित उदीच्या, मध्यदेशीया एवं प्राच्या बोलियों में जो सरलीकरण की प्रवृत्ति थी, वह प्राकृत में भी उपलब्ध है। अपने सम्पर्क में आने वाली संस्कारित भाषा व साहित्यिक भाषा के शब्द समूहों, स्वरों के परिवर्तन प्राकृत में दृष्टिगोचर होते हैं। यह परिवर्तन की प्रवृत्ति भाषा को शब्दभण्डार की दृष्टि से समृद्ध बनाती है। वास्तव में इस प्रकार के स्वर एवं वर्ण परिवर्तन ही शब्द गढ़ने के आधार हैं। प्राचीन समय में संस्कृत भाषा साहित्यिक सम्पर्क की भाषा थी और शौरसेनी प्राकृत लौकिक सम्पर्क की। अतः इस संस्कृत के शब्द किन-किन परिवर्तनों द्वारा मूल शौरसेनी प्राकृत में ग्रहण किये गये हैं, इसकी संक्षिप्त जानकारी यहाँ प्रस्तुत है। स्वर-परिवर्तन की ये स्थितियाँ प्राप्त हैं -

(अ) स्व स्वरों का दीर्घीकरण (ब) दीर्घ स्वरों का ह्स्वीकरण

(स) स्वरों को अन्य स्वर का आदेश एवं (द) अव्यय के स्वरों का लोप।

इसी क्रम में हम यहाँ उन उदाहरणों के द्वारा प्राकृत के स्वर-परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त करेंगे जो (1) शौरसेनी के सिद्धान्त ग्रन्थों में उपलब्ध हैं तथा जो

(2) वैयाकरणों ने अपने विधानों में जिन शब्दों को उदाहरण के रूप में दिया है। ये नियम सामान्य प्राकृत में लागू होते हैं। प्राचीन एवं मूल प्राकृत शौरसेनी थी। अतः स्वर-परिवर्तन के नियम शौरसेनी के समान अन्य प्राकृतों में भी विकसित हुए हैं।

1- ह्रस्व स्वरों का दीर्घीकरण -

पासदि < पश्यति, कासवो < कश्यपः
सीसो < शिष्यः मणूसो < मनुष्यः
दूसासणो< दुश्शासनः मणासिल < मनःशिला
णीसहो < निस्सहः दूसहो < दुस्सहः

2. दीर्घ स्वरों का ह्रस्वीकरण -

अ अम्बं < आम्रम् पंडवो < पाण्डवः
इ मुणिंदो < मुनीन्द्रः तित्थं < तीर्थम्

3. स्वरों को अन्य स्वरों का आदेश

प्राकृत में स्वरों का अन्य स्वरों में परिवर्तन इस प्रकार प्राप्त है-

(क) "अ" ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (1)

अ > आ - आफंसो, < अस्पर्श सामिद्धी,< समृद्धिः
अ > इ- मज्झिमा < मध्यमः इंगारो <अंगारः
अ > उ - झुणि < ध्वनि खुडियो < खण्डितः
अ > ऊ - अहिण्णू < अभिज्ञः सव्वण्हू < सर्वज्ञः
अ > ए - अंतेउरं < अन्तःपुरम् सेज्जा < शय्या
अ > लुक् - लाउं < अलावुम् रण्णं < अरण्यम्

(ख) "आ" ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (2)

आ > अ अ आयरिओ < आचार्यः ठविदो < स्थापितः
पगदं, पागदं< प्राकृतम पुव्वहो <पूवार्ण्हः
आ > इ सइ, सया < सदा णिसिअरो < निशाकर
आ > उ उल्लं < आद्रम् सुण्हा < सास्ना

(ग) 'इ' ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (3)

इ > आ मुसओ < मूषिकः पुढवी < पृथिवी

इ > ई सीहो < सिंहः वीसा < विंशति

इ > उ उच्छू < इक्षुः दुविहो < द्विविधः

इ > ए पेण्डं < पिण्डम् सेन्दरं < सिन्दूरम्

(घ) 'ई' ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (4)

ई > इ गहिरं < गंभीरम् जिअदु < जीवतु

ई > उ जुण्णं < जीर्णम् विहूणो < विहीन

ई > ए केरिसो < कीदृशः एरिसो < ईदृशः

(ङ) 'उ' ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (5)

उ > ओ पोत्थओ < पुस्तक पोंगल < पुद्गलम्

(च) 'ऋ' ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (6)

ऋ > अ तण < तृणम् वसहो < वृषभः मच्चु < मृत्यु

ऋ > इ इसी < ऋषिः किवो < कृपा दिट्ठं < दृष्टम्

ऋ < उ उउदु > ऋतुः पुहइ < पृथिवी निव्वुई< निर्वत्तिः

ऋ > उ पाउसो< प्रावृद् पाहुडं < प्राभृतम् उसहो < ऋषभः

ऋ > रि रिणं < णिंम् रिजु < ऋजुः

ऋ > रु रुक्खो < वृक्षः रूसी< ऋषिः

(झ) 'ऐ' ध्वनि (स्वर) को स्वरादेश : (7)

'ऐ' स्वर का प्राकृत में अभाव है। उसके स्थान पर निम्न आदेश होते हैं। यथा– आ > ए गेज्झं < ग्राह्यम् मेत्तं < मात्रम्

ऐ> इ सिंधवं< सैन्धवम् सिन्नं < सैन्यम्

ऐ > ई धीरं< धैर्यम् ईसरिय < ऐश्वर्यम्

ऐ > अइ वइरं, < वैरम् रूसी < कैलासः

ऐ > ऐ सेला < शैला, रूसी < ऐरावण

5. स्वरागम (स्वरभक्ति)

प्राकृत में स्वरागम (स्वरभक्ति) के भी अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं।

(1) आदि स्वरागम :

अ	स्नेहः	>	सणेहो	अग्निः	>	अग्गी
अइ	स्निग्धं	>	सणिद्धं, सिणिद्धं	कृष्णः	>	कसणो,कसिणो
इ	श्लोकः	>	सिलोओ	क्लेशः	>	किलेसो
	अर्हत्	>	अरहो, अरिहो	अरुहो	>	अरुहो (उ का आगम)

(2) मध्य स्वरागम :

इ	वीर्य	>	वीरिअं,	ब्रह्मचर्य	>	अग्गी
इ	स्यात्	>	सिआ	कृष्णः	>	कसणो,कसिणो
	दर्शनं	>	दरिसणं	वज्रं	>	वइरंउ
	तन्वी	>	तणुवी	पृथ्वी	>	पुहुवी

277. प्राकृत व्यंजन विकास :

व्यंजन विकास की जो प्रवृत्तियाँ या शैली प्राकृत में थी, वह सभी प्राकृतों में अपनायी गई है। इन सामान्य व्यंजन-परिवर्तनों के साथ प्राकृत में सिद्धान्त ग्रन्थों में कतिपय विशिष्ट स्वरों एवं व्यंजनों का विकास भीपाया जाता है। व्यंजन - विकास की निम्नांकित अवस्थाएँ प्राकृत में वैयाकरणों ने प्रतिपादित की हैं-

1. आदि सरल व्यंजन विकास :

नियम 1 : (क) स्वर के परे अनादि असंयुक्त न को ण आदेश होता है और (ख) न आदि में होने पर उसे विकल्प से ण होता है। यथा-

माणुसो >	मानुषः	णिव्वाणं	> निर्वाणं
णरो, नरो >	नरः	णई, नई	> नदी

नियम 2 : (क) शब्द के आदि में प्रयुक्त य का ज हो जाता है तथा

(ख) उपसर्ग युक्त अनादि य का भी ज होता है। यथा-

जदा >	यदा	जुदो	> युतः
संजमो >	संयम	अवजसो >	अपयशः

नियम 3 : श और ष को स हो जाता है। यथा-

श	कुसलो <	कुशलः	संयणं	<	निर्वाणं
श	सद्दो <	शब्दः,	सुद्धं	<	नदी

ष सण्डो < षण्डः, सेसो < शेषः

नियम 4 : आदि के सरल व्यंजन इन अक्षरों में परिवर्तित होते हैं। यथा

क > क	खुज्जो < कुब्जः	खीलिय < कीलित
> > ग	गेन्दुअं < कन्दुकम्,	अधिग < अधिक
द > ड	डोला < दोला,	डंडो < दण्डः
न > ण	णमो < नमो	णिद्देसो < निर्देश
प > फ	फलिहा < परिखा,	फरुसो < परुषः
म > व	वम्महो< मन्मथः,	
य, र > ल	लट्ठी < यष्टिः,	लुक्ख < रुक्ष

2- मध्य सरलव्यंजन विकास :

क > ग	एगो < एकः	अमुगो < कीलित
	सावगो< श्रावकः	एगत्तं < अधिक
	उवासगो < उपासकः	लोगो < दण्डः
ख > क/ह	संकलं< श्रृंखलम्	सुहं <सुखम्
ट > ड	भडो < भटः	कोडिणं < कोटिनाम्
त > ड	पडिवन्नं < प्रतिपन्नम्,	पडिमा < प्रतिमा
	पाहुडं < प्राभृतम्	दुक्डम < दुष्कृतम्

नियम 6 : शौरसेनी प्राकृत में त का द में परिवर्तन होता है। यथा-

त > द	धादि < घाति,	जतिण < यतीनाम्
	देवदा < देवता,	जाणादि < जाणाति
त > ल	अलसी < अतसी	सालवाहणा < सातवाहनः
ह >	काहलो < कातरः	वसही < वसतिः
थ > ढ	पढमो < प्रथमः	पुढवी < पृथवी
थ > ह	णाहो < नाथः	मिहुणं < मिथुनम्
द > र	एआरह < एकादशः	बारह < द्वादश

> ल	दोहलो <दोहदः	कलंबो < कदम्ब
न > ण	कणयं< कनकम्	मयणो <मदनः
प > व	उववादेण<उपपादेन	खवगा< क्षपकाः
भ > ह	पह < प्रभा,	सहावो< स्वभावः
य > ज	संजदा <	संयता तइज्जो < तृतीयः
र > ल	सिढिलो < शिथिरः	सोमालो < सुकुमारः
श > स	सलागो <स्लोकः	सिवियाणं < शिविकानाम्
> ह	दह <दश	तेरह < त्रयोदशः
ष >स	कसायो < कषायः	निहसो<निकषः
>ह, ण्ह	पाहाणो < पासाणः	सुण्हा < स्नुषा
स > ह	दिवहो < दिवसः	

3. मध्यवर्ती सरल व्यंजन लोप-विधान :

क लोप	लोगो <	लोकः	तित्थगरो< तीर्थंकरः
ग लोप	णअरं <	नगरम्	साअरो < सागरः
च लोप	आलोयण<	आलौचन	पवयणं < प्रवचनं
ज लोप	गओ < गजः	पआवई	< प्रजापतिः
त लोप	चउव्विहं <	चातुर्विधम्	वणप्फदि < वनस्पति
द लोप	वअणं < वदनम्	वेअणा <	वेदना
प लोप	रिऊ < रिपुः	विउलं <	विपुलम्
य लोप	णअणं< नयनम्	वाउणा <	वायुना
व लोप	दिअसो < दिवसः	लाउण्णं < लावण्यम्	

नियम 7 : मध्यवर्ती सरल व्यंजनों के लोप के कुछ अपवाद है अर्थात् लोप नहीं होता। यथा- षटखण्डागम के ये उदाहरण -

णयवादो, विचओ, भावकलंक, विजय, पवरवादो, वेदग, एक्को, सजोग

नियम 8 : अनादि, सरल एवं स्वर से परे ख, घ, थ, ध और भ को प्रायः 'ह' आदेश होता है। यथा -

ख > ह मुहं < मुखम् मेहला < मेखला

घ > ह मेहो < मेघः जहणं < जघनम्

थ > ह गाहा < गाथा णाहो < नाथः

ध > ह साहू < साधुः अहिअं < अधिकम्

समाहि < समाधि मणोरहा < मनोरथाः

भ > ह सहावो < स्वभावः सोहणं < शोभनम्

कभी-कभी उक्त वर्ण 'ह' में नहीं बदलते :-

पधाण > प्रधान सभाव < स्वभाव

कहीं शौरसेनी में थ एवं ह को 'ध' होता है। यथा -

नाथ > नाध यथा < जधा इह < इध

278. प्राकृत में संयुक्त व्यंजन विकास :

संयुक्त व्यंजनों का प्राकृत के दो रूपों में विकास दृष्टिगोचर होता है- (1) प्रथम संयुक्त व्यंजन के एक व्यंजन को दूसरे व्यंजन के अनुसार बदल दिया गया तथा (2) दूसरे, उन दोनों संयुक्त व्यंजन के बीच में कोई स्वर लाकर उन्हें विभक्त कर दिया गया। जैसे- चक्रः > चक्को, काव्यम् > कव्वं एवं भार्या > भारिया, चौर्य > चोरिअं आदि। इनके अतिरिक्त भी संयुक्त व्यंजनों का विकास प्राकृत में प्राप्त होता है। कतिपय उदाहरण इस प्रकार हैं-

1. क वर्ग के वर्णों में द्वित्व होने वाले संयुक्त व्यंजन :

क्त > त्त त्तितं < तिक्त् युक्तं < युक्तम्

क्ष > ख खण < क्षण खीणं < क्षीणम्

खमा < क्षमा खीर < क्षीरम्

> क्ख इ क्खू < इक्षुः लक्खणं < लक्षणम्

ष्क > क्ख पोक्खरं < पुष्करम् सुक्खं < शुष्कम्

क्ष्ण > क्ख तिक्खं < तीक्ष्णम्

स्त > ख खम्भो < स्तम्भः

2. च वर्ग के वर्णों में द्वित्व होने वाले संयुक्त व्यंजन :

त्य	> च्च	सच्चं	<	सत्यम्	पच्चओ < प्रत्ययः
त्व	> च्च	सोच्चा	<	श्रुत्वा	तव्वं < तत्वं
क्ष	> छ	छमा	<	क्षमा	छणो < क्षणः
त्स	> च्छ	उच्छाहो	<	उत्साहः	मच्छरो < मत्सरः
द्य	> ज	जुई	<	द्युतिः	जोओ < द्योतः
द्य	> ज्ज	मज्जं	<	मद्यम्	वेज्जो < वैद्यः
र्य	> ज्ज	अज्जो	<	आर्यः	भज्जा < भार्या
ध्य	> झ	झाणं	<	ध्यानम्	उवज्झाओ < उपाध्यायः

3. ट वर्ग के वर्णों में द्वित्व :

त	> ट्ट	पयट्टा < प्रवृत्तः	मट्टिआ < मृत्तिका,
र्थ	> ट्ठ	चउट्ठो < चतुर्थः	अट्ठो < अर्थः
ष्ठ	> ट्ठ	सुट्ठु < सुष्ठु	कोट्ठागारो < कोष्ठागारः
र्ध	> ड्ढ	सड्ढा < श्रृद्धा	अड्ढाइज्जेसु <अर्धतृतीयेषु
ज्ञ	> ण	आणा < आज्ञा	णाणं < ज्ञानं
ज्ञ	> ण्ण	सण्णा < संज्ञा	पण्णां < प्रज्ञा

4. (ख) त वर्ग :

त्र	> त्त	धत्ती < धात्री	पत्तं < पात्रं
		छत्तो < छात्रः	णेत्तं < नेत्रः
स्त	> त्थ	हत्थो < हस्तः	पत्थरो < प्रस्तरः
		पसत्थो < प्रशस्त	सत्थि < स्वस्ति
स्त	> थ	थोअं <	स्तोकम् थुई < स्तुति

5. प वर्ग एवं अन्तस्थ आदि संयुक्त व्यंजन

त्म	> प्प	अप्पा	<	आत्मा (अत्ता)	आदा < आत्मा
स्प	> फ	फंदणं	<	स्पन्दनम्	फासो < स्पर्शः
न्म	> म्म	जम्मो	<	जन्म	वम्महो < मन्मथः
ह्म	> म्भ	बम्भणो	<	ब्राह्मणः	बम्भचेरं< ब्रह्मचर्य

6. संयुक्त व्यंजनों का लोप, द्वित्व आदि :

प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों का विकास समीकरण, द्वित्व, आदेश, परिवर्तन आदि रूपों के साथ लोप रूप में भी प्राप्त होता है। संयुक्त व्यंजन दो अक्षरों के मेल से बनता है। जब उन दो अक्षरों के मेल से बनता है। जब उन दो अक्षरों में से एक का लोप होता है तो शेष दूसरा अक्षर द्वित्व हो जाता है। यह लोप की प्रवृत्ति संयुक्त व्यंजन के पहले वर्ण में होती है तब उसे पूर्ववर्ती (उपरि) लोप कहते हैं और जब यह लोप शब्द के दूसरे वर्ण का होता है तब उसे उत्तरवर्ती (अधो) लोप कहते हैं।

क	>	त्	भुत्तं	<	भुक्तं	मुत्तं	<	मुक्तं
ग्	>	ध्	दुद्धं	<	दुग्धं	मुद्धं	<	मुग्धं
प्	>	ताद्वित्व	गुत्तो	<	गुप्तः	सुत्तो	<	सुप्तः
ष्	>	ठद्वित्व	णिट्ठुरो	<	निष्ठुरः	गोट्ठी	<	गोष्ठी
व्	>	य लोप	कव्वं	<	काव्यम्			
द्	>	र लोप	रुद्दो	<	रुद्रः	भद्दं	<	भद्रम्
क	>	व लोप	पक्कं	<	पक्वम्			

संस्कृत शब्दों के अनियमित आमूल परिवर्तन प्राकृत रूपों में प्राप्त होते हैं। कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :-

आढत्तो	<	आरब्धः	आउसं	<	आयु
घरं	<	गृहम्	धूआ	<	दुहिता
हरो	<	ह्रदः	पाइक्को	<	पदाति
मइलं	<	मलिनम्	विलया	<	वनिता
सिप्पी	<	शुक्तिः	रुक्खो	<	वृक्षः
केलं	<	कदलम्	चोद्दह	<	चतुर्दश
बोरं	<	बदरम्	लोणं	<	लवणम्
थेरो	<	स्थविरः	पोप्फपलं	<	पूगफलम्

279. प्राकृत में स्वर एवं व्यंजन

जिन वर्णो के उच्चारण में अन्य वर्णो के सहयोग की अपेक्षा नहीं होती वे स्वर कहलाते हैं और जिन वर्णो के उच्चारण करने में स्वर वर्णो का सहयोग लिया जाता है वे व्यंजन कहे जाते हैं। प्राकृत में स्वररहित व्यंजनों का प्रयोग नहीं होता है। सरलीकरण की प्रवृत्ति के कारण प्राकृत में स्वर एवं व्यंजनों का प्रयोग इस प्रकार स्वीकृत है-

1- ह्रस्व स्वर - अ, इ, उ, ए, ओ

2- दीर्घ स्वर- आ, ई, ऊ, ए, ओ कुल 10 स्वर

प्राकृत में ऐ, औ, ऋ, लृ, लॄ इन 6 स्वरों का प्रयोग लुप्त हो गया- इनमें से ऐ, औ की अभिव्यक्ति ए और ओ के रूप में की जाती है। लृ, लॄ का सर्वथा लोप हो गया, किन्तु ऋ स्वर की अभिव्यक्ति अ, इ, उ आदि स्वरों के माध्यम होती है। अं और अः का भी प्राकृत में स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं रहा। अं (-) का प्रयोग व्यंजन के स्थान (म् न्) पर होने लगा और अः विसर्ग का लोप होकर उसके स्थान पर प्रायः ओ एवं ए स्वर का प्रयोग प्राकृत में प्रचलित हो गया। ए और ओ स्वर जब संयुक्त व्यंजन के पूर्व प्रयुक्त होते हैं तब उन्हें ह्रस्व स्वर माना जाता है। यथा- जोव्वणं (यौवनम्), एक्केक्कं (एकैकम्)। वैसे छन्द आदि के समय इन्हें ए, ओ को दीर्घ गिना जाता है। आगे चलकर अपभ्रंश आदि में छन्द में भी ये दोनों स्वर ह्रस्व गिने जाने लगे। प्राकृत में व्यंजनों की संख्या 29 है।

क वर्ग - क, ख, ग, घ	च वर्ग - च, छ, ज, झ
ट वर्ग - ट, ठ, ड, ढ, ण	त वर्ग - त, थ, द, ध, न
प वर्ग - प, फ, ब, भ, म	अन्तस्थ - य, र, ल, व

ऊष्माक्षर - स, ह

प्राकृत में ङ एवं ञ का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से नहीं होता। ये अपने वर्ग के व्यंजनों के साथ अनुस्वार के रूप में प्रयुक्त होते हैं। यथा - जंघा (जङ्घा), वांछा (वाङ्छा)। इसी प्रकार श एवं ष के स्थान पर 'स' का प्रयोग होता है। केवल मागधी प्राकृत में 'श' प्रयुक्त है। क्ष, त्र, ज्ञ, इन संयुक्त व्यंजनों का स्वतन्त्र प्रयोग प्राकृत में नहीं है। इनके स्थान पर अन्य वर्णों का प्रयोग हो जाता है। यथा -

क्षत्री = खत्ती पुत्रः = पुत्तो ज्ञानी = णाणी आदि।

प्राकृत में स्वर रहित व्यंजनों का अर्थात् हलन्त व्यंजनों का प्रयोग शब्द के अन्त में नहीं होता। यथा –

पश्चात् > पच्छा तावत् > दाव, यावत् > जाव आदि।

प्राकृत में संयुक्त व्यंजनों को सरल व्यंजन के रूप में प्रयुक्त करने की प्रवृत्ति क्रमशः बढ़ी है। जहाँ संयुक्त व्यंजन सरल व्यंजन नहीं बन पाते वहाँ उनको उच्चारण में सरल करने का प्रयत्न रहा है। इसलिए प्राकृत में शब्द के प्रारम्भ में संयुक्त व्यंजन का प्रयोग नहीं होता। यथा–

क्लेशः > किलेसो, श्वासः > सासो, श्यामा > सामा आदि।

प्राकृत में भिन्न वर्गीय संयुक्त व्यंजनों के स्थान पर समान वर्गीय व्यंजनों के मेल से उनके रूप बना लिये जाते हैं। इससे उनको उच्चारण करने में सुविधा रहती है। यथा –

दुग्धं > दुद्धं, भुक्तं > भुत्तं मूर्खः > मुक्खो आदि।

कतिपय संयुक्त व्यंजनों में स्वरों का आगम कर उन्हें सरलीकरण बनाने का प्रयत्न रहा है। यथा–

रत्नम् > रयणं, रदणं स्नेहः > सणेहो गर्हा > गरिहा।

स्वरों की कमी, व्यंजनों की कमी, सरलीकरण की प्रवृत्ति, मुख–सौकर्य आदि के कारण में प्राकृत भाषा में जो वर्ण विकृति, स्वर–परिवर्तन, व्यंजन–परिवर्तन आदि हुए हैं, उनकी जानकारी प्राप्त करने से ही प्राकृत भाषा के ग्रन्थों के पठन–पाठन और सम्पादनकार्य में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। संधि एवं समास के प्रयोग भी इस ध्वनिपरिवर्तन के ज्ञान से समझे जा सकते हैं।

प्राचीन भारतीय आर्यभाषा से मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में ये सरलीकरण और ध्वनिपरिवर्तन की सामान्य एवं स्वाभाविक प्रक्रिया रही है। इसी प्रक्रिया से प्राकृत भाषा व साहित्य का शब्द भण्डार विकसित हुआ है। शब्द गढ़ने की प्राकृत की यह अपनी विशिष्ट शैली है। वैयाकरणों ने प्रारम्भ से इस प्रक्रिया को समझाने का प्रयत्न किया है। शौरसेनी, मागधी एवं महाराष्ट्री आदि प्राकृतों में यह परिवर्तन की प्रक्रिया कुछ विशिष्ट प्रयोगों को छोड़कर प्रायः समान रही है।

280. प्राकृत रूपावतार (सिंहराज) :

सिंहराज (15वीं शताब्दी) ने त्रिविक्रम प्राकृत व्याकरण को कौमुदी के ढंग से 'प्राकृत रूपावतार' में तैयार किया है। इसमें संक्षेप में संज्ञा, सन्धि, समास, धातुरूप, तद्धित आदि का विवेचन किया गया है। संज्ञा और क्रियापदों की रूपावली के ज्ञान के लिए 'प्राकृत रूपावतार' कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कहीं-कहीं सिंहराज ने हेम और त्रिविक्रम से भी अधिक रूप दिये है। रूप गढ़ने में उनकी मौलिकता और सरसता है।

281. प्राकृत लक्षण : चण्ड-

प्राकृत के उपलब्ध व्याकरण में चंडकृत प्राकृत लक्षण सर्व प्राचीन सिद्ध होता है। भूमिका आदि के साथ डॉ. रूडोल्फ होएर्नले ने सन् 1880 में बिब्लिओथिका इंडिया में कलकत्ता से इसे प्रकाशित किया था। सन् 1929 में सत्यविजय जैन ग्रन्थमाला की ओर से यह अहमदाबाद से भी प्रकाशित हुआ है। इसके पहले 1923 में भी देवकीकान्त ने इसको कलकत्ता से प्रकाशित किया था। ग्रन्थ के प्रारम्भ में वीर(महावीर) को नमस्कार किया गया है तथा वृत्ति के उदाहरणों में अर्हन्त (सू. 46 एवं 24) एवं जिनवर (सूत्र 48) का उल्लेख है। इससे यह जैन कृति सिद्ध होती है। ग्रन्थकार ने एवं वृद्धमत के आधार पर इस ग्रन्थ के निर्माण की सूचना दी है, जिसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि चण्ड के सम्मुख कोई प्राकृत व्याकरण अथवा व्याकरणात्मक मतमतान्तर थे। यद्यपि इस ग्रन्थ में रचना काल सम्बन्धी कोई संकेत नहीं है, तथापि अन्तःसाक्ष्य के आधार पर डॉ. हीरालाल जैन ने इसे ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी की रचना स्वीकार किया है।

प्राकृत लक्षण में चार पाद पाये जाते हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में चंड ने प्राकृत शब्दों के तीन रूपों- तद्भव, तत्सम एवं देशीय- को सूचित किया है तथा संस्कृतवत् तीनों लिंगों और विभक्तियों का विधान किया है। तदनन्तर चौथे सूत्र में व्यत्यय का निर्देश करके प्रथमपाद के 5वें सूत्र से 35 सूत्रों तक संज्ञाओं और सर्वनामों के विभक्ति रूपों को बताया गया है। द्वितीय पाद के 29 सूत्रों में स्वर परिवर्तन, शब्दादेश और अव्ययों का विधान है। तीसरे पाद के 35 सूत्रों में व्यंजनों के परिवर्तनों का विधान है। प्रथम वर्ण के स्थान पर तृतीय का आदेश किया गया है। यथा-एकं > एगं, पिजोची > विसाजी, कृतं > कदं आदि

इन तीन पादों में कुल 99 सूत्र हैं, जिनमें प्राकृत व्याकरण समाप्त किया

गया है। होर्नले ने इतने भाग को ही प्रामाणिक माना है। किन्तु इस ग्रन्थ की अन्य चार प्रतियों में चतुर्थ पाद भी मिलता है, जिसमें केवल 4 सूत्र हैं। इनमें क्रमशः कहा गया है- 1-अपभ्रंश में अधोरेफ का लोप नहीं होता, 2- पैशाची में र् और स् के स्थान पर ल् और न् का आदेश होता है, 3-मागधी में र् और स् के स्थान पर ल् और ष् का आदेश होता है तथा 4-शौरसेनी में त् के स्थान पर विकल्प से द् आदेश होता है। इस तरह ग्रन्थ के विस्तार, रचना और भाषा स्वरूप की दृष्टि से चंड का यह व्याकरण प्राचीनतम सिद्ध होता है। परवर्ती प्राकृत वैयाकरणों पर इसके प्रभाव स्पष्ट रूप से देखे जाते हैं। हेमचन्द्र ने भी चंड से बहुत कुछ ग्रहण किया है।

282. प्राकृत में विभक्ति एवं कारक

संस्कृत, प्राकृत आदि प्राचीन भाषाओं में विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग आवश्यक है। विभक्ति से ही पता चलता है कि शब्द की संख्या क्या है, उसका कारक क्या है। प्राकृत में छह कारक एवं छह विभक्तियाँ होती हैं। चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति को एक मानने से सात के स्थान पर छह विभक्तियों के प्रत्यय ही प्रयुक्त होते हैं, जबकि अर्थ सात विभक्तियों के ग्रहण किये जाते हैं। क्रिया का जो उत्पादक हो, क्रिया से जिसका सम्बन्ध हो अथवा क्रिया की उत्पत्ति में जो सहायक हो उसे कारक कहा गया है। प्राकृत में प्रयोग के अनुसार कारक और विभक्तियों के क्रम बदलते रहते हैं। फिर भी सामान्यतया कारक और विभक्ति के सम्बन्ध इस प्रकार हैं-

कारक	विभक्ति	चिन्ह
1- कर्ता	प्रथमा	है, ने
2- कर्म	द्वितिया	को, (को रहित भी)
3- साधन (ञकरण)	तृतीया	से, के द्वारा आदि
4- सम्प्रदान	चतुर्थी	के लिए
5- उपादान	पंचमी	से (विलग होने में)
6- सम्बन्ध	षष्ठी	का, के, की

7- अधिकरण सप्तमी में, पर

1- कर्ता कारक

शब्द के अर्थ, लिंग, परिमाण, वचन मात्र को बतलाने के लिए शब्द संज्ञा, सर्वनाम आदि में प्रथमा विभक्ति होती है। प्रथमा विभक्ति वाला शब्द वाक्य में प्रयुक्त किया का कर्ता होता है। उसके बिना क्रिया का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। अतः कर्ता कारक शब्द क्रिया की सार्थकता बताता है। जैसे : महावीरो गामं गच्छदि, पोंग्गलो अचेयणो अत्थि। यहाँ गच्छ क्रिया का कर्ता महावीर है, अत्थि क्रिया का मूल सम्बन्ध पोंग्गल से है। महावीरो प्रथमा विभक्ति में होने से सूचित करता है कि महावीर पुल्लिंग संज्ञा शब्द है और एक वचन है।

2- कर्म कारक द्वितीया = को

जो कर्ता को अभीष्ट कार्य हो, क्रिया से जिसका सीधा सम्बन्ध हो उसको व्यक्त करने वाले शब्द में कर्म संज्ञा होती है। कर्म में द्वितीया विभक्ति का प्रयोग होता है। सामान्यतया किसी भी कर्ता-क्रिया वाले वाक्य के अन्त में 'किसको' प्रश्न क्रिया से जोड़ने पर कर्म की पहिचान हो जाती है। जैसे – 'राम फल खाता है' यहाँ किसको खाता है? प्रश्न करने पर उत्तर में फल शब्द सामने आता है। अतः फल कर्मसंज्ञक है। इसका द्वितीया का रूप 'फलं' वाक्य में प्रयुक्त होगा।

जीवो घडं करेदि = जीव घड़ा बनाता है।,
सो पडं ण करेदि = वह पट (कपड़ा) नहीं बनाता है।
णाणी तवं धारयदि = ज्ञानी तप धारण करता है।
सावको वंद गिण्हदि= श्रावक व्रत को ग्रहण करता है।

द्वितीया विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है।

(1) **'विना'** के साथ –अणज्जो अणज्जभासं विणा गाहेदुं ण सक्कदि = अनार्य अनार्य भाषा के बिना ग्रहण करने में समर्थ नहीं होता।

(2) **'गमन'** के अर्थ में – सो उम्मगं गच्छंतं मग्गे ठवेदि = वह उन्मार्ग में जाते हुए को मार्ग में स्थापित करता है

(3) **'श्रद्धा'** के योग में – मोक्खं असद्धहंतो पाठो गुणं ण करेदि = मुक्त आत्मा पर अश्रद्धा करता हुआ कोई (शास्त्र) पाठ लाभ नहीं करता।

(4) कभी-कभी प्रथमा के स्थान पर द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है -

अप्पाणं हवदि सद्दव्वं = आत्मा स्व द्रव्य है।

(5) कभी-कभी सप्तमी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति प्रयुक्त होती है।

असुहं कम्मं संसारं पवेसेदि = अशुभ कर्म संसार में प्रवेश कराता है।

3. करण कारक तृतीया = के द्वारा, साथ, से

क्रिया-फल की निष्पत्ति में सबसे अधिक निकट सम्पर्क रखने वाले साधन को करण कहते हैं। कार्य की सिद्धि में कई सहायक साधन होते हैं। अधिक सहायक साधन है में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होगा। प्राचीन साहित्य में विभिन्न अर्थो में तृतीया विभक्ति का प्रयोग देखने का मिलता है।

विशेष प्रयोग

तृतीया विभक्ति का उपयोग कर्मवाच्य एवं भाववाच्य के प्रयोगों में भी होता है। इसे कुछ उदाहरणों से समझा जा सकता है।

कर्तवाच्य	**कर्मवाच्य /भाववाच्य**
समणो गंथं भणदि	समणेण गंथं भणिदं
(श्रमण ग्रंथ को पढ़ता है)	(श्रमण के द्वारा ग्रंथ पढ़ा गया)
	मुणि झायदि मुणिणा झाइज्जदि
(मुनि ध्यान करता है)	(मुनि के द्वारा ध्यान किया जाता है)

अनियमित प्रयोग

शौरसेनी आगम ग्रंथों में तृतीया विभक्ति के कतिपय अनियमित प्रयोग भी प्राप्त होते हैं, उन्हें अभ्यास से समझना चाहिए। जैसे-

तवसा अप्पा भावेदव्वा = तप के द्वारा आत्मा को जानना चाहिये।

तं णत्थि जं तपसा ण लब्भइ = वह कोई उचित वस्तु नहीं है जो तप के द्वारा प्राप्त न होती हो।

जीवा कम्मणा वज्झंति = जीव कर्मों के द्वारा बंधते हैं।

यहाँ पर तपसा संस्कृत रूप तृतीया का यथावत प्रयोग कर लिया गया है। इसी प्रकार कम्मणा भी संस्कृत रूप का अनुशरण है।

सम्पदान कारक चतुर्थी = के लिए, को

जिसके लिए कोई कार्य किया जाय या कोई वस्तु दी जाय तो उस व्यक्ति या वस्तु संज्ञा/सर्वनाम में सम्प्रदान करक होता है। सम्प्रदान कारक वाले शब्दों में चतुर्थी विभक्ति के प्रत्ययों का प्रयोग होता है। जैसे –

सावगो समणस्स आहारं देहि =श्रावक श्रमण के लिए आहार देता है।

निरो माहण्णस्स धणं देदि =राजा ब्राह्मण को धन देता है।

गुरू बालअस्स पोत्थअं देदि =गुरू बालक के लिए पुस्तक देता है।

इस प्रकार की वस्तु देने में श्रद्धा, कीर्ति, उपकार आदि का भाव दाता के मन में होता है। सम्प्रदान कारक अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता है। यथा–

णमो अरिहंताणं = अरिहंतो को नमस्कार।

पुत्तस्स दुद्धं रोगयइ = पुत्र को दूध अच्छा लगता है।

जणओ पुत्तस्स कुज्झदि= पिता पुत्र पर क्रोधित होता है।

साहू णाणस्स झादि = साधू, ज्ञान के लिए ध्यान करता है।

अपादान कारक पंचमी = से (विलग)

एक दूसरे से अलग होने को अपाय कहते हैं। जैसे– मोहन घोड़े से गिरता है, पेड़ से पत्ता गिरता है आदि। इस विलग होने की क्रिया को अपादान कहते हैं। अपादान कारक में पंचमी विभक्ति के प्रत्यय प्रयुक्त होते हैं। यथा–

मोहणो अस्सत्तो पडदि, रुक्खत्तो पत्तं पडइ आदि।

पंचमी विभक्ति का प्रयोग कतिपय धातुओं, अर्थों एवं प्रसंगों में भी किया जा है। उनमें से कुछ प्रमुख हैं –

सो चोरओ बीहइ = वह चोर से डरता है।

जोद्धा चोरत्तो रक्खदि = योद्धा चोर से रक्षा करता है।

मुणी उवज्झायदो भणदि = मुनि उपाध्याय से पढता है।

बीजत्तो अंकुरो जायदि = बीज से अंकुर उत्पन्न होता है।

धणत्तो विज्जा सेट्टा = धन से विद्या श्रेष्ठ है।

विशिष्ट प्रयोग   पंचमी = से (विलग)

णिच्छयदो चिंतेज्ज = निश्चय से विचार करना चाहिए।

णिच्छयदो विण्णेयं = निश्चय से समझा जाना चाहिए।

वत्थुदो ण हि दु बंधो = वास्तव में वस्तु से बंध नहीं होता है।

ववहारा जीवादी सद्दहणं सम्मत्तं = व्यवहार से जीव आदि तत्त्वों का श्रद्धान् सम्यक्त्व है।

णाणगुणेहिं विहीणा ते = वे ज्ञान गुण से रहित हैं।

मोक्खमग्गस्स ण वि- = मोक्षमार्ग से कभी विचलित नहीं होता।

चुक्कदि विसए विरत्त चित्तो जोई = विषय से विरक्त चिन्तन वाला योगी।

सम्बन्ध कारक   षष्ठी = का, के, की

जहाँ सम्बन्ध व्यक्त करना हो वहाँ षष्ठी विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। अन्य प्रसंगों में, विभिन्न शब्दों के योग में भी षष्ठी होती है। यथा --

सो कस्स हेउस्स आगदो? = वह किस हेतु के लिए आया है?

सो मादाए सुमरदि = वह माता को स्मरण करता है।

मादाए सुहं भोदु = माता का कल्याण हो।

प्राकृत में चतुर्थी एवं षष्ठी विभक्ति के शब्द रूप एक समान बनते हैं। यथा-

विशिष्ट प्रयोग उदाहरण वाक्य: षष्ठी प्रयोग

शौरसेनी प्राकृत के सिद्धान्त ग्रन्थों में विभिन्न विभक्तियों में षष्ठी प्रयोग के कुछ उदाहरण वाक्य इस प्रकार हैं-

सो सव्वधम्माणं उवगूहणगा = वह सब धर्मों को ढकने वाला

हेऊण सो अप्पा तिपयारो = व्यवहार नय से आत्मा

सो मोक्खमग्गस्स ण चुक्कदि = वह मोक्षमार्ग से नहीं चूकता है।

णाणं पुरिसस्स हवदि = ज्ञान आत्मा में होता है।

अधिकरण कारक   सप्तमी = में, पर

वार्तालाप का वाक्य प्रयोग में कर्ता एवं कर्म के माध्यम से क्रिया का जो

आधार होता है, उसे अधिकरण कहते हैं। यह आधार अनेक प्रकार का हो सकता है। सभी आधारों में सप्तमी विभक्ति के प्रत्ययों का प्रयोग शब्द के साथ किया जाता है, इसलिए इसको अधिकरण कारक कहते हैं। सामान्तया निम्न आधारों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग पाया जाता है-

रुक्खे परिखणो वसंति	=	वृक्ष पर पक्षी वसते हैं।
आसणे अवरि पोत्थअं अत्थि	=	आसन के ऊपर पुस्तक है।
तिलेसु तेलं अत्थि	=	तिलों में तेल है।
हियए करुणा अत्थि	=	हृदय में करुणा है।
धम्मे अहिलासा अत्थि	=	धर्म में अभिलाषा है।
मोक्खे इच्छा अत्थि	=	मोक्ष में इच्छा है।
छत्तेसु जयकुमारो णिउणो	=	छात्रों में जयकुमार निपुण है।
मम समणेसु आयरो अत्थि	=	मेरा श्रमणों में आदर है।

283. प्राकृत रचना सौरभ

डॉ. कमलचन्द सोगाणी ने वर्तमान समय में अनेक प्राकृत एवं अपभ्रंश व्याकरण के ग्रन्थों की रचना की है। उनकी कृति प्राकृत रचना सौरभ आधुनिक प्राकृत व्याकरण-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। हिन्दी माध्यम से इस ग्रन्थ में महाराष्ट्री, शौरसेनी एवं अर्धमागधी इन तीनों ही प्राकृतों को विभिन्न विकल्पों सहित एक साथ सीखने का प्रयत्न किया गया है। विभिन्न पाठों को इस प्रकार क्रम से रखा गया है कि जिज्ञापुष्पाठक बिना रटे स्वतः ही प्राकृत भाषा के विभिन्न नियमों से अवगत होता चला जाता है। डॉ. सोगाणी की प्राकृत रचना सौरभ की सम्पूर्णता उनकी अगली कृति प्राकृत अभ्यास सौरभ में है। प्राकृत अभ्यास सौरभ की नवीन शैली एवं इसका आधुनिक प्रस्तुतीकरण में डूबा पाठक स्वतः अभ्यास करते-करते प्राकृत सीख जाता है। प्राकृत भाषा को सीखने के लिए ये पुस्तकें अत्यंत उपयोगी हैं। आगे इसी क्रम में प्रौढ़ प्राकृत रचना सौरभ (भाग 1) की रचना कर लेखक ने संस्कृत भाषा में रचित प्राकृत व्याकरण के संज्ञा एवं सर्वनाम सूत्रों का विवेचन प्रस्तुत किया है। इसके साथ ही संख्यावाची शब्दों एवं उनके विभिन्न प्रकारों को समझाने का प्रयास भी किया है। सूत्रों का विश्लेषण एक

ऐसी शैली से किया गया है, जिससे अध्ययनार्थी संस्कृत के अति सामान्य ज्ञान से ही सूत्रों को समझ सकते हैं। सूत्रों को पाँच सोपानों में समझाया गया है – 1. सूत्रों में प्रयुक्त पदों का सन्धि विच्छेद किया गया है, 2. सूत्रों में प्रयुक्त पदों की विभक्तियाँ लिखी गई है, 3. सूत्रों का शब्दार्थ लिखा गया है, 4. सूत्रों का पूरा अर्थ (प्रसंगानुसार) लिखा गया है तथा 5. सूत्रों के प्रयोग लिखे गये हैं। परिशिष्ट में सूत्रों में प्रयुक्त सन्धि-नियम एवं सूत्रों का व्याकरणिक विश्लेषण भी दिया गया है, जिससे विद्यार्थी सुगमता से समझ सकें।

प्राकृत व्याकरण की तरह अपभ्रंश भाषा के व्याकरण को सरल एवं सुबोध शैली में समझाने हेतु अपभ्रंश रचना सौरभ, अपभ्रंश अभ्यास सौरभ एवं प्रौढ़ अपभ्रंश रचना सौरभ की रचना कर डॉ. सोगाणी ने अपभ्रंश को सीखने-सिखाने के लिए नये-आयाम प्रस्तुत किये हैं। विभिन्न प्राकृतों की तरह विद्यार्थी स्वतः अभ्यास हल करते-करते अपभ्रंश भाषा में निपुणता प्राप्त कर लेता है। इसी क्रम को आगे बढ़ाते हुए प्रौढ़ प्राकृत -अपभ्रंश रचना-सौरभ का प्रणयन कर प्राकृत अपभ्रंश-व्याकरण को पूर्णता प्रदान करने का प्रयत्न किया गया है। इस ग्रन्थ में अपभ्रंश एवं प्राकृत के क्रिया-सूत्रों एवं कृदन्तों का विश्लेषण कर उन्हें अत्याधुनिक तरीके से समझाया गया है।

इन व्याकरण-ग्रन्थों के साथ-साथ डॉ. सोगाणी ने आगमों तथा प्राकृत एवं अपभ्रंश के विभिन्न ग्रन्थों के पद्यांशों एवं गद्यांशों का संकलन कर उनका व्याकरणिक विश्लेषण सहित हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया है। यह प्राकृत अपभ्रंश व्याकरणिक-जगत में नवीन प्रयोग है। इस तरह की पद्धति से किया गया अनुवाद पूर्व में कहीं उपलब्ध नहीं है। डॉ. सोगाणी द्वारा व्याकरणिक विश्लेषण सहित हिन्दी अनुवाद की प्रकाशित विभिन्न पुस्तकों की सूची निम्न हैं –

1. अपभ्रंश काव्य सौरभ 2. प्राकृत गद्य-पद्य सौरभ 3. आचारांग-चयनिका 4. दशवैकालिक-चयनिका 5. समणसुत्तं-चयनिका 6. उत्तराध्ययन-चयनिका 7. अष्टपाहुड-चयनिका 8. समयसार-चयनिका 9. परमात्मप्रकाश एवं योगसार-चयनिका 10. वज्जालग्ग में जीवन-मूल्य 11. वाक्पतिराज की लोकानुभूति।

इन पुस्तकों में दिया गया व्याकरणिक विश्लेषण प्राकृत -अपभ्रंश व्याकरण को समझने का प्रायोगिक तरीका है। इनके अध्ययन से भावात्मक अनुवाद की

अपेक्षा व्याकरणात्मक अनुवाद को आत्मसात किया जा सकेगा तथा प्राकृत ग्रन्थों का सही-सही अर्थ समझा जा सकेगा। वस्तुतः डॉ. सोगाणी की इन पुस्तकों ने न केवल प्राकृत भाषा के अध्ययन को एक नई सारगर्भित दिशा प्रदान की है, अपितु इस धारणा को प्रतिष्ठापित किया है कि संस्कृत भाषा में निपुणता प्राप्त किये बिना भी प्राकृत भाषा का अध्ययन स्वतंत्र रूप से किया जा सकता है।

284. प्राकृतशब्दानुशासन : त्रिविक्रम

त्रिविक्रम 13वीं शताब्दी के वैयाकरण थे। उन्होंने जैन शास्त्रों का अध्ययन किया था तथा कवि भी थे। यद्यपि उनका कोई काव्यग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है। त्रिविक्रम ने 'प्राकृत शब्दानुशासन' में प्राकृत सूत्रों का निर्माण किया है तथा स्वयं उनकी वृत्ति भी लिखी है-

प्राकृत पदार्थसार्थप्राप्त्यै निजसूत्रमार्गमनुजिगमिषताम्।
वृत्तिर्यथार्थ सिद्धयै त्रिविक्रममेणागमक्रमात्क्रियते ॥ 9 ॥

इन दोनों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन एवं प्रकाशन डॉ. पी. एल. वैद्य ने सोलापुर से 1954 में किया है। यद्यपि इससे पूर्व भी मूलग्रन्थ का कुछ अंश 1896 एवं 1912 में प्रकाशित हुआ था। किन्तु यह ग्रन्थ को पूरी तरह प्रकाश में नहीं लाता था। अतः वैद्य ने कई पाण्डुलिपियों के आधार पर ग्रन्थ का वैज्ञानिक संस्करण प्रकाशित किया है। इसके पूर्व वि. स. 2007 में जगन्नाथ शास्त्री होशिंग ने भी मूलग्रन्थ और स्वोपज्ञवत्ति को प्रकाशित किया था। इसमें भूमिका संक्षिप्त है, किन्तु परिशिष्ट में अच्छी सामग्री दी गई है।

प्राकृत शब्दानुशासन में कुल तीन अध्याय हैं। प्रत्येक अध्याय में 4-4 पाद हैं। पूरे ग्रन्थ में कुल 1036 सूत्र हैं। यद्यपि त्रिविक्रम ने इस ग्रन्थ के निर्माण में हेमचन्द्र का ही अनुकरण किया है, किन्तु कई बातों में नयी उद्भावनाएं भी हैं। प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय अध्याय के प्रथम पाद में प्राकृत का विवेचन है। तीसरे अध्याय के दूसरे पाद में शौरसेनी (1-26), मागधी (27-42), पैशाची (43-63) तथा चूलिका पैशाची (64-67) का अनुशासन किया गया है। ग्रन्थ के इस तीसरे अध्याय के तृतीय और चतुर्थ पादों में अपभ्रंश का विवेचन है।

त्रिविक्रम ने अपने प्राकृत व्याकरण में ह, दि, स और ग आदि नयी संज्ञाओं का निरूपण किया है तथा हेमचन्द्र की अपेक्षा देशी शब्दों का संकलन अधिक किया है। हेमचन्द्र ने एक ही सूत्र में देशी शब्दों की बात कही थी, क्योंकि उन्होंने 'देशीनाममाला' अलग से लिखी है। जबकि त्रिविक्रम ने 4 सूत्रों में देशी शब्दों का नियमन किया है। प्राकृत शब्दानुशासन में अनेकार्थ शब्द भी दिये गये हैं। यह प्रकरण हेम की अपेक्षा विशिष्ट है। त्रिविक्रम के इस ग्रन्थ पर स्वयं लेखक की वृत्ति के अतिरिक्त अन्य दो टीकाएं भी लिखी गई हैं। लक्ष्मीधर की 'षड्भाषाचन्द्रिका' एवं सिंहराज का 'प्राकृत रूपावतार' त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सुबोध बनाते हैं।

285. प्राकृत शिलालेख

प्राकृत भाषा एवं साहित्य के अध्ययन के लिए शिलालेखी साहित्य की जानकारी महत्त्वपूर्ण है। लिखित रूप में प्राकृत भाषा का सर्वाधिक प्राचीन साहित्य शिलालेखी साहित्य के रूप में ही उपलब्ध है। यह साहित्य कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जितना भी शिलालेखी साहित्य आज उपलब्ध है, उसमें प्राकृत के शिलालेख सर्वाधिक प्राचीन हैं। प्राकृत के शिलालेखों की महत्ता इस बात से भी बढ़ जाती है कि यह साहित्य किसी व्यक्ति विशेष, राजा, महात्मा या योद्धा के यशोगान या स्तुति से सम्बन्धित नहीं है, अपितु इन शिलालेखों द्वारा मानवता के प्रकाश में जीवन मूल्यों की सुन्दर प्रतिष्ठा की गई है। प्राकृत भाषा में उत्कीर्ण ये शिलालेख सामाजिक प्रगति, धार्मिक सहिष्णुता एवं शान्ति का ही संदेश देते हैं। प्राकृत साहित्य एवं प्राकृत भाषा के प्राचीनतम रूप के अध्ययन की दृष्टि से भी यह साहित्य प्रामाणिक है, क्योंकि शिलापट्टों पर उत्कीर्ण होने के कारण इस साहित्य में किसी प्रकार के परिवर्तन एवं संशोधन की संभावना नहीं होती है। यह समय के शाश्वत प्रवाह में यथावत स्थिर है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह हमारी अमूल्य धरोहर है। शिलालेखी साहित्य में अशोक के शिलालेख प्राचीनतम हैं। उसके पश्चात् ईसा की पहली शताब्दी में लिखा खारवेल का हाथीगुम्फा लेख, उदयगिरि-खण्डगिरि के लेख, आन्ध्र राजाओं के प्राकृत शिलालेख, नासिक में

उत्कीर्ण वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि का शिलालेख आदि भी प्राप्त होते हैं। इस प्रकार ईसा की चौथी शताब्दी तक के अनेक प्राकृत शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ एक पंक्ति के हैं तथा कुछ विस्तृत हैं।

286. प्राकृत सट्टक

भारतीय साहित्य की नाट्य परम्परा में सट्टक साहित्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सट्टक साहित्य का सम्बन्ध प्राय: लोकजीवन की विविध प्रवृत्तियों से होता है। नृत्य द्वारा इसका अभिनय किया जाता है। इसका उद्देश्य लोकनृत्यों, चर्चरी, आश्चर्यजनक घटनाओं तथा शृंगार के विभिन्न आयामों द्वारा लोक अनुरंजन करना होता है।

सट्टक शब्द देशी है, जो बाद में संस्कृत में रूढ़ हो गया। सट्टक शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। कर्पूरमंजरी में सट्टक की परिभाषा इस प्रकार दी गई है –

सो सट्टओ त्ति भण्णइ दूरं जो, णाडिआइं अणुहरइ।
किं उण एत्थ पवेसअविक्कंभाइं न केवलं होंति॥ (1.6)

अर्थात् – सट्टक वह कहा जाता है, जो नाटिका का अनुसरण करता है, किन्तु इसमें प्रवेशक और विश्कम्भक नहीं होते हैं। यद्यपि आचार्य भरत ने नाट्यशास्त्र में सट्टक का उल्लेख नहीं किया था, परन्तु नाट्यशास्त्र के टीकाकार अभिनवगुप्त (10वीं शताब्दी) ने अपनी टीका में सट्टक को नाटिका के समान ही बताया है। 12वीं शताब्दी के आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में सट्टक को परिभाषित करते हुए कहा है कि सट्टक नाटिका के समान होता है। इसमें प्रवेशक एवं विश्कम्भक नहीं होते हैं तथा सट्टक की रचना अकेले प्राकृत भाषा में ही होती है, नाटिका की तरह संस्कृत एवं प्राकृत दोनों में नहीं। आधुनिक विद्वानों में डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने चन्द्रलेखा सट्टक की प्रस्तावना में सट्टक को द्राविड़ भाषा का शब्द मानते हुए उसकी सुन्दर व्याख्या की है। उन्होंने नृत्य युक्त नाटकीय प्रदर्शन को सट्टक की संज्ञा दी है।

विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर डॉ. नेमिचन्द्रशास्त्री ने सट्टक की निम्न विशेषताओं की ओर संकेत किया है -

1. सट्टक में चार जवनिकाएँ होती हैं।
2. कथावस्तु कल्पित होती है और सट्टक का नामकरण नायिका के आधार पर होता है।
3. प्रवेशक और विष्कंभक का अभाव होता है।
4. अद्भुत रस का प्राधान्य रहता है।
5. नायक धीर ललित होता है।
6. पटरानी गम्भीरा और मानिनी होती है। इसका नायक के ऊपर पूर्ण शासन रहता है।
7. नायक अन्य नायिका से प्रेम करता है, पर महिशी उस प्रेम में बाधक बनती है। अन्त में उसी की सहमति से दोनों में प्रणय-व्यापार सम्पन्न होता है।
8. स्त्री पात्रों की बहुलता होती है।
9. प्राकृत भाषा का आद्योपान्त प्रयोग होता है।
10. कैशिकी वृत्ति के चारों अंगों द्वारा चार जवनिकाओं का गठन किया जाता है।
11. नृत्य की प्रधानता रहती है।
12. शृंगार का खुलकर वर्णन किया जाता है।
13. अन्त में आश्चर्यजनक दृश्यों की योजना की जाती है।

287. प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ विदेशों में

विदेशी विद्वानों ने प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थों का विद्वत्तापूर्ण सम्पादन भी किया है। हल्टजश्च ने सिंहराज के प्राकृत रूपावतार का सम्पादन किया, जो सन् 1909 में लन्दन में छपा। इअसी समय पीटर्सन का **वैदिक संस्कृत एण्ड प्राकृत**, एफ. ई. पर्जिटर का **चूलिका पैशाचिक प्राकृत**, आर शिमदित का **एलीमेण्टर बुक डेर शौरसेनी**, **बाल्टर शुब्रिग का प्राकृत डिचटुंग उण्ड प्राकृत मैमेनीक**, एल.डी. बर्नेट का **ए प्ल्यूरल फार्म इन द प्राकृत आफ खेतान** आदि गवेषणात्मक कार्य प्राकृत भाषाओं के अध्ययन के सम्बन्ध में प्रकाश में आये।

288. प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली

बिहार सरकार ने 1955 ई. में वैशाली नगर के समीप वासुकुण्ड (भगवान महावीर की जन्मस्थली) में "रिसर्च इन्स्टीट्यूट ऑफ प्राकृत, जैनालाजी एवं अहिंसा" की स्थापना की थी। इस प्राकृत शोधसंस्थान का प्रमुख उद्देश्य प्राकृत एवं जैनविद्या में अध्ययन एवं शोधकार्य को विकसित करना है। देश में प्राकृत एवं जैनविद्या में एम.ए. और पीएच.डी. स्तर का शिक्षण कार्य इसी शोध संस्थान के द्वारा प्रारम्भ हुआ। बिहार विश्वविद्यालय के एक शोधसंस्थान के रूप में यह इन्स्टीट्यूट संचालित हो रहा है। विगत पचास वर्षों में अनेक पीएच.डी. प्राप्त विद्वान् यहाँ से निकले हैं। महत्त्वपूर्ण प्राकृत ग्रन्थों का यहाँ से प्रकाशन हुआ है। वैशाली इन्स्टीट्यूट रिसर्च बुलेटिन भी इस संस्थान से प्रकाशित हो रहा है।

289. प्राकृत साहित्य का इतिहास

डॉ. जगदीशचन्द्र जैन ने सन् 1959 में प्राकृत साहित्य का इतिहास नामक पुस्तक का लेखन किया, जो चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से प्रकाशित है। सन् 1985 में इसका दूसरा संस्करण भी प्रकाशित हुआ है। इसमें प्राकृत भाषाओं का वर्गीकरण विभिन्न प्राकृतों का स्वरूप, जैन आगम साहित्य का समीक्षात्मक विवेचन, आगमों का व्याख्या साहित्य, दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीन प्राकृत ग्रन्थों का विवरण, कर्मसिद्धान्त एवं दार्शनिक प्राकृत ग्रन्थों का परिचय, प्राकृत कथा साहित्य का मूल्यांकन, प्राकृत चरित साहित्य, प्राकृत काव्य साहित्य का परिचय तथा संस्कृत नाटक ग्रन्थों में प्राकृत आदि विषयों पर सप्रमाण और तुलनात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। प्राकृत व्याकरण छन्द, कोश, अलंकार, ज्योतिष के ग्रन्थो का परिचय भी इस इतिहास ग्रन्थ में है। प्राकृत के विद्यार्थियों, विद्वानों एवं सम्पादकों के लिए डॉ. जैन का यह ग्रन्थ आधारभूत ग्रन्थ है।

290. प्राकृत साहित्य में सामाजिक जीवन

आगम ग्रन्थों की इन कथाओं में मौर्य-युग एवं पूर्व गुप्तयुग के भारतीय जीवन का चित्रण हुआ है। तब तक चतुर्वर्ण-व्यवस्था व्यापक हो चुकी थी। इन कथाओं में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्रों के भी कई उल्लेख हैं। ब्राह्मण के लिए माहण शब्द का प्रयोग अधिक हुआ है। महावीर को भी माहण और महामाहण

कहा गया है। उत्तराध्ययन में ब्राह्मणों के यज्ञों का भी उल्लेख है, जिन्हें आध्यात्मिक यज्ञों में बदलने की बात इन जैन कथाकारों ने कही है। क्षत्रियों के लिए खत्तिय शब्द का यहाँ प्रयोग हुआ है। इन कथाओं में क्षत्रिय राजकुमारों की शिक्षा एवं दीक्षा का भी वर्णन है। वैश्यों के लिए इभ्य, श्रेष्ठी, कोटुम्बिक, गाहावई आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है। हरिकेशं चांडाल एवं चित्त-सम्मभूत मातंगों की कथा के माध्यम से एक ओर जहाँ उनके विद्या पारंगत एवं धार्मिक होने की सूचना है वहाँ समाज में उनके प्रति अस्पृश्यता का भाव भी स्पष्ट होता है। चाण्डालों के कार्यों का वर्णन भी अन्तकृददशा की एक कथा में मिलता है।

इन कथाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन पारिवारिक जीवन सुखी था। रोहिणी की कथा संयुक्त परिवार के आदर्श को उपस्थित करती है, जिसमें पिता मुखिया होता था (ज्ञाता 18) अपनी संतान के लिए माता के अटूट प्रेम के कई दृश्य इन कथाओं में हैं। मेघकुमार की दीक्षा की बात सुनकर उनकी माता अचेत हो गई थी। राजा पूर्णनन्दी की कथा से ज्ञात होता है कि वह अपनी माँ का अनन्य भक्त था। चूलनीपिता की कथा में मातृ-वध का विघ्न उपस्थित किया है। उसमें माता भद्रा सार्थवाही के गुणों का वर्णन है।

आगमों की कथाओं में विभिन्न सामाजिक जनों का उल्लेख है। यथा-तलवारमांडलिक, कोटुम्बिक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति, सार्थवाह, महासार्थवाह, महागोप, सायात्रिक, नौवणिक, सुवर्णकार, चित्रकार, गाहावई, सेवक आदि। गजसुकुमार की कथा से ज्ञात होता है कि परिवार के सदस्यों के नामों में एकरूपता रखी जाती थी।

इन कथाओं से यह भी ज्ञात होता है कि उस समय समाज सेवा के अनेक कार्य किये जाते थे। नंद मणिकार की कथा से स्पष्ट है कि उसने जनता के लिए एक ऐसी प्याऊ (वापी) बनवाई थी, जहाँ छायादार वृक्षों के वनखण्ड, मनोरंजक चित्रासभा, भोजनशाला, चिकित्सा-शाला, अलंकार सभा आदि की व्यवस्था थी। समाज-कल्याण की भावना उस समय विकसित थी। राजा प्रदेशी ने भी श्रावक बनने का निश्चय करके अपनी सम्पत्ति के चार भाग किये थे। उनमें से परिवार के पोषण के अतिरिक्त एक भाग सार्वजनिक हित के कार्यों के लिए था, जिससे दानशाला आदि स्थापित की गई थी। इन कथाओं में पात्रों के अपार वैभव

का वर्णन है। देशी व्यापार के अतिरिक्त विदेशों से व्यापार भी उन्नत अवस्था में था। अतः समाज की आर्थिक स्थिति अच्छी थी। वाणिज्य व्यापार एवं कृषि आदि के इतिहास के लिए इन कथाओं में पर्याप्त सामग्री प्राप्त है। समुद्र-यात्रा एवं सार्थवाह-जीवन के सम्बन्ध में तो इन जैन कथाओं से ऐसी जानकारी मिलती है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है। बुद्धकालीन समाज की तुलना के लिए भी यह सामग्री महत्त्वपूर्ण है।

291. प्राकृत साहित्य में राज्य-व्यवस्था

प्राकृत साहित्य में राज्य-व्यवस्था सम्बन्धी विविध जानकारी उपलब्ध है। चम्पा के राजा कूणिक (अजातशत्रु) की कथा से उसकी समृद्धि और राजकीय गुणों का पता चलता है। राज्यपद वंश-परंपरा से प्राप्त होता था। राजा दीक्षित होने के पूर्व अपने पुत्रों को राज्यगद्दी पर बैठाता था। किन्तु उदायण राजा की कथा से ज्ञात होता है कि उसने अपने पुत्र के होते हुए भी अपने भानजे को राजपद सौंपा था। नन्दीवर्धन राजकुमार की कथा से ज्ञात होता है कि यह अपने पिता के विरुद्ध षड्यन्त्र करके राज्य पाना चाहता था। राजभवनों एवं राजा के अन्तःपुरों के भीतरी जीवन के दृश्य भी इन कथाओं में प्राप्त हैं। अन्तकृद्दशा में कन्या अन्तःपुर का भी उल्लेख है। राज्य-व्यवस्था में राजा युवराज, मन्त्री सेनापति, गुप्तचर, पुरोहित श्रेष्ठी आदि व्यक्ति प्रमुख होते थे। डॉ. जगदीश चन्द्र जैन ने आगम कथा साहित्य के आधार पर प्राचीन राज्य व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है। अपराध एवं दण्ड व्यवस्था के लिए इस साहित्य में इतनी सामग्री उपलब्ध है कि उससे प्राचीन दण्ड व्यवस्था पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे जा सकते हैं। जैन कथाकारों ने राजकुलों एवं राजाओं का अपनी कथाओं के उल्लेख प्रभाव उत्पन्न करने के लिए किया है। किन्तु कई स्थानों पर तो उनका ऐतिहासिक महत्त्व भी है।

292. प्राकृत साहित्य में धार्मिक मत-मतान्तर

आगमों की साहित्य में जैन धर्म के विविध आयाम तो उद्घाटित हुए हैं, साथ ही अन्य धर्मों एवं मतों के सम्बन्ध में इनसे विविध जानकारी प्राप्त होती है। आर्द्रकुमार की कथा से शाक्य श्रमणों के सम्बन्ध में सूचना मिलती है। धन्ना सार्थवाह की कथा में विभिन्न विचारधाराओं को मानने वाले परिव्राजकों के

उल्लेख है। यथा- चरक, चौरिक, चर्मसंडिक, भिच्छुण्ड, पाण्डुरंग, गौतम, गौवृती, गृहधर्मी, धर्म चिन्तक, अविरुद्ध, बुद्ध, श्रावक, रक्तपट आदि। व्याख्या साहित्य में जाकर इनकी संख्या और बढ़ जाती है। इन सबकी मान्यताओं को यदि व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया जाए तो कई धार्मिक और दार्शनिक विचारधाराओं का पता चल सकता है। संकट के समय में कई देवताओं को लोग स्मरण करते थे। उनके नाम इन कथाओं में मिलते हैं। आगे चलकर तो एक ही प्राकृत कथा में विभिन्न धार्मिक एवं उनके मत एकत्र मिलने लगते हैं। प्राकृत की इन कथाओं में लोक-जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतः इनमें लोक देवताओं और लौकिक धार्मिक अनुष्ठानों की भी पर्याप्त सामग्री प्राप्त है।

293. प्राकृत साहित्य में कला

आगमों की प्राकृत कथाओं कुछ कथा-नायकों की गुरूकुल शिक्षा के वर्णन हैं। मेघकुमार की कथा में 72 कलाओं के नामोल्लेख हैं। अन्य कथाओं में भी इनका प्रसंग आया है। श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री ने इन सभी कलाओं का परिचय अपनी भूमिका में दिया है। इन 72 कलाओं के अन्तर्गत भी संगीत, वाद्य, नृत्य, चित्रकला आदि प्रमुख कलाएँ हैं, जिनमें जीवन में बहुविध उपयोग होता है। इस दृष्टि से राजा प्रदेशी की कथा अधिक महत्त्वपूर्ण है। उसमें बत्तीस प्रकार की नाट्यविधियों का वर्णन है। टीका साहित्य में उनके स्वरूप आदि पर विचार किया गया है। ज्ञाताधर्मकथा में मल्ली की कथा, चित्रकला की प्रभूत सामग्री उपस्थित करती है। मल्ली की स्वर्णमयी प्रतिमा का निर्माण मूर्तिकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। स्थापत्यकला की प्रचुर सामग्री राजा प्रदेशी की कथा में प्राप्त है। राजाओं के प्रासाद वर्णनों एवं श्रेष्ठियों के वैभव के दृश्य उपस्थित करने आदि में भी प्रासादों एवं क्रीड़ाग्रहों के स्थापत्य का वर्णन किया गया है। इस सब सामग्री को एक स्थान पर एकत्र कर उसको प्राचीन कला के सन्दर्भ में जाँचा-परखा जाना चाहिए। यक्ष-प्रतिमाओं और यक्ष-गृहों के सम्बन्ध में तो जैन कथाएँ ऐसी सामग्री प्रस्तुत करती है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

294. प्राकृत साहित्य में भूगोल

प्राकृत की इन कथाओं का विस्तार केवल भारत में ही नहीं, अपितु बाहर

के देशों तक रहा है। इन कथाओं के कथाकार स्वयं सारे देश को अपने पदों से नापते रहे हैं। अतः उन्होंने विभिन्न जनपदों, नगरों, ग्रामों, वनों एवं अटवियों की साक्षात् जानकारी प्राप्त की है। उसे ही अपनी कथाओं में अंकित किया है। कुछ पौराणिक भूगोल का भी वर्णन है, किन्तु अधिकांश देश की प्राचीन राजधानियों, प्रदेशों, जनपदों एवं नगरों से सम्बन्धित वर्णन है, कौशल आदि जनपदों, अयोध्या, चम्पा, वाराणसी, श्रावस्ती, हस्तिनापुर, द्वारिका, मिथिला, साकेत, राजगृह आदि नगरों के उल्लेखों को यदि सभी कथाओं से एकत्र किया जाए तो प्राचीन भारत के नगर एवं नागरिक जीवन पर नया प्रकाश पड़ सकता है। आधुनिक भारत के कई भौगोलिक स्थानों के इतिहास में इससे परिवर्तन आने की गुंजाइश है। इस दिशा में कुछ विद्वानों ने कार्य भी किया है। किन्तु उसमें इन कथाओं की सामग्री का भी उपयोग होना चाहिए। जैन कथाओं के भूगोल पर स्वतन्त्र पुस्तक भी लिखी जा सकती है।

295. प्राकृत साहित्य में लोक जीवन

साहित्य का लोकजीवन में सम्बन्ध बनाये रखने के लिए प्राकृत की प्रत्येक अवस्था एवं विधा ने कार्य किया है। जनसाधारण के निश्चल हृदय से जो भाषा फूटती है उसमें और उसके दैनिक सरल व्यवहारों में कोई अन्तर होने की सम्भावना नहीं है। प्राकृत साहित्य के लोक सांस्कृतिक से ओत-प्रोत होने में एक कारण यह भी है कि प्रायः प्राकृत साहित्य का सम्बन्ध लोकधर्म से रहा है। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि श्रमणधर्म ग्राम्य-जीवन प्रधान संस्कृति का पोषक रहा है। अतः उसके आचार्यों ने लोकभाषाओं को अपनाया। साहित्य में साधारण कोटि के चारित्रों को उभार कर अभिजात वर्ग का नायकत्व समाप्त किया तथा धार्मिक क्षेत्र में इन्द्र आदि देवताओं को तीर्थंकरों का भक्त बताकर मनुष्य जन्म को देवत्व से श्रेष्ठता प्रदान की। इतना ही नहीं, प्राकृत साहित्य के माध्यम से सभी लोककलाओं की सुरक्षा हुई है।

लोकसंस्कृति के अन्तर्गत यद्यपि अनेक तत्त्व समाहित होते हैं। प्राकृत साहित्य ने लोकसंस्कृति के इन प्रमुख तत्त्वों को उभारकर प्रस्तुत किया है- 1. लोकसाहित्य 2. लोकभाषा 3. लोकजीवन 4. लोकविश्वास 5. लोककला तथा

6. लोकचिकित्सा।

लोक साहित्य लोकवार्ता का एक महत्त्वपूर्ण भाग है। इसके अन्तर्गत यद्यपि विद्वानों ने अनेक विषयों को संग्रहीत किया है, किन्तु वे सब लोक की विभिन्न अभिव्यक्तियां ही हैं। अत: व्यक्तित्व से रहित समान रूप से समाज की आत्मा को व्यक्त करनेवाली मौलिक अभिव्यक्तियाँ लोक साहित्य की श्रेणी में आती हैं। इन अभिव्यक्तियों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है-. धर्मगाथा (लोकगीत), लोककथा, लोकोक्तियाँ, पहेलियाँ आदि। प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य में इन सभी तत्त्वों का समावेश है।

धर्मगाथा- प्राकृत साहित्य का गाथा से निकट का सम्बन्ध है। उसका बहुत सा भाग गाथाबद्ध ही है। साहित्य रचना में गाथा का प्रयोग प्राकृत साहित्यकारों ने लोक से ही ग्रहण किया है। क्योंकि लोक में सरलता से गाये जाने और कंठ तक स्मरण बनाए रखने में पद्यों का प्रयोग बहुप्रचलित था। प्राकृत की गाथाओं की यह अर्थवत्ता ही आज के लोकगीतों की उत्सभूमि है। धीरे-धीरे गाथाओं में लोक अनेक आख्यान भी गाये जाने लगे। गाथाओं में निबद्ध अनेक प्राकृत लोककथाएँ उपलब्ध हैं। इन्हीं प्राकृत कथाओं के गाथारूप से मध्यकालीन व आधुनिक लोकगीतों से आख्यान कहे जाने की परम्परा विकसित हुई प्रतीत होती है, जिन्हें आज भी लोकगाथा के नाम से पुकारा जाता है।

लोककथा- प्राकृत एवं अपभ्रंश कथा साहित्य में लोककथा के अनेक तत्त्व विद्यमान हैं। क्योंकि इन कथाओं की उत्सभूमि ही लोकजीवन है। साहित्य का लोक सम्बन्ध बना रहे इसके लिए प्राकृत कथाकारों ने जो कुछ भी कहा है उसे समूह की वाणी बनाकर और जन-समूह में घुल मिलकर। यही कारण है कि उनकी कथाओं में लोकधर्म, लोकचित्र और लोकभाषा लोककथा के ये तीव्र तथ्य विद्यमान हैं व इनकी प्रचुरता का कारण यह भी है कि प्राकृत कथाकारों का मुख्य उद्देश्य जन जीवन के नैतिक और आध्यात्मिक स्तर को ऊँचा उठाना था। अत: उन्होंने बिना किसी भेद-भाव के लोक जीवन में प्रचलित कथाओं को ग्रहण कर उन्हें धार्मिक एवं उपदेशात्मक शैली में प्रस्तुत कर दिया, किन्तु इससे लोककथाओं की मौलिकता में कोई अन्तर नहीं आया उनके स्वरूप में कुछ जुड़ा ही।

प्राकृत कथाओं में लोकतत्त्वों का समावेश क्रमशः हुआ है। आगमकालीन कथाएँ यद्यपि बीज रूपा हैं विकसित नहीं। फिर भी उनके कथा-बीजों में लोकतत्त्वों का पुट है। ज्ञाताधर्मकथा की धरणी का दोहद, विजयचोर, सागरदत्त और वेश्या, धन्ना सेठ और उसकी पतोहू आदि कथाएँ लोककथाओं का पूरा प्रतिनिधित्व करती है। महारानी धारिणी देवी ने अपने दोहद में असमय में ही वर्षाकालीन दृश्य देखने की इच्छा प्रगट की थी, जो कथा के अन्त में पूरी की गई। कथा का यह स्वरूप लोककथा शैली का है। प्रारम्भ में अनहोनी जैसी बात को समस्या के रूप में रखकर पाठक में कौतुहल उत्पन्न किया गया है और बाद में उसकी पूर्ति की गई है। टीकायुगीन कथाओं में नीतिकथा और लोककथा के तत्त्व अधिक मिलने लगते हैं, इन कथाओं की नीति उन्मुखता पूर्णतः व्यापक जीवन के संदर्भ में घटित होती है, इसलिए वह सार्वभौमिक और साधारण जन आस्वाद्य है।

स्वतन्त्र प्राकृत कथा ग्रन्थों में लौकिक तत्त्व प्रचुर मात्रा में समाविष्ट हैं, इनमें अनेक लोककथाएँ स्वतन्त्र रूप से निर्मित की गई हैं। वसुदेवहिण्डी विशुद्ध लोककथा ग्रन्थ है। इसकी लोक कथाएँ मनोरंजन के साथ-साथ ज्ञानवर्धन भी करती हैं। इसके शीलमती, धनश्री, विमलसेना, ग्रामीण गाड़ीवान वसुदत्ताख्यान रिपुदमन आदि आख्यान सुन्दर लोक कथानक हैं। इनमें लोक कथाओं के सभी गुण और तत्त्व विद्यमान हैं।

प्राकृत कथा साहित्य की सम्पन्नता का युग 8-9वीं सदी है, इस समय कथानक शिल्प और भाषा इन तीनों का पर्याप्त विकास हुआ है। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाओं का कलात्मक संश्लेष इस युग की पहली चेतना है। अतः स्वाभाविक रूप से लोक प्रचलित अनेक कथाएँ एवं कथातत्त्व प्राकृत व अपभ्रंश कथाओं में समाहित हुए हैं। हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा और उद्योतनसूरि की कुवलयमाला कहा में लोककथा के पर्याप्त गुण धर्म विद्यमान हैं। लोकभाषा में लोक परम्परा से प्राप्त कथानक सूत्रों को संघटित कर लोक मानस को आन्दोलित करनेवाली लोकानुरंजक कथाएँ लिखकर इन प्राकृत कथाकारों ने लोककथा के क्षेत्र में अनुपम योगदान दिया है। विश्लेषण करने पर इन प्राकृत कथाकृतियों में

निम्रांकित लोककथा के तत्त्व उपलब्ध हैं-1. लोकमंगल की भावना 2. धर्म श्रद्धा 3. कुतूहल 4. अमानवीय तत्त्व 5. मनोरंजन 6. अप्राकृतिकता 7. अंतिप्राकृतिकता 8. अन्धविश्वास 9. अनुश्रुत मूलकथा 10. हास्य विनोद 11. साहस का निरूपण 12.जनभाषा 13. मिलन-बाधाएँ 14. प्रेम के विभिन्न रूप 15. उपदेशात्मकता इत्यादि।

लोककथा का प्रधान तत्त्व कथानकरूढि है। कथानकरूढि के आदि स्त्रोत के रूप में लोक प्रचलित अनेक संस्कार विश्वास एवं आचारों को स्वीकार किया जा सकता है। प्राकृत कथाओं में अनेक कथारूढ़ियों का प्रयोग हुआ है। यथा- (1) लोक प्रचलित विश्वासों से सम्बद्ध (2) अमानवीय शक्तियों से सम्बद्ध (3)अतिमानवी प्राणियों से सम्बद्ध (4) काल्पनिक रूढियाँ (5) सामाजिकता की द्योतक रूढियां (6) मन्त्र-तन्त्र सम्बन्धी (7) पशु-पक्षी सम्बन्धी तथा (8)आध्यात्मिक अभिप्राय आदि। ये रूढियाँ भारतीय साहित्य में हर जगह मिल जायेंगी, किन्तु प्राकृत कथाओं की विशेषता यह है कि उन्होंने लोक जीवन में से अनेक ऐसी कथानक-रूढ़ियों का निर्माण किया है, जिनका अब तक साहित्य में प्रयोग नहीं हुआ था। अतः अभिजात साहित्य तक लोक संस्कृति को पहुँचाने में प्राकृत-कथा साहित्य द्वारा किया गया प्रयत्न सर्वप्रथम है।

अपभ्रंश कथाओं ने प्राकृत साहित्य की अनेक लोककथाओं को नया रूप प्रदान किया गया है। भविसयत्तकहा का सांस्कृतिक अध्ययन डॉ. देवेन्द्र कुमार शास्त्री ने प्रस्तुत किया है, जिसमें अपभ्रंश साहित्य में प्रयुक्त लोक तत्त्वों का भी विवेचन किया गया है। प्राकृत एवं अपभ्रंश लोककथाओं का अन्य भारतीय लोककथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन अपेक्षित है। डॉ. सत्येन्द्र ने कुछ कथाओं की लोकयात्रा का विवेचन प्रस्तुत कर इस क्षेत्र में मार्ग प्रशस्त किया है।

लोक साहित्य में लोकोक्तियों, पहेलियों, मुहावरों आदि का विशेष महत्त्व है, इनके द्वारा लोकचिन्तन धारा का प्रतिनिधित्व होता है। प्राकृत साहित्य में इनकी भरमार है। उदाहरण स्वरूप कुछ दृष्टव्य है-

1. मरइ गुडेण चियं तस्स विसं दिज्जए किं व।

-जो गुड़ देने से मर सकता है उसे विष देने की क्या आवश्यकता है।

2. किं न सम्भवन्ति लच्छिनिलयेसु कमलेसु किमओ –(समराइच्च 4, 268)

क्या सुन्दर कमलों में कीड़े नहीं होते?

3. हत्थठियं कंकंणयं को भण जोएह आरिसए? – (ज्ञानपंचमी कहा)

हाथ कंगन को आरसी क्या?

4. न हि गेहम्मि पलित्ते अवडं खणिउं तरइ कोई – (भव भावना)

घर में आग लगने पर क्या कोई कुँआ खोद सकता है?

296. प्राकृत साहित्य में ग्रामीण जीवन

प्राकृत कथाओं में प्रायः मध्यमवर्गीय पात्रों के लोक जीवन वातावरण में प्रस्तुत किया गया है, अतः ग्रामीण जीवन के विविध दृश्य इस साहित्य में देखने को मिलते हैं, उन्हें प्रमुख पांच भागों में विभक्त कर सकते हैं– (1) ग्राम्य वातावरण (2) पारिवारिक जीवन (3) रीति-रिवाज (4) त्यौहार-पर्व एवं (5) लोकानुरंजन। इनमें से प्रत्येक के कुछ दृश्य उपस्थित हैं–

ग्राम्य वातावरण – गाहासत्तसई प्राकृत कृति गांवों के उल्लास और स्वतन्त्र जीवन का पूर्ण प्रतिनिधित्व करती है। एक गांव की सुबह का वर्णन देखें – प्रातःकाल होने पर गाय चरने चल देतीं, खोंचे वाले अपने व्यापार के लिए निकल पड़ते हैं, लुहार अपने काम में लग जाते हैं, किसान अपने खेतों में चले जाते हैं, माली फूलों की टोकरी ले गांव में निकल पड़ता है, राहगीर रास्ता चलने लगते हैं और तेली कोल्हुओं में तेल पेरने लगते हैं। दूसरा वर्णन गांव में पड़े दुष्काल का है। बारह वर्ष तक अनावृष्टि हुई, उससे औषधियां नहीं पनपीं, वृक्ष नहीं फले, फसल व्यर्थ हो गई, पशुओं का चारा नहीं उगा। केवल पवन चलता रहा, धूल उड़ती रही, पृथ्वी कंपती रही, मेघ गरजते रहे, उल्काएं पड़ती रहीं। दिशाएँ गूंजती रहीं और बारह सूर्यों के तेज जैसा कठोर ताप वाली गर्मी पड़ती रही, वर्षा ऋतु में गांव में मूसलाधार पानी बरस रहा है। झोपड़ी में टप-टप पानी चू रहा है। किसान की पत्नी अपने प्यारे बच्चे को बचाने के लिए उस पर झुक कर पानी की बूंदें अपने सिर पर ले रही है, किन्तु अपनी दरिद्रता के लिए रोती हुई उसे नहीं पता कि वह अपने नयनों से झरते जल से बच्चे को भिंजो रही है।

297. प्राकृत साहित्य और लोक भाषा

समस्त प्राकृत साहित्य की भाषा लोकभाषा है। लोकजीवन की जब बात कहनी है तो उसी भाषा में कहना उपयुक्त होगा जिसे जन मानस हृदयंगम कर सके। प्राकृत कथाकारों ने देशी भाषा को विशेष महत्त्व दिया है। कुवलयमालाकहा पढ़ने का अधिकारी उसको समझा गया है जो देशी भाषा का अच्छा जानकार हो। यही कारण है कि इस ग्रन्थ में जैसे पात्रों की रचना है, वैसी ही उनकी भाषा। विभिन्न देशों के व्यापारी अपनी-अपनी लोक भाषाओं में बात करते हैं। अन्य प्राकृत ग्रन्थों में भी अनेक ऐसे लोक शब्द मिलते हैं जो आज भी प्रान्तीय जन भाषाओं में प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार प्राकृत साहित्य में लोक साहित्य के उपयुक्त तत्त्व-धर्मगाथा, लोककथा, लोकोक्तियाँ, लोकभाषा आदि प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त लोक संस्कृति के विभिन्न अंगों का समावेश भी इससे हुआ है। सम्पूर्ण प्राकृत साहित्य विभिन्न युगों के लोक जीवन का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है।

298. प्राकृत साहित्य में पारिवारिक जीवन

प्राकृत साहित्य में प्रायः संयुक्त परिवारों का चित्रण प्राप्त होता है, जो लोकजीवन में प्रमुख रहा है। परिवार के सभी लोग एक ही स्थान पर रहते, एक ही जगह पकाया हुआ भोजन करते तथा सर्व सामान्य जमीन-जायदाद का उपभोग करते। स्त्रियाँ छरने-पछारने, पीसने-कूटने, रसोई बनाने, पानी भरने और बर्तन मांजने का काम करती थीं। मिलकर भी रहती और लड़ती झगड़ती भी। इन सबके विवरण प्राकृत की लोकथाओं में हैं। आदर्श गांव की गृहणी का एक चित्र दृष्टव्य है-

भुंजइ भुंजियसेसं सुप्पइ सुप्पम्मि परियणे सयले।
पढमं चेय विबुज्झइ घरस्स लच्छी न सा घरिणी॥

जो बाकी बचा हुआ भोजन करती है, सब परिजनों के सो जाने पर स्वयं सोती है, सबसे पहले उठती है, वह गृहणी ही नहीं, घर की लक्ष्मी है। परिवार की प्रतिष्ठा और पाहुने सत्कार के प्रति उसका कर्त्तव्य देखिए- किसी प्रिय पाहुने के

आ जाने पर उसने अपना मंगलवलय बेच दिया इस प्रकार उस कुल वालिका के दयनीय दशा देखकर सारा गांव रो पड़ा। न मालूम गाँवों के पारिवारिक जीवन के ऐसे कितने चित्र इस साहित्य में उपलब्ध हैं। जन-जीवन को ज्यों का त्यों कथाओं में उतारकर रख दिया गया है। केवल एक उदाहरण पर्याप्त हैं। एक गरीब व्यक्ति का दैनिक-जीवन के प्रति चिन्तन दृष्टव्य है-

मेरे घर में पैसा नहीं है, और लोग उत्सव मनाने में लगे हैं, बच्चे मेरे रो रहे हैं, अपनी घर वाली को मैं क्या दूँ? कुछ भी तो नहीं मेरे पास देने को। मेरे स्वजन-सम्बन्धी अपनी समृद्धि में मस्त हैं, दूसरे धनी लोग भी तिरस्कार ही करते हैं, वे स्थान नहीं देते। आज मेरे घर में घी, तेल, नमक, ईंधन और वस्त्र कुछ भी नहीं है, तौनी (मिट्टी की कुठिया) भी आज खाली है, कुल कुटुम्ब का क्या होगा? घर में कन्या सयानी हो रही है, लड़का अभी छोटा है इसलिए धन कमा नहीं सकता। कुटुम्ब के लोग बीमार हैं और दवा लाने के लिए पास में पैसे नहीं हैं। घरवाली गुस्से से मुँह फुलाए बैठी है, बहुत से पाहुने घर में आये हुए हैं। घर पुराना हो गया है, वह चूता है सब जगह पानी गिर रहा है। मैं करूँ तो क्या करूँ? साहूकार कर्ज और मांगते हैं। कहाँ जाऊँ?

साहित्य में इससे अधिक यथार्थ की अभिव्यक्ति और क्या होगी? प्राकृत के अन्य ग्रन्थों में ननद-भाभज, सास-बहू और देवरानी-जिठानी के झगड़े टंटों का सजीवन वर्णन मिलता है, जिसका लोकजीवन से हमेशा घनिष्ट सम्बन्ध रहा है।

299. प्राकृत में रीति-रिवाज और उत्सव

लोक-जीवन अनेक रीति-रिवाज से भरा होता है, जन्म से लेकर मृत्यु तक कई सामाजिक रीतियां निभानी पड़ती हैं। प्राकृत कथाओं में दोहद, पुत्रजन्म, विवाह, धार्मिक अनुष्ठान आदि अवसरों पर कई परम्पराएँ निभाने का उल्लेख मिलता है। गर्भकाल में दोहद का बहुत महत्त्व था, भिखारिन से लेकर पटरानी तक के दोहद पूरे किये जाते थे, दोहदों के विचित्र प्रकार उपलब्ध होते हैं। कोई पत्नी पति का मांस खाने का दोहद प्रगट कर उसके प्राण संकट में डाल देती थी तो कोई ऐसी भी पत्नी थी कि उससे पूछे जाने पर अपने दोहद में खाली पानी पीने की इच्छा व्यक्त की, जिससे गरीब पति को परेशान न होना पड़े।

पर्व उत्सव प्राकृत ग्रन्थों में अनेक उत्सवों और पर्वों के उल्लेख मिलते हैं। पुण्णभासिणी का उत्सव कौमुदी महोत्सव के नाम से मनाया जाता था। उज्जाणिया-महोत्सव एक प्रकार से वनभोज जैसा था। इट्ठगा नामक एक पर्व में सेवइयाँ बनायी जाती थीं। इसकी तुलना रक्षाबन्धन त्यौहार से की जा सकती है। खेत में हल चलाने के दिन भी पूजा की जाती थी और भात भी खिलाया जाता था। कुछ घरेलू त्यौहार भी मनाये जाते थे, जिनमें श्राद्ध, देवबलि प्रमुख थे। संखडि नाम से एक बड़ा सामूहिक भोज का आयोजन कर उत्सव मनाया जाता था।

300. प्राकृत साहित्य में लोकानुरंजन

लोक जीवन में मनोरंजन के साधन निराले होते हैं। बच्चों के अलग और प्रौढ़ो तथा वृद्धों के अलग। नागरिक जीवन में मनोरंजन के साधनों के अतिरिक्त प्राकृत साहित्य में लोकजीवन में व्यहत मनोरंजन के साधनों का भी उल्लेख मिलता है। पर्व-उत्सव के अतिरिक्त लोग विभिन्न प्रकार के खेल खिलौनों द्वारा अपना मनोविनोद करते थे। कुछ लोक खिलौनों के नाम इस प्रकार हैं- खुल्लय (एक प्रकार की कौड़ी कर्पदक) खट्टय (लाख की गोली), अडोलिया (गिल्ली), तिन्दूस (गेंद), पोतुल्ल (गुड़िया) और साडोल्लय (कपड़े की गुड़िया), सरयत (धनुष), गारहग (बैल का खेल), घटक (छोटा घड़ा बजाने आदि के लिए), डिडिस ओर चेलगोल (कपड़े की गेंद) आदि खिलौने बच्चों का मनोरंजन करते थे। कपड़े की गेंद का खेल गडा गेंद के नाम से आज भी बुंदेलखंड के गांवों में प्रचलित है। इन खिलौनों के अतिरिक्त मल्लयुद्ध, कुक्कटयुद्ध तथा मयूर-पोत युद्ध आदि मनोंरजन के प्रधान साधन थे। लोकजीवन इन्हीं के सहारे जीवन्त बना रहता था।

301. प्राकृत सर्वस्व : मार्कण्डेय

प्राकृत व्याकरणशास्त्र का प्राकृत सर्वस्व एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके ग्रन्थकार मार्कण्डेय प्राच्य शाखा के प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण थे। 1968 में प्राकृत टेक्स्ट सोयायटी अहमदाबाद से प्रकाशित संस्करण में मार्कण्डेय की तिथि 1490-1565 ई. स्वीकार की गयी तथा ग्रन्थकार और उनकी कृतियों के सम्बन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। मार्कण्डेय ने प्राकृत भाषा के चार भेद किये

हैं- भाषा, विभाषा, अपभ्रंश और पैशाची। भाषा के पाँच भेद हैं–महाराष्ट्री, शौरसेनी, प्राच्या, अवन्ती और मागधी। विभाषा के जकारी, चाण्डाली, शबरी, आभीरी और ढक्की ये पाँच भेद हैं। अपभ्रंश के तीन भेद है – नागर, ब्राचड और उपनागर तथा पैशाची के कैकई, पांचाली आदि भेद हैं। इन्हीं भेदोपभेदों के कारण डॉ. पिशल ने कहा है कि महाराष्ट्री जैनमहाराष्ट्री, अर्धमागधी और जैनशौरसेनी के अतिरिक्त अन्य प्राकृत बोलियों के नियमों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए मार्कण्डेय कवीन्द्र का 'प्राकृत सर्वस्व' बहुत मूल्यवान है।

प्राकृत सर्वस्व के प्रारम्भ के आठ पादों में महाराष्ट्री प्राकृत के नियम बतलाये गये हैं। इनमें प्रायः वररुचि का अनुसरण किया गया हैं। नौवें पाद में शौरसेनी और दसवें पाद में प्राच्या का नियमन है। विदूषक आदि हास्य पात्रों की भाषा को प्राच्या कहा गया है। ग्यारहवें पाद में अवन्ती वाल्हीकी का वर्णन है। बारहवें में मागधी के नियम बताये गये हैं। अर्धमागधी का उल्लेख इसी पाद में आया है। इस प्रकार 9 से 12 पादों को भाषाविवेचन का खण्ड कहा जा सकता है। 13वें से 16वें पाद तक विभाषा का अनुशासन किया गया है। जकारी, चाण्डाली, शाबरी आदि विभाषाओं के नियम एवं उदाहरण यहाँ दिये गये हैं। एक सूत्र में ओड्री (उड़िया) विभाषा का कथन है तथा एक में आभीरी का। ग्रन्थ के 17वें एवं 18वें पाद में अपभ्रंश भाषा का तथा 19वें और 20वें पाद में पैशाची भाषा का नियम हुआ है। अपभ्रंश के उदाहरण स्वरूप कुछ दोहे भी दिये गये हैं। इस तरह मार्कण्डेय ने अपने समय तक विकसित प्रायः सभी लोक भाषाओं को, जिनका प्राकृत से घनिष्ठ सम्बन्ध था, अपने व्याकरण में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया है।

मार्कण्डेय ने प्राचीन वैयाकरणों के सम्बन्ध में भी कई तथ्य प्रस्तुत किये हैं। इनमें से शाकल्य एवं कौहल निश्चित रूप से प्राकृत के प्राचीन वैयाकरण रहे होगें, जिनके प्राकृत सम्बन्धी नियमन से प्राकृत व्याकरणशास्त्र समय-समय पर प्रभावित होता रहा है। यद्यपि अभी तक इनके मूल ग्रन्थों का पता नहीं चला है। इस तरह मार्कण्डेय का 'प्राकृत सर्वस्व' कई दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पश्चिमीय प्राकृत भाषाओं की प्रवृत्तियों के अनुशासन के लिए जहाँ हेमचन्द्र का

प्राकृत व्याकरण प्रतिनिधि ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है, वहाँ पूर्वीय प्राकृत की प्रवृत्तियों का नियमन मार्कण्डेय के इस व्याकरण से पूर्णतया जाना जा सकता है। पूर्वीय प्राकृत वैयाकरणों के सम्बन्ध में डॉ. सत्यरंजन बनर्जी ने अपनी पुस्तक में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

इन प्रमुख व्याकरण ग्रन्थों के अतिरिक्त राम शर्मा तर्कवागीश (17वीं शताब्दी) का **प्राकृत कल्पतरु**, शुभचन्द्रसूरी **शब्दचिंतामणि**, रघुनाथ (18वीं शताब्दी) का प्राकृतानंद, देवसुन्दर का प्राकृत युक्ति आदि भी प्राकृत व्याकरण के अच्छे ग्रन्थ हैं, जिनमें प्राकृत भाषा के साहित्यिक स्वरूप का यथार्थ विवेचन प्रस्तुत किया गया है।

302. प्राकृत स्वयं-शिक्षक

प्राकृत स्वयं-शिक्षक के लेखक प्राकृत भाषा के डॉ. प्रेम सुमन जैन हैं। प्राकृत स्वयं-शिक्षक प्राकृत के विद्यार्थियों के लिए सरल एवं सुबोध शैली में लिखी गई कृति है। इसमें वैकल्पिक प्रयोगों से रहित प्राकृत भाषा के स्वरूप को विभिन्न वाक्य-प्रयोगों एवं चार्टों द्वारा समझाया गया है। जिन विद्यार्थियों को बिल्कुल भी संस्कृत या प्राकृत नहीं आती है, वे इस सरल पद्धति से बड़ी ही आसानी से स्वयं ही प्राकृत भाषा का अध्ययन कर सकते हैं और उसे सीख सकते हैं। इस पुस्तक के पाँच संस्करण निकल चुके हैं। इसका अंग्रेजी और कन्नड़ संस्करण भी तैयार हुआ है। डॉ. प्रेम सुमन जैन ने हिन्दी भाषा के माध्यम से शौरसेनी प्राकृत के अध्ययन हेतु **शौरसेनी प्राकृत भाषा एवं व्याकरण** नामक एक शोध ग्रन्थ भी लिखा है।

303. प्राकृत साहित्य में लोक विश्वास

मानव समाज में आदि काल से अनेक प्रकार के ऐसे विश्वास, जो तर्क और बुद्धि से परे होते हैं, मान्य और प्रचलित रहे हैं। इन अन्धविश्वासों का लोककथाओं में समावेश है। लोकसाहित्य इन से भरा होता है। प्राकृत साहित्य में जो अन्धविश्वास व्यक्त हुए हैं उन्हें इस तरह विभाजित किया जा सकता है-

1. विद्या, मन्त्र और योग
2. जादू-टोना और झाड़ फूँक
3. शुभाशुभ शकुन विचार
4. अलौकिक चमत्कारों से सम्बद्ध

जैन ग्रन्थों में अनेक विद्याओं और मन्त्रों का वर्णन मिलता है। जैन साधु अनेक विद्याओं मन्त्रों के जानकार होते थे। जन-सामान्य में उनके चमत्कार भी दिखाते थे। जन-जीवन में इनका प्रयोग अनेक इच्छाओं की पूर्ति के लिए किया जाता था। ज्ञाताधर्मकथा में पोट्टिला की कथा आती है। वह जब प्रयत्न करने पर भी अपने पति का प्रेम प्राप्त न कर सकी तो उसने चूर्णयोग, मन्त्रयोग, कार्मणयोग, कामयोग, हियपयडडावण काउडडावण, वशीकरण, गुटिका आदि के प्रयोग द्वारा उसे वश में करना चाहा। इसी प्रकार एक परिव्राजक ने मन्त्र और औषधि की शक्ति द्वारा नगर की सभी सुन्दरियों को अपने वश में कर लिया था। (सूत्रकृतांग टीका) लोगों में यह भी मान्यता थी कि मुर्गे का सिर भक्षण करने से राजपद प्राप्त होता है।

जादू टोने और झाड़-फूँक के भी अनेक चित्र उपलब्ध होते हैं। प्रायः लोग स्नान करने के बाद कौतुक, मंगल, प्रायश्चित्त आदि करते थे। कौतुक के नो भेद गिनाये हैं- विस्नपन, होम शिव परियरय, क्षारदहन, धूप, असदृशवेषग्रहण अवयासत, अवस्तोभन और बन्ध। नजर से बचने के लिए ताबीज आदि बांधना बन्ध कौतुक कहलाता था। कुवलयमालाकहा में पुत्र प्राप्ति के लिए अनेक जादू-टोने और टोटके करने का उल्लेख है।

शुभाशुभ शकुन से सम्बन्धित अनेक कथाएँ प्राप्त होती हैं। समराइच्चकहा में चन्द्रकुमार और चन्द्रकान्ता जब कुएँ में गिरा दिये जाते हैं तो वहाँ से छुटकारा पाने के लए चिन्तातुर होते हैं। तभी चन्द्रकान्ता का बांया और चन्द्र कुमार का दायां नेत्र फड़कने लगता है। इस शकुन को वे शुभ मानकर सन्तोष करते हैं और अन्त में एक सार्थवाह के द्वारा कुंए से निकाल लिए जाते हैं। कुवलयमालाकहा में कुमार की विदा के समय शुभ-अशुभ शकुनों पर विचार किया जाता है। विभिन्न दिशाओं, पशु-पक्षी, पेड़ पौधे, तथा शरीरिकि क्रियाओं से शुभ-अशुभ शकुनों का विचार किया जाता है।

इनके अतिरिक्त यज्ञपूजा, वटवासिनी देवी की पूजा, गंगा में अस्थियों का विसर्जन, सिद्धों की साधना आदि कितने लोकविश्वास की जानकारी प्राकृत साहित्य के माध्यम से होती है। यद्यपि जैन धर्म ईश्वरकर्तत्व आदि पर विश्वास

नहीं करता, किन्तु उसके साहित्य में इन सब विश्वासों का उल्लेख मिलता है। लौकिक देवी-देवताओं को समाज में विशेष स्थान प्राप्त था। इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रमण, नाग, यक्ष, भूत, आर्या और व्योहकिरिया मह का विशेष प्रचलन था। इनके अतिरिक्त वानमंतर, वामन्तरी, गुह्यक और पिशाचों की भी अर्चना की जाती थी।

304. प्राकृत साहित्य में लोक कला

लोक संस्कृति की वास्तविक पहचान लोक कला के माध्यम से होती है। लोक कलाओं के अन्तर्गत वे सभी कार्य विशेष परिगणित होते हैं, जिनमें लोक के मुक्त कलाकारों के सरल हृदय और प्रतिभा को अभिव्यक्ति मिलती है। विभिन्न अवसरों पर बनाई गई मिट्टी व काष्ट की मूर्तियां, विवाह आदि उत्सवों पर खींचे गई रेखानुकृतियां, मुक्त कंठों से गाया गया संगीत तथा विभोरकर देने वाली उछल-कूद आदि के अवशेष बहुत थोड़े बचे हों, किन्तु प्राकृत साहित्य में उनके जो उल्लेख मिलते हैं, वे लोककला की समृद्धि, लोकप्रियता के उद्घोषक हैं। तत्कालीन संगीत तथा नाट्यकला के लोकरूप दृष्टव्य हैं।

संगीत के वाद्य, नाट्य, गेय और अभिनय के चार भेद बतलाये गये हैं। स्थानांगसूत्र में षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैत और निषाद नामक सात स्वरों का उल्लेख है। इन स्वरों के स्वर स्थान, उच्चारण प्रकट, वाद्यों का सम्बन्ध, स्वरों से लाभ तथा गुण दोषों का भी वर्णन किया गया है। तत्, वितत्, धन और झसिर इन चारों प्रकार वाद्यों का न केवल उल्लेख है, अपितु उनके लगभग 50-60 भेद प्रभेदों की भी चर्चा की गई है। कुछ वाद्य तो संस्कृत ग्रन्थों में उल्लिखित वाद्यों के समान हैं, किन्तु खरमुही, पीरिपिरिया, गौमुखी, तुंबबीणा, क्लशी, रिंगिसिया, लत्तिया, वाली, परिल्ली, वक्तगा आदि वाद्य नये हैं, जिनका सम्बन्ध प्रदेश विशेष के लोक वाद्यों से हो सकता है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (5, पृष्ठ 413) में उक्खित्त (उक्षिप्त), पत्तम (पादात्त), मन्दय (मन्दक) और रोविंदय अथवा रोइया वसाण (रोचितावसान) इन चार प्रकार के गेय संगीत का उल्लेख है। सम्भवतः इन गेयों से शरीर की विभिन्न क्रियाओं के उत्क्षेपन, निपतन आदि द्वारा संगीत को प्रस्तुत किया जा रहा होगा।

नाट्यों के भी चार भेद प्राप्त होते हैं- अंचिय (अंचित) रिभिय (रिभित), आरभड (आरभट) और भसोल। इनका विशेष वर्णन नहीं दिया गया है किन्तु नाट्य विधि में अभिनय का होना आवश्यक माना गया है। चार प्रकार के अभिनय बतलाये गये हैं- दिट्ठितिय (दार्ष्टान्तिक), पाण्डुसुत, सामन्तोवयणिय (सामन्तोंपयातनिक) और लोगमज्मवसित (लोकमध्यावसित)। अभिनय के चारों भेद भरत के नाट्य में वर्णित अभिनय भेदों से भिन्न प्रतीत होते हैं। यदि इनके शाब्दिक अर्थ लिये जायें तो। (1) मुखतक अंगप्रक्षालन करने वाला अभिनय (2) पाण्डुसुत का कथानक व्यक्त करने वाला अभिनय (3) समान रूप से अंग संचालन द्वारा किया गया अभिनय (4) जनसमुदाय के बीच में ही किये जाने वाला अभिनय की प्रतीति इनसे होती है। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अभिनय शून्य नाटकों का भी उल्लेख है। यथा- उत्पात (आकाश में उछलना) निपात, संकुचित, प्रसारित, भ्रान्त, सम्भ्रान्त आदि नाटक। राजप्रश्नीयसूत्र में बत्तीस प्रकार की नाट्यविधि का उल्लेख है। उनमें से कुछ तो भरत नाट्यशास्त्र में उल्लिखित है किन्तु शेष नाट्य विधियां लोकनाट्य के क्षेत्र में खोजी जा सकती हैं।

लोक नाट्य से सम्बिन्धित कुवलयमाला का एक प्रसंग उल्लेखनीय है। एक गांव में पृथ्वी को धन-धान्य से समृद्ध देखकर फसल काटने के समय नट, नर्तक, मुष्टिक, और चारणों का एक दल घूमता हुआ आ पहुँचा। गांव के मुखिया ने उन नटों के तमाशे को देखने के लिए सारे गांव में निमन्त्रण दिया। दिन में काम-काज के कारण ठीक अवसर न जानकर रात्रि के प्रथम पहर में उसे दिखाने की व्यवस्था की गई। ग्रामीण जनता घर के सब कार्यों को निपटाकर अपने-अपने आसन और मशाल ले लेकर तमाशा देखने को पहुंच गई। एक परिवार के तो सभी लोग उसे देखने का मोह संवरण न कर सके और गये, किन्तु घर की बहु नन्दिनी पति के चण्डस्वभाव के कारण अपने जीवन की रक्षा करती हुई घर पर ही रह गई। काफी रात्रि तक वह नाटक चला जिसमें स्त्रीपात्र भी थे। तथा संगीत और गीत आदि द्वारा किसी श्रृंगार-प्रधान आख्यान को अभिनीत किया गया।

इसके अतिरिक्त अन्य नाट्यविधियों का उल्लेख भी प्राकृत साहित्य में मिलता है। नट लोग स्त्री का वेषधारण कर नृत्य करते थे। रास का भी उल्लेख मिलता है।

गांधर्व, नाट्य आदि की शिक्षा देने की व्यवस्था के उल्लेख कथाकोषप्रकरण में आते हैं। इस प्रकार की लोक कलाओं द्वारा प्रजा मनोरंजन करने वाले कितने ही लोगों के नाम आते हैं। उदाहरण के लिए नट, नर्तक जल्ल (रस्सी पर खेल दिखाने वाले) मल्ल, मोष्टिक, विदूषक, कथक, लंख (उछलने कूदने वाले), मंख (चित्रपट दिखाने वाले), लूणइल्ल, तुम्बवीणिक भोजक और मागध के नाम लिए जा सकते हैं। मंखों की परम्परा तो आज भी पट दिखाने वाले भोमा लोगों से की जा सकती है।

305. प्राकृत वाक्य रचना बोध

प्रसिद्ध मनीषी आचार्य महाप्रज्ञ ने आचार्य हेमचन्द्र के व्याकरण के अनुसार प्राकृत वाक्य रचना बोध नामक ग्रन्थ 1991 में प्रकाशित किया है। इसमें प्राकृत व्याकरण के 1114 सूत्र नियम के नाम से हिन्दी अनुवाद एवं उदाहरण सहित वर्णित हैं। यह ग्रन्थ अभ्यास के माध्यम से प्राकृत व्याकरण का ज्ञान कराता है, किन्तु इसके लिए संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान होना अपेक्षित है।

306. प्राकृत साहित्य में लोक चिकित्सा

प्राकृत साहित्य में आयुर्वेद से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है, रोगों के प्रकार, रोगोत्पत्ति के कारण व्याधियों के देशी उपचार, घावों के भरने के लिए विविध घृत और तेल का प्रयोग, छोटे-मोटे रोगों के इलाज के लिए घरेलू चिकित्सा आदि के विषय पर डॉ. जे.सी. जैन ने विस्तृत जानकारी प्रस्तुत की है। प्राकृत साहित्य में इस सबके उल्लेख का एक कारण यह है कि जैन साधु-साध्वियां हमेशा पैदल प्रवास करते थे। रास्ते चलते जो छोटे-छोटे रोग या व्रण उन्हें होते थे, गांववासी देशी दवाइयों से उनका इलाज कर देते थे। अतः साहित्य सृजन के समय इन सब देशी उपचारों का उसमें उल्लेख हो गया है।

इस प्रकार साहित्य में लोक-संस्कृति के सभी पक्षों-लोक साहित्य, भाषा, जीवन, विश्वास, कला, चिकित्सा आदि से सम्बन्धित पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। पालि और अपभ्रंश साहित्य की खोज से इसमें और वृद्धि हो सकती है। लोक संस्कृति की सामग्री की विविधता और प्रचुरता को देखते हुए यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि प्राकृत साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन शोध

एवं अनुसंधान का एक स्वतन्त्र विषय है। इस पर निष्ठा और परिश्रमपूर्वक किया गया कार्य निश्चय ही भारतीय लोक संस्कृति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालेगा।

307. प्राकृत व्याकरणम् (दो भाग)

उपाध्याय पण्डितरत्न मुनिवर श्री प्यारचन्द जी महाराज ने आचार्य हेमचन्द्रकृत, हेमशब्दानुशासन को हिन्दी व्याख्या के साथ प्राकृत व्याकरण नाम से दो भागों में सन् 1966-67 में श्री जैन दिवाकर दिव्य ज्योति कार्यालय, ब्यावर (राज.) से प्रकाशित कराया था। इस व्याकरण ग्रन्थ में हेमचन्द्र के मूल सूत्र, उसकी संस्कृतवृत्ति, उसका हिन्दी अर्थ, शब्द की व्युत्पत्ति और उसमें लगने वाले अन्य सूत्रों की जानकारी दी गई है। प्राकृत व्याकरण सीखने के लिए यह ग्रन्थ लम्बे समय से विद्वानों में समादृत होता रहा है। अब इस ग्रन्थ का दूसरा संस्करण आगम प्राकृत संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित हुआ है। डॉ. कमलचन्द सोगानी ने इस व्याकरण का संक्षिप्त रूप हिन्दी और अंग्रेजी में प्रकाशित किया है। इसमें संज्ञा, सर्वनाम, क्रिया, कृदन्त आदि का विस्तार से विवेचन है।

308. प्राकृत -हिन्दी-कोश

पाइय-सद्द-महण्णवो के विषयों को संक्षिप्त कर डॉ. के. आर. चन्द्रा ने ई. सन् 1987 में प्राकृत हिन्दी-कोश का सम्पादन किया है। अकारादि क्रम में शब्दों की संयोजना करने वाले इस ग्रन्थ में प्राकृत शब्दों के लिंग, संस्कृत रूप एवं हिन्दी अर्थ दिये गये हैं। लघुकाय होने के कारण यह कोश-ग्रन्थ प्राकृत के प्रारम्भिक विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है।

इसके अतिरिक्त आधुनिक कोश-ग्रन्थों में श्री **जैनेन्द्र** वर्णी द्वारा रचित **जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश** प्रमुख है, जिसमें जैनदर्शन के पारिभाषिक शब्दों में प्राकृत के अनेक शब्दों के अर्थ उद्धरण सहित मिल जाते हैं। समणी कुसुम प्रज्ञा द्वारा सम्पादित **एकार्थक कोश**, युवाचार्य महाप्रज्ञजी द्वारा सम्पादित **देशी शब्द कोश** एवं **निरुक्त कोश** तथा डॉ. उदयचन्द्र जैन द्वारा सम्पादित **कुन्दकुन्द कोश** आदि प्राकृत के महत्त्वपूर्ण शब्द कोश हैं, जिनके अध्ययन से प्राकृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। वर्तमान समय में प्रो. ए. एम. घाटगे ने भण्डारकर

ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना से **ए कम्प्रेहेंसिव एण्ड क्रिटीकल डिक्शनरी ऑफ द प्राकृत लेंग्युएजेज** नाम से एक विशाल कोश का निर्माण प्रारम्भ किया है। इसके चार भाग छप चुके हैं। यह प्राकृत अंग्रेजी कोश है।

309. प्राचीन अर्धमागधी की खोज में

पालि-प्राकृत के मनीषी स्व. प्रो. के. आर. चन्द्रा ने अर्धमागधी आगम ग्रन्थों के सम्पादन कार्यों को गति देने के लिए तथा प्राचीन अर्धमागधी व्याकरण के नियमों को निर्धारित करने के लिए प्राचीन अर्धमागधी की खोज में नामक पुस्तक लिखी है, जो 1991 में प्रकाशित हुई है। प्राचीन जैन आगमों पर शोधकार्य के लिए यह पुस्तक उपयोगी है।

310. प्राचीन छह कर्मग्रन्थ

कम्मविवाग (कर्मविपाक) कम्मत्थव (कर्मस्तव) बंधसामित्त (बंधस्वामित्व) सडसीइ (षडशीति) सयग (शतक) और सित्तरि (सप्ततिका) ये छह कर्मग्रंथ गिने जाते हैं। इनमें कम्मविवाग के कर्ता गर्गऋषि हैं। ये विक्रम की 10वीं शताब्दी के विद्वान् माने जाते हैं। इस कर्मग्रन्थ पर तीन टीकायें हैं। कर्मस्तव के कर्ता हैं, दूसरी उदप्रभसूरि कृत टिप्पन है। दोनों टीकाओं का रचनाकाल विक्रम की 13वीं शताब्दी कहा जाता है। कर्मस्तव को बंधोदयसत्वयुक्स्तव भी कहा जाता है। बंधस्वामित्य के कर्ता अज्ञात हैं। देवसूरि के शिष्य हरिभद्रसूरि ने वि. सं. 1172 में वृत्ति लिखी है। षडशीति को आगमिकवस्तुविचारसारप्रकरण भी कहा जाता है। चैत्यवासी जिनेश्वर सूरि के शिष्य जिनवल्लभगणि ने विक्रम की 12वीं शताब्दी में इस कर्मग्रन्थ की रचना की। इस पर दो अज्ञातकर्तृक भाष्य और बहुत सी टीकायें हैं। टीकाकारों में द्वितीय हरिभद्रसूरि और मलयगिरि के नाम मुख्य हैं

311. बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ

बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ एवं उसका राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला से पूर्व दिशा में 5 किमी. की दूरी पर बैंगलोर मार्ग पर 25-30 एकड़ भूमि पर विस्तृत मनोरम पर्यावरण के बीच संस्थापित है। श्री बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ के अन्तर्गत संचालित यह

प्राकृत संस्थान मैसूर विश्वविद्यालय मैसूर से शोध संस्थान के रूप में मान्यता प्राप्त है। इस प्राकृत संस्थान के अन्तर्गत कई विभाग संचालित हैं। जैसे– प्राकृत शिक्षण एवं परीक्षा विभाग, समृद्ध ग्रंथालय, शोध प्रकल्प, पाण्डुलिपि संरक्षण संग्रहालय, प्राकृत धवलत्रय कन्नड़ अनुवाद एवं संपादन विभाग, प्राकृत हिन्दी प्राकृत अपभ्रंश विभाग, एन.एम.एम. प्रोजेक्ट, प्राकृत–कन्नड़–हिन्दी अंग्रेजी शब्दकोश सम्पादन विभाग, प्राकृत तथा विश्वकोश विभाग इत्यादि। इस राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान की स्थापना 1991 में जगद्गुरू कर्मयोगी स्वस्तिश्री चारुकीर्ति भट्टारक स्वामीजी के द्वारा हुई थी। इस संस्थान का उद्घाटन 2 दिसम्बर 1993 को भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति महामहिम डॉ. शंकर दयाल शर्मा के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस संस्थान के विकास हेतु परमपूज्य राष्टसंत आचार्य श्री 108 विद्यानन्द जी महाराज, परमपूज्य आचार्य श्री 108 वर्धमानसागर जी महाराज एवं परमपूज्य आचार्य श्री 108 देवनन्दी जी महाराज एवं अन्य प्रमुख मुनि संघों का आशीर्वाद प्राप्त है।

इस बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ एवं प्राकृत संस्थान का प्रमुख उद्देश्य तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि स्वरूप प्राकृत भाषा के मूल ग्रंथों का संरक्षण सम्पादन, अनुवाद, प्रकाशन द्वारा प्रचार–प्रसार करना है। तीर्थंकर महावीर के दिव्य उपदेश गणधरों एवं आचार्यों द्वारा लोक–भाषा प्राकृत में संरक्षित किये गये हैं। प्राकृत भाषा भारत की प्राचीनतम भाषा है जिसका सम्बन्ध भारत की सभी भाषाओं के साथ जुड़ा है। अहिंसा, अपरिग्रह, अनेकान्त, कर्मसिद्धान्त आदि मानवीय मूल्यों और शिल्प, वास्तु आयुर्वेद, भूगोल, खगोल, ज्योतिष आदि विज्ञानों तथा कलाओं का साहित्य भी प्राकृत भाषा में है। अतः ऐसी प्राकृत भाषा का जनसमुदाय को शिक्षण प्रदान करना और उसके साहित्य को प्रकाश में लाना इस संस्थान का प्रमुख उद्देश्य है। इसी के लिए संस्थान में विभिन्न प्राकृत पाठ्यक्रम और शोध–कार्य की प्रवृत्तियाँ संचालित हैं।

312. बृहत्कल्प (कप्पो)

बृहत्कल्प का अर्धमागधी आगम के छेदसूत्रों में गौरवपूर्ण स्थान है। बृहत्कल्प कल्पसूत्र से भिन्न साध्वाचार का स्वतंत्र ग्रन्थ है। अन्य छेदसूत्रों की तरह इसमें भी श्रमणों के आचार–विषयक विधि–निषेध, उत्सर्ग–अपवाद, तप,

प्रायश्चित्त आदि पर चिन्तन किया गया है। इसमें छः उद्देशक हैं। इसके रचयिता श्रुतकेवली भद्रबाहु माने जाते हैं। श्रमण जीवन से सम्बद्ध एवं प्राचीनतम आचार-शास्त्र का ग्रन्थ होने के कारण इसका आगम साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस ग्रन्थ में साधु-साध्वियों के लिए वर्षावास में विहार, वस्त्र लेने आदि का निषेध किया गया है। निर्ग्रन्थी का एकाकी रहना, पात्र रहित रहना, ग्राम आदि के बाहर आतापना लेना आदि का वर्जन किया है। इसके छठे उद्देशक में अपवादिक सूत्रों का विवेचन है। इस प्रकार बृहत्कल्प में श्रमण-श्रमणियों के जीवन और व्यवहार से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला गया है। वस्तुतः उत्सर्ग और अपवाद के कथन द्वारा मुनिधर्म की रक्षा और शुद्धि करना ही इस ग्रन्थ का मुख्य उद्देश्य है।

313. बृहत्कल्पभाष्य

बृहत्कल्पभाष्य-लघुभाष्य संघदासगणी की एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बृहत्कल्पसूत्र के पदों का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा संख्या 6490 है। यह छह उद्देश्यों में विभक्त है। भाष्य के प्रारम्भ में एक सविस्तृत पीठिका दी गई है, जिसकी गाथा संख्या 805 है। इस भाष्य में भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का संकलन-आकलन हुआ है। इस सांस्कृतिक सामग्री के कुछ अंश को लेकर डॉ. मोतीचन्द ने अपनी पुस्तक सार्थवाह में यात्री और सार्थवाह का सुन्दर आंकलन किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति और सभ्यता का अध्ययन करने का हृदयग्राही, सूक्ष्म, तार्किक विवेचन इस भाष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषता है।

प्रस्तुत भाष्य में यत्र-तत्र सुभाषित बिखरे पड़े हैं, यथा-हे मानवो, सदा-सर्वदा जाग्रत रहो, जाग्रत मानव की बुद्धि का विकास होता है जो जागता है वह सदा धन्य है-

जागरह नरा णिच्चं, जागरमाणस्स वड्ढते बुद्धि।
सो सुवति ण सो धण्णं, जो जाग्गति सो सया धण्णो॥

प्रस्तुत भाष्य में श्रमणों के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से बहुत ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है। उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक धार्मिक, राजनीतिक स्थितियों पर भी खासा अच्छा प्रकाश पड़ता है। अनेक स्थलों पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सुन्दर विश्लेषण हुआ है। जैन साहित्य के इतिहास में ही

नहीं, अपितु भारतीय साहित्य में इस ग्रन्थ रत्न का अपूर्व और अनूठा स्थान है।

314. बृहत्कल्प-लघु भाष्य

यह भाष्य बृहत्कल्प के मूल सूत्रों पर है। इसमें पीठिका के अतिरिक्त छः उद्देश्य हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का विशेष महत्त्व है। जैन श्रमणों के आचार का सूक्ष्म एवं सतर्क विवेचन इस भाष्य की विशेषता है। पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक, अनुयोग, कल्प, व्यवहार आदि पर प्रकाश डाला गया है। स्थविरकल्प और जिनकल्प इन दोनों अवस्थाओं में कौन सी अवस्था प्रधान है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भाष्यकार ने स्याद्वादी भाषा में लिखा है कि निष्पादक और निष्पन्न इन दो दृष्टियों से दोनों ही प्रधान हैं। स्थविरकल्प सूत्रार्थग्रहण आदि दृष्टियों से जिनकल्प का निष्पादक है, जबकि जिनकल्प ज्ञान-दर्शन चारित्र आदि दृष्टियों से निष्पन्न है। इस प्रकार दोनों ही अवस्थाएँ महत्त्वपूर्ण एवं प्रधान है। बृहत्कल्प लघुभाष्य का जैन साहित्य के इतिहास में ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य के इतिहास में भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें भाष्यकार के समय की एवं अन्यकालीन भारतीय सामाजिक, सांस्कृतिक राजनीतिक एवं धार्मिक स्थिति पर प्रकाश डालने वाली सामग्री की प्रचुरता का दर्शन होता है। जैन साधुओं के लिए तो इसका व्यवहारिक महत्त्व है।

315. बेचरदास (पण्डित) दोशी

पण्डित बेचरदास जोशी जैन आगमों के ज्ञाता एवं प्राकृत साहित्य के प्रचारक विद्वान रहे हैं। आपका जन्म 1889 ई. में वलभीपुर (गुजरात) में हुआ था। आपने न्यायतीर्थ और व्याकरणतीर्थ परीक्षाएं उत्तीर्ण की । आपने उस जमाने में जैन आगमों के सम्पादन और प्रकाशन के लिए बहुत संघर्ष किया। आपके द्वारा भगवतीसूत्र प्राकृत आगम का प्रकाशन हुआ। पं. सुखलाल संघवी के साथ आपने सन्मतितर्क प्राकृत ग्रन्थ के सम्पादन-प्रकाशन में भी सहयोग किया। अहमदाबाद में एल.डी. आर्टस् कालेज की स्थापना के बाद पं. जोशी उसमें प्राकृत के लेक्चरर बने। बाद में आपने एल.डी. इन्स्टीट्यूट आफ इण्डालॉजी में भी अपनी सेवाएँ दीं। आपने लगभग 30 पुस्तकें लिखी हैं। आपका अक्टूबर 1982 में देहावसान हुआ।

316. भगवती आराधना : (शिवार्य)

शिवकोटि अथवा शिवार्य प्राचीन दिगम्बर आचार्य थे। जिन्होंने भगवती आराधना नामक शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का नाम आराधना अथवा मूलाराधना भी प्राप्त होता है। शिवार्य को अनेक दिगम्बर आचार्यों ने आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि शिवार्य और उनका ग्रन्थ दोनों की अच्छी प्रसिद्धि थी। श्री पंडित नाथूराम प्रेमी शिवार्य को यापनीय संघ का आचार्य स्वीकार करते हैं और उनके गुरु का नाम सर्वगुप्त मानते हैं। किन्तु विद्वानों ने शिवार्य को दिगम्बर आचार्य स्वीकार किया है। विद्वानों ने शिवार्य का समय ईस्वी सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है। इनके ग्रन्थ भगवतीआराधना पर 7वीं-8वीं शताब्दी में अपराजितसूरी द्वारा टीका लिखी जा चुकी थी।

भगवती आराधना शौरसेनी साहित्य का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का मूल नाम आराधना है। किन्तु इसके प्रति श्रद्धा एवं पूज्य भाव व्यक्त करने की दृष्टि से **भगवती** विशेषण लगाया गया है। ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थकार ने **आराहणा भगवदी** लिखकर आराधना के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है। वर्तमान में यह भगवती आराधना के नाम से ही प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में 2166 गाथाएँ हैं, जो 40 अधिकारों में विभक्त हैं। इन गाथाओं में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक् तप इन चार आराधनाओं का निरूपण हुआ है। वस्तुत: इन आराधनाओं के माध्यम से मुनिधर्म को ही समझाया गया है। ग्रन्थ के प्रारंभ में ही दूसरी गाथा में सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप के उद्योतन, उद्यवन, निर्वहन, साधना आदि को आराधना कहा है। यथा -

उज्जोवणमुज्जवणं णिव्वहणं साहणं च णिच्छरणं।
दंसणणाणचरित्ततवाणमाराहणा भणिया॥ .. (गा. 2)

यद्यपि अन्य जैनागमों में भी सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप का विवेचन हुआ है, परन्तु, वहाँ उन्हें आराधना शब्द से अभिव्यक्त नहीं किया गया है। इस ग्रन्थ में मरते समय की आराधना को ही यथार्थ आराधना कहा है। उसी के लिए जीवन भर की आराधना की जाती है। मरते समय विराधना होने पर जीवन भर की आराधना निष्फल हो जाती है। अत: जो मरते समय आराधक होता है, उसी की

सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र एवं तप रूप साधना को आराधना शब्द से परिभाषित किया है। इस ग्रन्थ में मुख्य रूप से मरणसमाधि का कथन है। ग्रन्थ के आरम्भ में 17 प्रकार के मरण बताये गये हैं। इनमें से पंडितमरण, पंडितमरण और बालपंडितमरण को श्रेष्ठ कहा है। इसके अतिरिक्त इसमें आर्यिकाओं के लिए संघ-नियम, अचेलक्य, नाना देशों में विहार करने के गुण, संलेखना, ध्यान, लेश्या, बारह भावनाओं, आलोचना के गुणदोष, पंचनमस्कार मंत्र की महत्ता, मुनियों के मृतक संस्कार आदि का भी निरूपण हुआ है। प्रसंगवश गजकुमार, भद्रबाहु, विद्युच्चर, अश्वघोष, धर्मघोष आदि साधुओं की कथाएँ भी वर्णित हैं।

317. भद्रबाहु निर्युक्तिकार

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु माने जाते हैं। ये चतुर्दश-पूर्वधर छेदसूत्रकार भद्रबाहु से पृथक हैं, क्योंकि निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति, पन्चकल्पनिर्युक्ति में छेदसूत्रकार भद्रबाहु को नमस्कार किया है। यदि छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार एक ही भद्रबाहु होते तो नमस्कार का प्रश्न ही नहीं उठता। निर्युक्तियों में इतिहास की दृष्टि से भी ऐसी अनेक बातें आई हैं जो श्रुतकेवली भद्रबाहु के बहुत काल बाद घटित हुई।

नियुक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहिर के भ्राता थे, जो अष्टांग निमित्त और मंत्रविद्या के निष्णात विद्वान थे, जिन्होंने उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहिता और दस निर्युक्तियाँ लिखी हैं। विज्ञों का ऐसा मन्तव्य है कि भद्रबाहुसंहिता जो वर्तमान में उपलब्ध है वह कृत्रिम है। असली भद्रबाहुसंहिता वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम सम्वत् 562 के लगभग है और निर्युक्तियों का रचना समय विक्रम सम्वत् 500-600 के मध्य का है।

318. भद्रेश्वरसूरि

भद्रेश्वरसूरि महत्त्वपूर्ण कृति प्राकृत कहावली के रचयिता हैं। ये अभयदेवसूरि के गुरु थे। अभयदेव के शिष्य अषाढ़ का समय वि. सं. 1248 है। अतः भद्रेश्वर का समय 12वीं शताब्दी के मध्य के आसपास मान सकते हैं। परन्तु इस ग्रन्थ की भाषा चूर्णियों की भाषा के बहुत समीप है।

319. भरत मुनि :

प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में जिन संस्कृत आचार्यो ने अपने मत प्रकट किये हैं, इनमें भरत सर्वप्रथम हैं। प्राकृत वैयाकरण मार्कण्डेय ने अपने प्राकृत - सर्वस्व के प्रारम्भ में अन्य प्राचीन प्राकृत वैयाकरणों के साथ भरत को स्मरण किया है। भरत का कोई अलग प्राकृत व्याकरण नहीं मिलता है। भरतनाट्यशास्त्र के 17वें अध्याय में 6 से 23 लोकों में प्राकृत व्याकरण पर कुछ कहा गया है। इसके अतिरिक्त 32वें अध्याय में प्राकृत के बहुत से उदाहरण उपलब्ध हैं, किन्तु स्रोतों का पता नहीं चलता है।

डॉ. पी. एल. वैद्य ने त्रिविक्रम के प्राकृत शब्दानुशासन व्याकरण के 17वें परिशिष्ट में भरत के लोकों को संशोधित रूप में प्रकाशित किया है, जिनमें प्राकृत के कुछ नियम वर्णित हैं। डॉ. वैद्य ने उन नियमों को भी स्पष्ट किया है। भरत ने कहा है कि प्राकृत में कौन से स्वर एवं कितने व्यंजन नहीं पाये जाते। कुछ व्यंजनों का लोप होकर उनके केवल स्वर बचते हैं। यथा-

वच्चंति कगतदयवा लोपं, अत्थं च से वहंति सरा।
खघथधभा उण हत्तं उवेंति अत्थं अमुंचंता ॥ 8 ॥

प्राकृत की सामान्य प्रवृत्ति को भरत ने अंकित किया है कि शकार का सकार एवं नकार का सर्वत्र णकार होता है। यथा- विष > विस, शङ्का > संका आदि। इसी तरह ट ड, ज ढ, प व, ड ल, च य, थ ध, प फ आदि परिवर्तनों के सम्बन्ध में संकेत करते हुए भरत ने उनके उदाहरण भी दिये हैं तथा लोक 18 से 24 तक में उन्होंने संयुक्त वर्णों के परिवर्तनों को सोदाहरण सूचित किया है और अन्त में कह दिया है कि प्राकृत के ये कुछ सामान्य लक्षण मैंने कहे हैं। बाकी देशी भाषा में प्रसिद्ध ही हैं, जिन्हें विद्वानों को प्रयोग द्वारा जानना चाहिये-

एवमेतन्मया प्रोक्तं किंचित्प्राकृत लक्षणम्।
शेषं देशीप्रसिद्धं च ज्ञेयं विप्राः प्रयोगतः ॥

प्राकृत व्याकरण सम्बन्धी भरत का यह शब्दानुशासन यद्यपि संक्षिप्त है, किन्तु महत्त्वपूर्ण इस दृष्टि से है कि भरत के समय में भी प्राकृत व्याकरण की आवश्यकता अनुभव की गयी थी। हो सकता है, उस समय प्राकृत का कोई

प्रसिद्ध व्याकरण रहा हो अतः भरत ने केवल सामान्य नियमों का ही संकेत करना *आवश्यक समझा है। भरत* के ये *व्याकरण* के नियम प्रमुख रूप से शौरसेनी प्राकृत के लक्षणों का विधान करते हैं।

320. भरतमुनि और शौरसेनी प्राकृत –

आचार्य भरतमुनि इस दिशा में सम्भवतः सर्वप्रथम–लक्षण–शास्त्री हैं, जिन्होंने क्षेत्रीय आधार पर प्राकृतों का वर्गीकरण किया और उन्हें शौरसेनी, मागधी, अवन्ति, प्राच्या एवं अर्धमागधी जैसे भेदों में विभक्त कर शौरसेनी को सर्वाधिक महत्त्व दिया और संस्कृत नाटककारों को शौरसेनी–प्राकृत के प्रयोग करने का विमर्श भी दिया। यथा–

शौरसेनी समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
अथवा छन्दतः कार्या देशभाषा-प्रयोक्तृभिः॥ – (नाट्यशास्त्र 14/48)

अर्थात् सामान्यजनों की सुख–दुख सम्बन्धी या नीतिगत भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करना चाहिए। यदि किसी क्षेत्रीय प्राकृत में नाटक लिखना हो तो उस क्षेत्र की भाषा वहाँ के प्रचलित छन्दों के माध्यम से प्रस्तुत करना चाहिए।

वररुचि एवं मार्कण्डेय ने क्रमशः अपने प्राकृत–प्रकाश एवं प्राकृत सर्वस्व नामक व्याकरण ग्रन्थों में शौरसेनी की प्राचीनता तथा गुणवत्ता को स्वीकार कर उसे सभी प्राकृतों की प्रकृति माना है। उसके अनुसार मागधी एवं पैशाची जैसी प्रमुख प्राकृतों तथा प्राच्या, चाण्डाली, अवन्ती एवं महाराष्ट्री आदि की प्रकृति शौरसेनी प्राकृत है। आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्रासंगिक प्राकृतों के विशेष लक्षणों का वर्णन कर **"शेषं शौरसेनीवत्"** कहकर शौरसेनी प्राकृत को प्रमुख माना है।

321. भवभावना

भवभावना के कर्त्ता मलधारि हेमचन्द्रसूरि हैं। प्रश्नवाहन कुल के हर्षपुरीय नामक विशाल गच्छ में जयसिंह सूरि हुए, उनके शिष्य का नाम अभयदेवसूरि था। अभयदेव अल्प परिग्रही थे और अपने वस्त्रों की मलिनता के कारण मलधारी नाम से प्रसिद्ध थे। पंडित श्वेतांबराचार्य भट्टारक के रूप में प्रसिद्ध मलधारि हेमचन्द्रसूरि इन्हीं अभयदेव के बहुश्रुत शिष्य थे। इन्होंने विक्रम संवत् 1170 सन् 1123 में

मेड़ता और छत्रपल्ली में रहकर भवभावना वररयणमालिया श्रेष्ठरत्नमाला और उसकी स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना की है। भवभावना में 531 गाथायें हैं, जिनमें 12 भावनाओं का वर्णन है। इन भावनाओं में मुख्य भावना है भवभावना यानी संसारभावना जिसका 322 गाथाओं में विस्तृत विवेचन किया गया है, अन्य 11 भावनाओं का निरूपण प्रसंगवश संक्षेप में किया है। ग्रंथ का अधिकांश भाग प्राकृत गाथाओं में लिखा गया है। बीच बीच में गद्यमय संस्कृत का भी उपयोग किया है, अपभ्रंश के पद्य भी हैं। ग्रन्थ के पद्यात्मक स्वोपज्ञ विवरण में अनेक धार्मिक व लौकिक कथायें गुंफित हैं। कितने ही चित्रण बड़े स्वाभाविक और सुंदर बन पड़े हैं। प्रेम, घृणा, शत्रुता मायाजाल, कपट, लोभ, क्रोध, कृतघ्नता अमीरी-गरीबी, स्त्री-पुरुष संबंध स्वामी-दास संबंध आदि का कुशल चित्रण किया गया है। प्राकृत और संस्कृत की अनेक उक्तियाँ यहाँ दी हुई हैं।

322. भावसंग्रह

भावसंग्रह में दर्शनसार की अनेक गाथायें उद्धृत हैं। इसमें 701 गाथायें हैं। सबसे पहले स्नान के दोष बताते हुए स्नान की जगह तप और इन्द्रियनिग्रह से जीव की शुद्धि बताई है। फिर मांस के दूषण और मिथ्यात्व के भेद बताये गये हैं। चौदह गुणस्थानों के स्वरूप का यहाँ प्रतिपादन है। यह रचना 12-13वीं शताब्दी की है और इसके कर्त्ता देवसेन दर्शनसार के कर्त्ता देवसेन गणि से भिन्न हैं।

323. भाषा परिवार एवं प्राकृत

भारत की प्राचीन भाषाओं में प्राकृत भाषाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। लोक भाषाओं के रूप में प्रारम्भ में इनकी प्रतिष्ठा रही और क्रमशः ये साहित्य और चिन्तन की भाषाएँ बनीं। प्राकृत प्राचीन भारत के जीवन और साहित्यिक जगत् की आधार भाषा है। जनभाषा से विकसित होने के कारण और जन-सामान्य की स्वाभाविक (प्राकृतिक) भाषा होने के कारण इसे प्राकृत भाषा कहा गया है। प्राकृत भाषाओं में शौरसेनी एवं मागधी प्राकृत के नाम प्राचीन समय से प्रचलित रहे हैं। सूरसेन प्रदेश (काशी, मथुरा, अयोध्या) का उल्लेख तीर्थंकरों की कर्मभूमि और महाभारत, रामायण आदि के नायकों की जीवन-स्थली के रूप में प्राप्त है। अतः सूरसेन प्रदेश की भाषा शौरसेनी प्राकृत इस देश की मूल भाषा के

रूप में प्रतिष्ठित मानी जा सकती है। आर्यों के सम्पर्क और प्रभाव से प्राचीन प्राकृतों से वैदिक भाषा आदि विकसित हुई तथा मगध में मागधी प्राकृत आदि का विकास हुआ। मगध के महापुरुषों ने, भगवान् महावीर ने अर्द्धमागधी प्राकृत में और भगवान बुद्ध ने पालि (मध्यप्रदेश की भाषा) में अपने उपदेश दिए। क्रमशः अन्य प्राकृतें विकसित हुई और उनमें ग्रन्थ आदि लिखे गये।

वैदिक युग में एक ओर ईरानी और दूसरी ओर प्राकृत बोलियाँ जन-प्रचलित थीं। वैदिक भाषा, प्राकृत बोलियों का प्रचलित रूप नैसर्गिक स्वरूप लिए हुए था, उसमें कृत्रिमता नहीं थी। इसलिए उन सब को भारतवर्ष की प्रथम प्राकृत कहा जा सकता है। विद्वानों ने वैदिक युग की इन्हीं प्राकृत बोलियों से भारत की अन्य प्राचीन और अर्वाचीन भाषाओं का विकास माना है। आधुनिक भाषाविद स्वीकार करते हैं कि वैदिक युग की बोलचाल की भाषा प्राकृत ही थी, जो कुछ बातों में संहिताओं की साहित्यिक भाषा से भिन्न थी।

भारतीय आर्यभाषा के विकास को विद्वानों ने अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से तीन प्रमुख कालों में विभक्त किया है-

(क) प्राचीन भारतीय आर्य भाषाकाल (1600 ई. पू.)

(ख) मध्यकालीन भा. आर्य भाषाकाल (1600 ई. पू. से 1000 ई.पू. तक)

(ग) आधुनिक भा. आर्य भाषाकाल (1000 ई. से वर्तमान युग)

प्राकृत भाषा का सम्बन्ध भारतीय आर्यभाषा के इन सभी कालों से रहा है। वैदिक युग के साथ प्राकृत जनबोली एवं कथ्य भाषा के रूप में रही। मध्ययुग में प्राकृत दर्शन-चिन्तन एवं साहित्य की भाषा बनी तथा आधुनिक युग में प्राकृत अपभ्रंश के माध्यम विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साथ जुड़ी हुई है।

324. भाष्य साहित्य

निर्युक्ति साहित्य सांकेतिक भाषा में लिखा गया था। अतः आगमों के गूढ़ सूत्रों के तात्पर्यों को समझने के लिए तथा निर्युक्तियों में छिपे अर्थ- बाहुल्य को स्पष्ट करने के लिए जो आगम व्याख्याएँ लिखी गई, वे भाष्य साहित्य के रूप में विख्यात हुई हैं। भाष्य भी प्राकृत गाथाओं में लिखे गये हैं तथा निर्युक्तियों की तरह भाष्य भी संक्षिप्त ही हैं। भाष्य-साहित्य में अर्धमागधी प्राकृत के साथ-साथ

मागधी व शौरसेनी का प्रयोग भी मिलता है। भाष्यों का लेखन काल लगभग ई. सन् की चौथी-पाँचवीं शताब्दी माना गया है। भाष्यकारों में संघदासगणि क्षमाश्रमण तथा जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण प्रमुख हैं। मुख्य रूप से जिन ग्रन्थों पर भाष्यों की रचना हुई हैं वे निम्न हैं- 1. आवश्यक 2. दशवैकालिक 3. उत्तराध्ययन 4. बृहत्कल्प 5. पंचकल्प 6. व्यवहार 7. निशीथ 8. जीतकल्प 9. ओघनिर्युक्ति 10. पिण्डनिर्युक्ति।

प्राचीन श्रमण जीवन व संघ के इतिहास व परम्पराओं को जानने की दृष्टि से भाष्य साहित्य अत्यन्त महत्त्वूपर्ण है। इस साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियों लौकिक कथाओं और मुनियों के परम्परागत आचार विचार की विधियों का प्रतिपादन हुआ है। विशेषावश्यकभाष्य में जैन आगमों में वर्णित, ज्ञान प्रमाण नयनिक्षेप स्याद्वाद कर्मसिद्धान्त आचार आदि अनेक विषयों का विवेचन अत्यन्त सहज रूप से हुआ है। बृहत्कल्प-लघुभाष्य में श्रमणों के आचार-विचार का तार्किक दृष्टि से सूक्ष्म विवेचन किया गया है। यह भाष्य ग्रन्थ तत्कालीन सामाजिक धार्मिक एवं राजनैतिक परिस्थितियों की झाँकी भी प्रस्तुत करता है। निशीथभाष्य में अनेक सरस एवं मनोरंजक कथाओं के माध्यम से विधि श्रमणाचार का निरूपण हुआ है। व्यवहारभाष्य में श्रमण के आचार-व्यवहार तप आलोचना, प्रायश्चित्त, बाल दीक्षा की विधि आदि के अतिरिक्त प्रसंगवश विभिन्न देशों की रीति-रिवाजों आदि का भी वर्णन है।

325. भुवनसुन्दरी कथा

महासती भुवनसुन्दरी की चमत्कारपूर्ण कथा को लेकर प्राकृत में एक विशाल रचना की गई जिसमें 8111 गाथाएँ हैं। इन गाथाओं का परिमाण बृहद्‌टिप्पनिका में 10350 ग्रन्थाग्र बतलाया गया है। इसकी रचना सं. 975 में नाइलकुल के समुद्रसूरि के शिष्य विजय सिंह ने की है। इसकी प्राचीनतम प्रति सं. 1365 की मिली है।

326. मज्झिमखंड

कुछ विद्धानों की मान्यता है कि मज्झिमखंड जिसे द्वितीय खंड भी कहा गया है, वसुदेवहिंडि का दूसरा खंड है। कहा जा चुका है कि मज्झिमखंड के

कर्ता धर्मसेनगणि महत्तर के अनुसार वसुदेव ने 100 वर्ष भ्रमण कर 100 स्त्रियों के साथ विवाह किया, अतएव वसुदेवहिंडि वस्तुतः 100 लंभों की रचना होनी चाहिये, किन्तु उसमें केवल 29 ही लंभ है शेष लंभों की उन्होंने इसलिये उपेक्षा कर दी कि उनमें कथानकों के लंबे वर्णन थे। ऐसी स्थिति में धर्मसेनगणि ने इस अपूर्ण कृति को पूर्ण करने के लिये मज्झिमखंड के माध्यम से शेष 71 लंभों की रचना की।

वसुदेवहिंडि की भाँति यहाँ भी नायक वसुदेव अपनी कथा स्वयं कहते हैं। यह रचना महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई है। जैन कथाकारों को अपने धार्मिक आख्यानों को लोकप्रिय बनाने के लिये जहाँ-तहाँ शृंगारपूर्ण प्रेमकथाओं का आश्रय लेना पड़ा है। इस बात को स्पष्ट करते हुए धर्मदासगणि महत्तर ने लिखा है लोग नहुष नल धुधुमार, निहस पुरुरव मान्धाता राम-रावण जनमेजय राम कौरव पुंडसुत नरवाहनदत्त आदि लौकिक प्रेमाख्यानों को सुनकर इनमें इतना एकान्त रस लेते हैं कि धर्मकथाओं को सुनने की इच्छा तक भी उनके मन में शेष नहीं रहती, ऐसे ही जैसे कि ज्वरपित्त से जिसका मुंह कडुआ हो गया है ऐसे रोगी को गुड़ शक्कर या खांड भी कड़वे लगने लगते हैं। ऐसी दशा में जैसे कोई वैद्य अमृतरूप औषध पान से परांड़गमुख रोगी को मनोभिलाषित औषधपान के बहाने अपनी औषधि पिला देता है, उसी प्रकार कामकथा में रत पाठकों के मनोरंजन के लिये शृंगारकथा के बहाने धर्मकथा सुनानी चाहिये।

वसुदेवहिण्डी का विश्व कथा-ग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसमें अनेक ज्ञानवर्धक एवं मनोरंजक आख्यानों, कथानकों, चरितों एवं अर्ध-ऐतिहासिक वृत्तों का संकलन है। यह ग्रन्थ अति प्राचीन है। इसका रचना काल अनुमानतः चौथी शताब्दी है। प्रस्तुत ग्रन्थ में कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण-वृत्तांत का वर्णन किया गया है। प्रसंगवश अनेक अवान्तर कथाएँ भी इसमें आई हैं। इस ग्रन्थ में रामचरित, कौरव एवं पाण्डवों के कथानक आदि को भी संक्षिप्त रूप में गुम्फित किया गया है। अनेक लौकिक कथाएँ भी वर्णित हैं। यही कारण है कि यह ग्रन्थ कथा, चरित एवं पुराण तीनों ही विधाओं के तत्त्वों को अपने में समायोजित किये हुए हैं। सौ लम्भक वाले इस ग्रन्थ के कथानकों की सरसता में पाठक स्वाभाविक

रूप से डूब जाता है। इस ग्रन्थ के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड के रचयिता संघदासगणि हैं, जिन्होंने 29 लम्भकों की रचना की। द्वितीय खंड के रचयिता धर्मदासगणि हैं, जिन्होंने शेष 71 लम्भकों की रचना कर ग्रन्थ को विस्तार दिया। यह प्राकृत कथा-साहित्य के विकास की दृष्टि से आधारभूत ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के आधार पर आगे चलकर अनेक स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ लिखे गये। जम्बुचरियं, अगडदत्तचरियं, समराइच्चकहा आदि का मूल स्रोत यही कथा-ग्रन्थ है। तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के विभिन्न पहलू भी इसमें उजागर हुए हैं। इसकी भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। जगह-जगह सुभाषितों का प्रयोग हुआ है। यथा -

सव्वं गीयं विलवियं, सव्वं नट्टं विडंबियं।

सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥... (मुखाधिकार पृ.105)

अर्थात् - सभी गीत विलाप हैं, सभी नृत्य विडम्बनाएँ हैं, सभी आभूषण भार हैं, सभी कामभोग दुःखप्रद हैं।

जर्मन विद्वान् आल्सडोर्फ ने वसुदेवहिण्डी की तुलना गुणाढ्य की पैशाची भाषा में लिखी बृहत्कथा से की है। संघदासगणि की इस कृति को वे बृहत्कथा का रूपान्तर मानते हैं। बृहत्कथा में नरवाहनदत्त की कथा दी गई है और इसमें वसुदेव का चरित। गुणाढ्य की उक्त रचना की भाँति इसमें भी शृंगारकथा की मुख्यता है पर अन्तर यह है कि जैनकथा होने से इसमें बीच-बीच में धर्मोपदेश बिखरे पड़े हैं। वसुदेवहिण्डी में एक ओर सदाचारी श्रमण, सार्थवाह एवं व्यवहारपटु व्यक्तियों के चरित अंकित हैं तो दूसरी ओर कपटी तपस्वी, ब्राह्मण, कुट्टनी, व्यभिचारिणी स्त्रियों और हृदयहीन वेश्याओं के कथानकों की शैली सरस एवं सरल है।

327. मध्यकालीन प्राकृत पत्र

भट्टारकों द्वारा स्थापित ग्रन्थ भण्डारों में प्राकृत भाषा के अनेक दुर्लभ ग्रन्थ संरक्षित हुए हैं। प्राकृत व्याकरण, छन्द, कोश आदि के अतिरिक्त लौकिक उपयोग के ग्रन्थों की प्रतियां भी इन ग्रन्थ-भण्डारों में सुरक्षित रखी जाती थीं। आरणीय स्वर्गीय डॉ. कासलीवाल जी ने ऐसे कतिपय प्राकृत के ग्रन्थों की सूचना दी है। जयपुर में स्थित दिगम्बर जैन मंदिर पाण्डेय लूणकरण जी में तो प्राकृत का एक

काव्यपत्र भी सुरक्षित है, जो किसी प्रेमी ने अपने आत्मीय जन को लिखा होगा। प्राकृत की कुल 9 गाथाओं में गुम्फित वह पत्र इस प्रकार है–

कुसल अम्हाण वर अणवरयं तुम्ह गुणनिलयंतस्स।
पट्ठाविय नियकुसलं जिम अम्हं होइ संतोसो॥ 1॥
सो दिवसो सा राई सो य पएसो गुणाण आवासो।
सुह गुरू तुह मुहकमलं दीसइ जत्थेव सुहजणणं॥ 2॥
किं अब्भुज्जो देसो किं वा मसि नत्थि तिहुयणे सयले।
किं अम्हेहिं न कज्जं जं लेहो न पेसिओ तुम्हें॥ 3॥
जइ भुज्जो होइ महीं उयहि मसी लेहिणी य वणराई।
लिहइ सुराहि वणाहो तुम्ह गुणा ण याणंति॥ 4॥
जह हंसो सरइ सरं पइ्डल कुसुमाइं महुयरो सरइ।
चंदणवणं च नागो तह अम्ह मणं तुमं सरइ॥ 5॥
जह भद्दवए मासे भमरा समरंति अंब कुसुमाइं।
तह भयवं मह हियय सुमरइ तुम्हाण मुहकमलं॥ 6॥
जह वच्छ सरइ सुरहिं वसंतमासं च कोइला सरइ।
विज्झो सरइ गइंदं तह अम्ह मणं तुमं सरइ॥ 7॥
जह सो नील कलाओ पावस कालम्मि पंजर बूढो।
संभरइ वणे रमिउं तह अम्हं मणं तुमं सरइ॥ 8॥
जह सरइ सीय रामो रूप्पिणि कण्हो णलो य दमयंती।
गोरी सरइ रुद्दं तह अम्ह मणं तुमं सरइ॥ 9॥

राजस्थान के जैन शास्त्र–भण्डारों में संस्कृत, अपभ्रंश एवं हिन्दी भाषा की तरह शौरसेनी प्राकृत भाषा की पाण्डुलिपियाँ का भी अच्छा संग्रह मिलता है। आचार्य कुन्दकुन्द की पूरी कृतियों का संग्रह राजस्थान के शास्त्र भण्डारों में संग्रहित है।

328. मनोरमाचरित

मनोरमा की कथा जिनेश्वरसूरिकृत कहारयणकोस (सं. 1108) में दी गई

है। इसमें बतलाया गया है कि श्रावस्ती का राजा किसी नगर के व्यापारी की पत्नी को अपनी रानी बनाना चाहता है। वह सफल भी हो जाता है किन्तु अन्त में देवताओं द्वारा मनोरमा के शील की रक्षा की जाती है। इस कथा को स्वतंत्र विशाल रचना के रूप में बनाया गया है जिसका परिमाण 1500 गाथाएँ हैं। इसकी रचना नवांगी टीकाकार अभयदेव के शिष्य वर्धमानाचार्य ने सं. 1140 में की है।

329. मलयसुन्दरीकथा

इसमें महाबल और मलयसुन्दरी की प्रणयकथा का वर्णन है। इस नाम की अनेक रचनाएँ विविधकर्तृक मिलती हैं। प्रथम प्राकृत 1256 गाथाओं में अज्ञातकर्तृक है। इसमें एक पौराणिक कथा का परीकथा से संमिश्रण किया गया है। इसमें प्रचुर कल्पनापूर्ण अनोखे और जादूभरे चमत्कारी कार्यों की बाढ़ में पाठक बहता है। इस उपन्यास में परीकथा साहित्य में सुज्ञात कल्पनाबन्धों (motifs) का ताना-बाना फैला हुआ है जिसमें राजकुमार महाबल और राजकुमारी मलयसुन्दरी का आकस्मिक मिलन, फिर एक दूसरे से वियोग और फिर सदा के लिए मिलन चित्रित है। यह सब उनके पूर्वोपार्जित कर्मों के फल का ही आश्चर्यकारी रूप था। पीछे महाबल जैन मुनि हो जाता है और मलयसुन्दरी साध्वी। इस तरह जैन पौराणिक कथा को परीकथा से संमिश्रितकर प्रस्तुत किया गया है। प्राकृत की यह रचना अभी अप्रकाशित है।

330. मल्लिनाथचरिय

19वें तीर्थंकर मल्लिनाथ पर प्राकृत में 3-4 रचनाएँ मिलती हैं। उनमें जिनेश्वरसूरिकृत का प्रमाण 5555 ग्रन्थाग्र है। इसकी रचना सं. 1175 में हुई थी। जिनेश्वरसूरि के अन्य प्राकृत चरित-चन्दप्पहचरियं और नमिनाहचरियं भी इस काल के लगभग लिखे गये थे। द्वितीय रचना चन्द्रसूरि के शिष्य **बडगच्छीय हरिभद्रसूरि** की है जिसका ग्रन्थाग्र 9000 प्रमाण है। यह तीन प्रस्तावों में विभक्त है। इसकी रचना में सर्वदेवगणि ने सहायता की थी। ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इन्होंने कुमारपाल के मंत्री पृथ्वीपाल के अनुरोध पर

इस चरित की तथा अन्य चरित ग्रन्थों की रचना की थी उनमें केवल चन्दप्पहचरियं और अपभ्रंश में णेमिणाहचरिउ उपलब्ध हैं। तीसरा मल्लिनाथ चरित भुवनतुंगसूरि कृत 500 ग्रन्थाग्र प्रमाण जैसलमेर के भण्डारों में ताड़पत्र पर लिखित है तथा चतुर्थ मल्लिनाथ चरित 105 प्राकृत गाथाओं में अज्ञातकर्तृक है।

331. महाकवि स्वयम्भू

अपभ्रंश के आदि कवि के रूप में स्वयम्भू को स्मरण किया जाता है। अब तक उपलब्ध अपभ्रंश रचनाओं में स्वयंभू की प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। पउमचरिउ, रिट्ठनेमिचरिउ एवं स्वयंभूछन्द। ये उनकी काव्य-प्रतिभा का प्रतिनिधित्व करती हैं। यद्यपि स्वयंभू ने अपने ग्रन्थों में अपभ्रंश के पूर्ववर्ती कवियों चतुर्मुख, ईशान आदि का उल्लेख किया है, किन्तु इनके साहित्य आदि का पूरा परिचय उपलब्ध न होने से उनकी काव्य-प्रतिमा का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। अतः न केवल दक्षिण भारत के अपभ्रंश के कवियों में अपितु सम्पूर्ण अपभ्रंश साहित्य में स्वयम्भू का योगदान विशेष अर्थ रखता है। स्वयम्भू अपभ्रंश के पहले महाकवि हैं, जिन्होंने राम और कृष्ण-कथा को प्रबन्ध-काव्यों का विषय बनाया है। जिस प्रकार संस्कृत और प्राकृत की साहित्यिक कृतियों का शुभारम्भ रामकथा से होता है उसी प्रकार स्वयम्भू ने अपभ्रंश साहित्य में भी पउमचरिउ नामक पहला प्रबन्ध काव्य लिखा है। अपभ्रंश में कृष्ण और पाण्डव-कथा को सर्वप्रथम काव्य रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय स्वयम्भू को है। साहित्य एवं भाषा के क्षेत्र में स्वयम्भू के योगदान को देखते हुए उन्हें अपभ्रंश का युग-प्रवर्तक कवि कहा जा सकता है। उन्होंने भारतीय काव्य की अनेक कथाओं और अभिप्रायों को विकसित किया है। अपभ्रंश जैसी लोक भाषा के स्वरूप को सुस्थिर कर उसे महाकाव्य के उपयुक्त बनाया है तथा संवादतत्त्वों एवं सूक्तियों आदि से उसे समृद्ध किया है। डॉ. संकटा प्रसाद उपाध्याय ने **कवि स्वयम्भू** नामक पुस्तक में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया है।

स्वयम्भू के जन्म-स्थान एवं जन्मकाल सुनिश्चित नहीं हैं, किन्तु उनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि वे यापनीय संघ से सम्बन्धित थे। कर्नाटक उनकी

काव्य-साधना का प्रमुख क्षेत्र था। कवि के जन्म-काल के सम्बन्ध में विद्वानों के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि वे ई. 677 से ई. 959 के बीच कभी हुए थे। कवि ने आचार्य जिनसेन (ई. 783) को अपने 'रिट्ठनेमिचरिउ' में स्मरण किया है तथा महाकवि पुष्पदन्त (ई. 959) ने स्वयम्भू का उल्लेख किया है। अतः महाकवि स्वयम्भू आठवीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं नवीं के पूर्वार्ध में हुए होंगे।

अपभ्रंश के महाकवि पुष्पदन्त ने स्वयंभू कवि को व्यास, भास, कालिदास, भारवि, बाण, चतुर्मुख आदि की श्रेणी में विराजमान किया है। अन्य कवियों ने उन्हें महाकवि, कविराज, कविराज चक्रवर्ती जैसी उपाधियों से सम्मानित किया है। हिन्दी भाषा एवं साहित्य के जाने माने समीक्षक राहुल सांकृत्यायन ने उन्हें हिन्दी के पाँचों युगों के कवियों में सबसे बड़ा बताया है।

332. महानिसीहं

महानिशीथ को समस्त अर्हत् प्रवचन का सार माना गया है। वस्तुतः अर्धमागधी ग्रन्थों में मूल रूप में जो महानिशीथ था, वह यथावत रूप में उपलब्ध नहीं रहा। वर्तमान में आचार्य हरिभद्र द्वारा उसका परिष्कार कर संशोधन किया गया रूप उपलब्ध है, जिसे सिद्धसेन, यक्षसेन, नेमिचन्द्र, जिनदासगणि आदि आचार्यों ने भी बहुमान्य किया है। इसकी भाषा एवं विषय के स्वरूप को देखते हुए यह सूत्र अर्वाचीन ही प्रतीत होता है। इसमें छः अध्ययन एवं दो चूला हैं, जिनमें क्रमशः 18 पापस्थान, पाप कर्मों की आलोचना, पंच मंगल का महत्त्व, कुशील साधु का संसर्ग छोड़ने, गुरु-शिष्य के पारिवारिक सम्बन्ध तथा आलोचना एवं प्रायश्चित्त का वर्णन मिलता है।

333. महाबन्ध

महाबन्ध का दूसरा नाम महाधवल भी है। महाबन्ध छक्खण्डागम का छठा खण्ड है। इसकी रचना आचार्य भूतबलि ने चालीस हजार श्लोक प्रमाण में की है। इसका मंगलाचरण भी पृथक नहीं है, बल्कि यह चतुर्थ वेदना खण्ड में उपलब्ध मंगलाचरण से ही सम्बद्ध है। विशालता के कारण ही महाबन्ध के पृथक ग्रन्थ का रूप प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ में चार अधिकार हैं-

(1) प्रकृतिबन्ध अधिकार (2) स्थितिबन्ध अधिकार

(3) अनुभागबन्ध अधिकार (4) प्रदेशबन्ध अधिकार

कर्मस्वरूप के अवगत करने के लिए यह ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है।

334. महाराष्ट्री और अपभ्रंश

मध्ययुग में प्राकृत भाषा का जितना अधिक विकास हुआ, उतनी ही उसमें विविधता आई। किन्तु साहित्य में प्रयोग बढ़ जाने के कारण विभिन्न प्राकृतें महाराष्ट्री प्राकृत के रूप में एकरूपता को ग्रहण करने लगीं। प्राकृत के वैयाकरणों ने साहित्य के प्रयोगों के आधार पर महाराष्ट्री प्राकृत के व्याकरण के कुछ नियम निश्चित कर दिए। उन्हीं के अनुसार कवियों ने अपने ग्रन्थों में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग किया। इससे प्राकृत भाषा में स्थिरता तो आई किन्तु उसका जन-जीवन से सम्बन्ध दिनों दिन घटता चला गया। वह साहित्य की भाषा बनकर रह गई। अतः जनबोली का स्वरूप उससे कुछ भिन्नता लिए हुए प्रचलित होने लगा, जिसे भाषाविदों ने अपभ्रंश भाषा का नाम दिया है। इस तरह से प्राकृत ने लगभग 6-7 वीं शताब्दी में अपना जनभाषा अथवा मातृभाषा का स्वरूप अपभ्रंश को सौंप दिया। यहाँ से प्राकृत भाषा के विकास की तीसरी अवस्था प्रारम्भ हुई। फिर भी शौरसेनी और महाराष्ट्री प्राकृत में आगे भी साहित्य लिखा जाता रहा है।

335. महाराष्ट्री प्राकृत

जिस प्रकार स्थान भेद के कारण शौरसेनी आदि प्राकृतों को नाम दिये जाते हैं उसी तरह महाराष्ट्र प्रान्त की जनबोली से विकसित प्राकृत का नाम महाराष्ट्री प्रचलित हुआ है। इसने मराठी भाषा के विकास में भी योगदान किया है। महाराष्ट्री प्राकृत के वर्ण अधिक कोमल और मधुर प्रतीत होते हैं। अतः इस प्राकृत का काव्य में सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। ईसा की प्रथम शताब्दी से वर्तमान युग तक इस प्राकृत में ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं। प्राकृत वैयाकरणों ने भी महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण लिखकर अन्य प्राकृतों की केवल विशेषताएँ गिना दी हैं। यद्यपि चंड, वररुचि एवं हेमचन्द्र के प्राकृत व्याकरणों में 'महाराष्ट्री' प्राकृत का कोई उल्लेख नहीं है। किन्तु काव्य की भाषा प्राकृत महाराष्ट्री ही मानी जाती थी। अतः उसी को सामान्य प्राकृत स्वीकार किया है। वररुचि के 10वें एवं 11वें परिच्छेदों में शौरसेनी की

प्रधानता है। किन्तु 12वें परिच्छेद में महाराष्ट्री शब्द का प्रयोग कर उसे सामान्य प्राकृत कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि वररुचि के इस 12वें परिच्छेद की रचना के समय महाराष्ट्री शौरसेनी से भिन्न प्राकृत भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। बाद में वैयाकरणों ने उसे ही आधार मानकर अपने ग्रन्थ लिखे हैं।

सामान्य नियम– प्राचीन प्राकृत वैयाकरण चंड ने अपने व्याकरण में जिन नियमों की मात्र सूचना दी थी वररुचि ने उन नियमों को स्थिर और समृद्ध किया है। हेमचन्द्र ने सूक्ष्मता से साहित्य और लोक में प्रचलित रूपों के आधार पर अपने नियम प्रस्तुत किये हैं। बाद में वैयाकरणों ने प्राकृत के इन सामान्य नियमों को अपने ग्रन्थों द्वारा प्रचारित किया है।

1. भारतीय आर्य भाषा के ऋ, ॠ एवं लृ का सर्वथा अभाव।
2. ऋ वर्ग के स्थान पर अ, इ, उ और रि का प्रयोग। यथा–
   नृत्यः > णच्चो   तृणः > तिणो,   मृषा > मुसा,   ऋषिः > रिसि।
3. ऐ और औ के स्थान पर ए, ओ का प्रयोग पाया जाता है। यथा–
   शैलः > सेलो, कौमुदी > कोमुई आदि। अइ और अउ रूप भी मिलते हैं–
   दैवः > दइवे, पौरः > पउरो आदि।
4. प्रायः हस्व स्वर सुरक्षित है। यथा–
   अक्षि > अक्खि, अग्निः > अग्गि आदि।
5. संयुक्त व्यंजनों के पूर्ववर्ती दीर्घ स्वर ह्रस्व हो गये हैं। यथा–
   शान्तः > संतो, शाक्यः > सक्को आदि।
6. सानुनासिक स्वर बदलकर दीर्घ स्वर हो जाते हैं। यथा–
   सिंह > सीहो आदि।
7. प्राकृत में विसर्ग का प्रयोग नहीं होता। उसके स्थान पर ए या ओ हो जाता है।
   यथा– रामः > रामो, देवः > देवे।
8. पदान्त व्यंजनों क लोप हो जाता है। यथा–
   पश्चात् > पच्छा, जावत् > जाव
9. श, ष और स के स्थान पर केवल स का प्रयोग। यथा–
   श्वः > अस्सो, मनुष्यः > माणुसो आदि।

10. दो स्वरों के बीच में आने वाले क ग च ज त द व का प्रायः लोप हो जाता है। यथा–

मुकुलः > मुउले नगरम् > णयरं, शची > सई,
प्रजापतिः पयावई, यतिः > जई, मदनः > मयणो,
रिपुः > रिउ, जीवः > जीओ आदि

11. संयुक्त व्यंजानान्त ध्वनियों का समीकरण हो गया है। यथा–
चक्र > चक्को, लक्ष्म > लच्छी, वृक्षः > वच्छो आदि।

12. द्विवचन का लोप हो गया है।

13. हलन्त प्रतिपादिक समाप्त हो गये हैं।

14. षष्ठी का प्रयोग चतुर्थी के स्थान पर और चतुर्थी का प्रयोग षष्ठी के स्थान पर होने लगा है।

15. न के स्थान पर प्रायः ण का प्रयोग होने लगा है। इत्यादि।

336. महावीरचरियं (गुणचन्द्रगणि)

अन्तिम तीर्थंकर महावीर के जीवन पर प्राकृत रचनाएँ उपलब्ध हैं। उनमें यह सर्वप्रथम है। महावीरचरित गुणचन्द्रगणि की उत्कृष्ट रचना है। इसका रचना काल वि. सं. 1139 है। गद्य-पद्य मिश्रित इस चरितकाव्य में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के आदर्श जीवन को सरस एवं काव्यमय शैली में प्रस्तुत किया गया है। इस काव्य-ग्रन्थ में 8 सर्ग हैं। प्रथम चार में नायक के पूर्वभवों का एवं शेष चार में वर्तमान भव का वर्णन है। काव्यकार ने धार्मिक सिद्धान्तों के निरूपण, तत्त्वनिर्णय एवं दर्शन के गूढ़ रहस्यों को स्पष्ट करने हेतु नायक के जीवन की विभिन्न घटनाओं का विश्लेषण धार्मिक वातावरण में प्रस्तुत किया है। मारीच के भव के कृत्य, वर्धमान की बाल-क्रीड़ाएँ, लेखशाला में प्रदर्शित बुद्धि कौशल, विभिन्न उपसर्ग, गोशालक का आख्यान आदि घटनाओं के वर्णन द्वारा तीर्थंकर महावीर के चरित को अनेक उतार-चढ़ाव के साथ विकसित किया गया है। नायक के पूर्व जन्मों की घटनाओं के समावेश के कारण कथानक में सम्पूर्णता परिलक्षित होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य आदि महाव्रतों के आख्यानों का गुम्फन कर नायक के चरित को सरल, उज्ज्वल एवं निर्मल बनाने का कवि ने पूर्ण प्रयास किया है। सांस्कृतिक दृष्टि से भी इस चरितकाव्य में महत्त्वपूर्ण सामग्री

उपलब्ध है। मंत्र-तंत्र, विद्या-साधक, कापालिकों के क्रियाकाण्ड आदि का भी उल्लेख है। महाराष्ट्री प्राकृत में रचित इस काव्य में यत्र-तत्र संस्कृत एवं अपभ्रंश के पद्य भी प्राप्त होते हैं।

337. महावीरचरियं (नेमिचन्द)

यह भगवान महावीर के जीवन चरित पर नेमिचन्द्रसूरि द्वारा लिखित प्राकृत रचना है जो पद्यबद्ध 3000 ग्रन्थाग्र प्रमाण है। इसमें कुल 2385 पद्य हैं। इसका प्रारंभ महावीर के 26वें भव पूर्व में भगवान् ऋषभ के पौत्र मरीचि के पूर्वजन्म में एक धार्मिक श्रावक की कथा से होता है। उसने एक आचार्य से आत्मशोधन के लिए अहिंसाव्रत धारण कर अपना जीवन सुधारा और आयु के अन्त में भरतचक्रवर्ती का पुत्र मरीचि नाम से हुआ। एक समय भरतचक्रवर्ती ने भगवान् ऋषभ के समवशरण में आगामी महापुरुषों के सम्बन्ध में उनका जीवन परिचय सुनते हुए पूछा- भगवन्, तीर्थंकर कौन कौन होंगें ? क्या हमारे वंश में भी कोई तीर्थंकर होगा ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ऋषभ ने बतलाया कि इक्ष्वाकुवंश में मरीचि अन्तिम तीर्थंकर का पद प्राप्त करेगा। भगवान् की इस भविष्यवाणी को अपने सम्बन्ध में सुनकर मरीचि प्रसन्नता से नाचने लगा और अहं भाव से विवेक तथा सम्यक्त्व की उपेक्षा कर तपभ्रष्ट भटकता फिरा।

इस रचना में भगवान् महावीर के 25 पूर्व भवों का वर्णन रोचक पद्धति से हुआ है। भाषा सरल और प्रवाहमय है। भाषा को प्रभावक बनाने के लिए अलंकारों की योजना भी की गई है। इसके रचियता बृहदच्छ के आचार्य नेमिचन्द्रसूरि हैं। इनका समय विक्रम की 12वीं शती माना जाता है। इनकी छोटी बड़ी 5 रचनाएँ मिलती हैं - 1. आख्यानमणिकोश (मूलगाथा 52), 2. आत्म बोधकुलक अथवा धर्मोपदेशकुलक (गाथा 22), 3. उत्तराध्ययनवृत्ति (प्रमाण 12000 लोक), 4. रत्नचूड़कथा (प्रमाण 3081 लोक) और, 5. महावीरचरियं (प्रमाण 3000 लोक)। प्रस्तुत रचना उनकी अन्तिम कृति है और इसका रचनाकाल सं. 1141 है।

338. महिपालचरित (महिवालकहा)

महिवालकहा प्राकृत पद्य में लिखी हुई वीरदेवगणि की रचना है। इसमें 1826 गाथाएँ हैं। किन्तु ग्रन्थ में अध्ययन आदि का विभाजन नहीं है। इस ग्रन्थ

की प्रशस्ति से इतना ही पता चलता है कि देवभद्रसूरि चन्द्रगच्छ में हुए थे। उनके शिष्य सिद्धसेनसूरि और सिद्धसेनसूरि के शिष्य मुनिचन्द्रसूरि थे। वीरदेवगणि मुनिचन्द्र के शिष्य थे। विषयवस्तु के विवेचन को देखते हुए यह रचना अर्वाचीन मालूम होती है। इस कथा में नवकारमंत्र का प्रभाव, चण्डीपूजा, शासनदेवता की भक्ति, यक्ष और कुलदेवी की पूजा, भूतों की बलि, जिनभवन का निर्माण, केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर देवों द्वारा कुसुम वर्षा, आचार्यों का कनक के कमल पर आसीन होना आदि विषयों का वर्णन किया है। वेश्यासेवन को वर्जित बताया है। सोने चाँदी (सोवन्नियहट्ट) और कपड़े की दुकानों (दोसियहट्ट) का उल्लेख है। इस कथा का नायक वास्तव में परीकथा का एक राजपुत्र है। इस कथा में परीकथा और पौराणिककथा का अच्छा सम्मिश्रण किया गया है। इस पर प्राकृत –संस्कृत में कई रचनाएँ उपलब्ध होती हैं।

339. मण्डलपगरण :

आचार्य विजयसेनसूरि के शिष्य मुनि विजयकुशल ने प्राकृत भाषा में 99 गाथाओं में मण्डलप्रकरण नामक ग्रन्थ की रचना वि. सं. 1652 में की है। ग्रन्थकार ने स्वयं निर्देश किया है कि आचार्य मुनिचन्द्रसूरि ने मण्डलकुलक रचा है, उसको आधारभूत मानकर जीवाजीवाभिगम की कई गाथाएँ लेकर इस प्रकरण की रचना की गई है। यह कोई नवीन रचना नहीं है। ज्योतिष के खगोल विषयक विचार इसमें प्रदर्शित किये गए हैं। यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं है। इस की पाण्डुलिपि ला.द.भा. संस्कति विद्यामंदिर अहमदाबाद में है।

340. मागधी प्राकृत

मगध प्रदेश की जनबोली को सामन्य तौर पर मागधी प्राकृत कहा गया है। मागधी कुछ समय तक राजभाषा थी। अतः इसका सम्पर्क भारत की कई बोलियों के साथ हुआ। इसीलिए पालि, अर्धमागधी आदि प्राकृतों के विकास में मागधी प्राकृत को मूल माना जाता है। इसमें कई लोक भाषाओं का समावेश था। मागधी प्राकृत की यद्यपि सभी प्राकृतों के स्वरूप–गठन में महत्त्वपूर्ण भूमिका है, किन्तु अन्य प्राकृतों की तरह मागधी में स्वतन्त्र रचनाएँ प्राप्त नहीं होती हैं। केवल संस्कृत नाटकों और शिलालेखों में इसके प्रयोग देखने में आते हैं। प्रायः सभी प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी के लक्षण और उदाहरणों का उल्लेख किया है।

किन्तु उनमें मतभेद भी है कि कौन लोग इस प्राकृत का अधिक प्रयोग करते थे। संस्कृत नाटकों में सामान्य स्तर के पात्र इसका व्यवहार करते हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित नियम नहीं हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि मागधी कोई एक निश्चित भाषा नहीं थी, अपितु कई बोलियों का उसमें सम्मिश्रण था, जिनमें ज के स्थान पर य, र के स्थान पर ल, स के स्थान पर श तथा अकारान्त शब्दों में ए का प्रयोग होता था।

मागधी किस प्रदेश की भाषा थी, यह निश्चित कहना कठिन है। क्योंकि मगध जनपद के बाहर कई जगह उसका प्रयोग होता था तथा उसमें भी एकरूपता प्राप्त नहीं होती। लेकिन इसे मगध देश की भाषा मानना ठीक है, क्योंकि मागधी भाषा को राजभाषा होने का सौभाग्य प्राप्त था। और शायद बोलियों के सम्पर्क में आने से इसके पालि, अर्धमागधी, आदि कई रूप प्रचलित हुए। वररुचि एवं मार्कण्डेय ने मागधी की प्रकृति (मूल) होने का श्रेय शौरसेनी को दिया है। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मागधी शौरसेनी से जन्मी है। जिस प्रकार शौरसेनी मध्यप्रदेश में प्रचलित वैदिक युग की कथ्य भाषा से उत्पन्न हुई है उसी प्रकार मागधी ने भी उस कथ्य भाषा से जन्म ग्रहण किया है, जो वैदिक काल में मगध देश में प्रचलित थी। किन्तु मध्यप्रदेश की सामान्य प्राकृत शौरसेनी के प्रभाव में मागधी अवश्य रही। मध्यप्रदेश और मगध की राजनीति का भी इन भाषाओं की प्रमुखता पर प्रभाव पड़ता रहा है।

मागधी के भी दो रूप होते हैं- (1) प्रथम युग की मागधी, जो अशोक के शिलालेखों तथा अश्वघोष के नाटकों में पाई जाती है तथा (2) मध्ययुग की मागधी, जो भास के और परिवर्तीकाल के नाटकों में तथा प्राकृत के वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त हुई है। इन प्रमुख भेदों के अतिरिक्त मागधी के अन्तर्गत अन्य लोकभाषाओं का भी समावेश था। शकारी, चांडाली और शबरी ये तीन भाषाएँ मागधी के ही रूपान्तर हैं। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार मागधी की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं। यथा

1. अकारान्त पु. शब्दों के प्रथमा के एकवचन में एकारान्त रूप होते हैं। सामान्य प्राकृत की तरह 'ओ' नहीं होता।

   यथा-एषः पुरुषः > एशे पुलिशे, मेषः > मेशे, नरः > नले आदि

2. स, ष एवं श इन तीन के स्थान पर केवल तालब्य श का प्रयोग होता है
   यथा–हंसः > हंशे, सारसः > शालशे, पुरुषः > पुलिशे, शत्रुः > शत्तू
3. किन्तु 'स' एवं 'ष' संयुक्त वर्ण के साथ प्रयुक्त हों तो वहाँ सामान्य प्राकृत की तरह दन्त्य सकार का ही प्रयोग होता है।
   यथा– कष्टम् > कसटं, निष्फलं > निस्फल्, बृहस्पति > बुहस्पदी।
4. किन्तु 'ग्रीष्म' को 'गम्हि' होता है। इसमें षकार का सकार नहीं होता।
5. रेफ के स्थान पर लकार का प्रयोग है।
   यथा– करः > कले, नरः > नले, गिरि > गिली, राजा > लाआ
6. ज, र्ज, द्य का 'य' में परिवर्तन हो जाता है।
   यथा– जानाति > याणादि, दुर्जन > दुरयणे, मद्यम् > मय्यं।
7. मागधी में ट और ष्कार से युक्त ठकार के स्थान पर 'स्ट' आदेश होता है।
   यथा–पट्टः > पस्टे, भट्टारिका > भस्टालिका, सुष्ठु > शुस्टु, कोष्ठागारम् > कोस्टागालं।
8. न्य, ण्य, ज्ञ, न्ज के स्थान पर ञ का होता है।
   यथा– प्रज्ञा > प ञ्ञा, अञ्जली > अ जली
9. स्थ और र्थ के स्थान पर 'स्त' होता है।
   यथा– उपस्थितः > उवस्तिदे, अर्थवती > अस्तवदी आदि।
10. अनादि 'च्छ' के स्थान पर 'श्च' होता है।
   यथा–गच्छ > गश्च्, पुच्छति > पुश्चदि आदि
11. 'क्त' प्रस्तयय का ड तथा 'क्त्वा' प्रत्यय का 'दाणि' होता है।
   यथा– गतः > गडे, मृत > मडे, कृत्वा > करिदाणि
12. 'अहं', के लिए निम्न तीन आदेश होते हैं।
   यथा–अहं भणामि > हके, हगे, अहके भणामि।
13. हृदय शब्द के स्थान पर 'हडक्क' आदेश होता है।
   यथा– मम हृदये > मम हडक्के
14. मागधी के धातुरूप शौरसेनी के समान होते हैं। किन्तु उनमें वर्ण–परिवर्तन मागधी की प्रवृत्तियों के अनुसार होते हैं।

मागधी प्राकृत की ये विशेषताएँ प्रायः संस्कृत नाटकों और शिलालेखीय प्राकृत में उपलब्ध होती हैं, किन्तु अन्य प्राकृतों के ग्रन्थों में इनके प्रयोग कम हैं।

341. मलवणिया, दलसुख भाई

श्रीमान् पं. दलसुखभाई डी. मालवणिया का जन्म गुजरात के सुरेन्द्र जिले के एक गांव सायला में 22 जुलाई 1910 को हुआ था। आपने न्यायतीर्थ परीक्षा 1931 में उत्तीर्ण की थी। आप बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी में जैनदर्शन के प्राध्यापक रहे और 1959 ई. से आपने एल.डी. इन्स्टीट्यूट आफ इण्डालांजी, अहमदाबाद में अपनी सेवाएँ दी, तथा 1976 में वहाँ से सेवामुक्त हुए। प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी के आप (1957-73) सचिव रहे। इस सेवाकाल में प्रो. मालवणिया ने प्राकृत साहित्य और जैन आगमों के अध्ययन एवं प्रचार-प्रसाद में अपूर्व योगदान किया है। गणधरवाद, स्थानांग और समवायांगसूत्र प्राकृत ग्रन्थों का आपने सम्पादन-अनुवाद का कार्य किया। आगम युग का जैन दर्शन आपकी प्रसिद्ध पुस्तक है। पं. मालवणिया जी ने कनाड़ा, फ्रांस, जर्मनी आदि देशों में भी जैनदर्शन और प्राकृत के प्रचार प्रसार के लिए भ्रमण किया था।

342. मुनिसुव्वयसामिचरियं

प्राकृत में 20वें तीर्थंकर पर श्रीचन्द्रसूरि की एक मात्रा रचना उपलब्ध होती है। इसमें लगभग 10994 गाथाएँ हैं। यह अप्रकाशित रचना है। प्रस्तुत चरित का समय निश्चित नहीं है पर एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार ग्रन्थ रचना का समय सं. 1193 है। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से मालूम होता है कि लेखक ने आसापल्लिपुरी (वर्तमान अहमदाबाद) में श्रीमालकुल के श्रेष्ठ श्रावक श्रेष्ठि नागिल के सुपुत्र के घर में रहकर लिखा था।

343. मूलाचार (मूलायारो)

शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन आचार्यों में मूलाचार के रचयिता वट्टकेर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का ग्रन्थ ही मूलाचार मान लिया गया था क्योंकि वट्टकेर को उनका उपनाम अनुमानित किया गया था किन्तु अब विद्वानों ने गहन अध्ययन के बाद यह स्पष्ट कर दिया है कि वट्टकेर स्वतंत्र आचार्य हुए हैं। वट्टकेर का समय आचार्य कुन्दकुन्द के समकालीन स्वीकार

किया जाता है। अतः वट्टकेर प्रथम शताब्दी के प्राकृत आचार्य थे। इनका ग्रन्थ मूलाचार मुनियों के आचार का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें कुल 1252 गाथाएँ हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत की यह प्राचीन रचना है। श्रमणाचार का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अनेक गाथाएँ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में प्रचलित मिलती हैं। जैन आचार दर्शन के लिए मूलाचार एक आधारभूत ग्रन्थ है।

मूलाचार प्रमुख रूप से श्रमणाचार का प्राचीन ग्रन्थ है। शौरसेनी प्राकृत में रचित इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य वट्टकेर हैं। भाषा एवं विषय दोनों ही दृष्टियों से यह ग्रन्थ प्राचीन है। इस ग्रन्थ में 12 अधिकार हैं, जिनमें श्रमण-निर्ग्रंथों की आचार संहिता का सुव्यवस्थित, विस्तृत एवं सांगोपांग विवेचन किया गया है। इसकी तुलना आचारांग से की जाती है। आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका में मूलाचार के उद्धरण को 'आचारांग' नाम दे कर इसका आगमिक महत्त्व प्रतिपादित किया है। प्रथम मूलगुणाधिकार में पाँच महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निरोध, छः आवश्यक आदि को मिलाकर श्रमण के 28 मूलगुणों के स्वरूप एवं उनके पालन से प्राप्त फल का विवेचन है। द्वितीय बृहत्प्रत्याख्यानाधिकार में श्रमण को सभी पापों का त्याग करने, कषाय रहित रहने, परीषहों को समताभाव से सहने, चार आराधनाओं में स्थिर रहने आदि का उपदेश दिया गया है। तीसरे संक्षेपप्रत्याख्यानाधिकार में आकस्मिक मृत्यु के समय कषाय एवं आहार त्याग का निर्देश दिया है। समाचाराधिकार में दस प्रकार के आचारों का वर्णन है। पंचाचाराधिकार में दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य इन पाँच आचारों का भेद सहित विस्तार से वर्णन है। प्रसंगवश इसमें आगम एवं सूत्र ग्रन्थों का भी उल्लेख हुआ है। पिण्डशुद्धिअधिकार में श्रमणों की पिण्डैषणा से सम्बन्धित नियमों की मीमांसा की गई है। षडावश्यकाधिकार में 'आवश्यक' शब्द का अर्थ बताते हुए सामायिक, स्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान एवं कायोत्सर्ग इन छः आवश्यकों का भेदपूर्वक विस्तार से निरूपण किया है। इस अधिकार के प्रारम्भ में अर्हन्त, जिन, आचार्य, साधु आदि पंचनमस्कार की निरुक्तिपूर्वक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। द्वादशानुप्रेक्षाधिकार में अनित्य, अशरण,

अशुचि आदि बारह अनुप्रेक्षाओं का सूक्ष्म विवेचन करते हुए इन्हें कर्मक्षय एवं परिणामशुद्धि का माध्यम बताया गया है। अनगारभावनाधिकार में अनगार का स्वरूप, चिन्ह, व्रत, भिक्षा, विहार आदि से सम्बन्धित शुद्धियों का पालन करने का निर्देश है। समयसाराधिकार में शास्त्र के सार का प्रतिपादन करते हुए चारित्र को सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। जीवों की रक्षा के लिए यतना को श्रेष्ठ कहा गया है। यथा –

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये।

जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एयं पावं ण बज्झई॥ .. (गा.1015)

अर्थात् – यत्नपूर्वक गति करे, यत्नपूर्वक ठहरे, यत्नपूर्वक बैठे, यत्नपूर्वक सोये, यत्नपूर्वक भोजन करे, यत्नपूर्वक बोले, इस प्रकार पापकर्म नहीं बंधता है। शीलगुणाधिकार में शील के 18,0000 भेदों का कथन किया गया है। पर्याप्तिअधिकार में जीव की छः पर्याप्तियों को बताकर संसारी जीव के अनेक भेद-प्रभेदों का कथन किया गया है।

344. मृच्छकटिकम्

महाकवि शूद्रक के मृच्छकटिकम् को प्राचीन संस्कृत नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। शूद्रक के समय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। अनुमानतः इनका समय लगभग पाँचवीं शताब्दी माना गया है। महाकवि शूद्रक का मृच्छकटिक लोकजीवन का प्रतिनिधि नाटक है। इसमें कवि ने नायक चारुदत्त तथा नायिका वसंतसेना की प्रेमकथा को राजनैतिक घटना से सम्बद्ध कर तत्कालीन सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन को यथार्थ रूप से प्रतिबिम्बित किया है। विविध प्राकृत भाषाओं के सफल प्रयोग की दृष्टि से मृच्छकटिकम् अद्वितीय कृति है। इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृतों में विविधता है। कवि ने पात्रानुकूल प्राकृत भाषाओं का बेजोड़ प्रयोग किया है। विभिन्न प्राकृत भाषाओं की जानकारी के लिए मृच्छकटिकम् का अध्ययन अत्यंत उपयोगी है।

सब मिलाकर इस नाटक में 30 पात्र हैं, जिनमें से सूत्रधार, नटी, दासी रदनिका, दासी मदनिका, बसंतसेना, उसकी माता, चेटी, दास कर्णपूरक, चारुदत्त की पत्नी धूता, शोधनक एवं श्रेष्ठी ये 11 पात्र शौरसेनी में बोलते हैं। वीरक एवं

चन्दनक अवन्तिजा में, विदूषक प्राच्या में, संवाहक, स्थावरक, कुंभीलक, वर्धमानक, भिक्षु तथा रोहसेन मागधी में बोलते हैं। शकार शकारी में, दोनों चाण्डाल चांडाली में, द्यूतकर एवं माथुर ढक्की में बात करते हैं। नायक चारुदत्त, विट, आर्यक आदि शेष पात्र संस्कृत बोलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि इस नाटक में प्रयुक्त प्राकृत भाषाएँ भरत के नाट्यशास्त्र में विवेचित प्राकृत भाषाओं के नियमानुसार प्रयुक्त हुई हैं।

मृच्छकटिकम् के संस्कृत टीकाकार पृथ्वीधर ने मृच्छकटिकम् में प्रयुक्त विभिन्न प्राकृतों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार प्राकृत भाषाएँ सात मानी गई हैं। मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्वीका तथा दक्षिणात्या। अपभ्रंश भी सात हैं – शकारी, चांडाली, आभीरी, शबरी, द्राविड़ी, उड्रजा एवं ढक्की। इन भाषाओं में से मृच्छकटिकम् में सात भाषा-विभाषाओं का प्रयोग हुआ है। शौरसेनी, अवन्तिजा, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली और ढक्की। शकार द्वारा बोली जाने वाली शकारी भाषा का यह उदाहरण दृष्टव्य है –

शुवण्णअं देमि पिअं वदेमि पडेमि शीशेण शवेश्टणेण।
तथा वि मं णेच्छशि शुद्धदन्ति किं शेवअं कश्टमआ मणुश्शा॥ (8.31)

अर्थात् – मैं तुम्हें स्वर्ण देता हूँ, प्रिय बोलता हूँ, पगड़ी सहित सिर देता हूँ तथापि हे श्वेत दाँतों वाली! तुम मुझ सेवक को नहीं चाहती हो। मनुष्य बड़े ही

345. यतिवृषभ आचार्य

जैन परम्परा के करणानुयोग साहित्य में अग्रणी कर्मवर्गणा कर्मप्रकृति के गणितीय विषय को प्रकट करने वाले आचार्य यतिवृषभ का नाम बहुत प्रसद्धि है। श्रुत परम्परा के आचार्य के बाद आर्यमंक्षु और नागहस्ति से कषायपाहुड के अध्ययनकर्ता के रूप में यतिवृषभ को स्मरण किया जाता है। उन्होंने कषायपाहुड़ का अध्ययन करके कर्मसाहित्य के क्षेत्र में अपूर्ण योगदान दिया है। उन्होंने सर्वप्रथम सूत्र के अर्थ को चूर्णि के रूप में प्रस्तुत किया है, जो शौरसेनी प्राकृत में है। चूर्णि के सूत्रों में अर्थ गाम्भीर्य और पांडित्य का गौरव झलकता है।

जयधवला टीका में यतिवृषभ का उल्लेख कई स्थानों पर किया गया है। कभी उन्हें सूत्रकार के रूप में और कभी वृत्तिकार के रूप में प्रस्तुत किया है।

चूर्णि सूत्रकार के रूप में प्रसिद्ध आचार्य बहुप्रतिज्ञा के धनी काव्यगरिमा से मण्डित भी हैं। क्योंकि उन्होंने सूत्र के अर्थ को अनेक हेतुओं, निपात एवं उपसर्ग, प्रत्यय, व्युत्पत्ति आदि के माध्यम से स्पष्ट किया है। वे सभी प्रकार के विषय के ज्ञाता हैं, क्योंकि उनके सूत्र में जो अर्थ हुआ है, वह उनके व्यक्तित्व को प्रकट करता है। प्रोफेसर राजाराम जैन ने यतिवृषभ के विषय में लिखा है कि वे श्रुतज्ञान की परम्परा के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। उन्होंने जो बौद्धिक प्रतिभा प्राप्त की उसका प्रशस्ति ज्ञान परवर्ती आचार्य ने किसी न किसी रूप में अवश्य लिया है। आर्यिका विशुद्धमति माताजी ने तिलोयपण्णति का सम्पादन करते हुए यतिवृषभ के व्यक्तित्व के विषय में कथन किया है कि आचार्य यतिवृषभ करणानुसार के महान आचार्य हैं। इन्होंने जो खगोल और भूगोल का विषय प्रतिपादन किया है, वह बहुत विस्तृत है। पण्डित नाथूराम प्रेमी ने यतिवृषभ को जैन गणित का उत्कृष्ट आचार्य माना है। डॉ. एन. उपाध्ये ने भी उन्हें महापुरुषों के जीवन को प्रस्तुत करने वाला कहा है।

यतिवृषभ का व्यक्तित्व विचारकों के कथन के साथ-साथ ग्रन्थ के सूत्रों में प्रविष्टि करते हैं तो उन्हें इतिहासवेत्ता, पुराण-अभिलेखागार, भूगोलवेत्ता, कर्मप्रकृति के गणितीय प्रस्तोता कहा जा सकता है। क्योंकि उनके विशालकाय ग्रन्थ प्रस्तुत प्रस्तुत करता है। इसके भाषा सौन्दर्य में प्रविष्टि करने पर प्राकृत के प्रसिद्ध गाथा छन्द के सम्पूर्ण सौष्ठव को सर्वत्र देखा जा जाता है।

प्राचीन परम्परा के आचार्य पुष्पदन्त, भूतबलि और आचार्य कुन्दकुन्द यतिवृषभ से अवश्य प्राचीन हैं। परन्तु यतिवृषभ विषय विवेचन के कारण षट्खण्डागम के रचनाकार भूतबलि के समकालीन या उनके कुछ ही उत्तरवर्ती है। इन्द्रनन्दी ने अपने श्रुतावतार में कषायपाहुड़चूर्णि के सूत्रकर्त्ता के रूप में यतिवृषभ को स्मरण किया ळै। यतिवृषभ को आर्यमंक्षु और नागहस्ति का शिष्य कहा है। इस दृष्टि से उनका समय शक-संवत् तीसरी शताब्दी के पश्चात् ही माना जा सकता है। समय-निर्धारण में जुगलकिशोर मुख्तार का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने उनका समय चौथी-पाँचवी शताब्दी के बीच का ही माना है। एक अन्य प्रमाण से आचार्य यतिवृषभ पूज्यपाद के पूर्ववर्ती हैं क्योंकि इनके

शिष्य वज्रनन्दि ने विक्रम संवत् 526 में द्रविण संघ की स्थापना की है अतएव यतिवृषभ का समय विक्रम-संवत् 526 से पूर्व सुनिश्चित है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. ज्योति प्रसाद ने ई. सन् 176 के आस-पास उनका समय निश्चित किया है। उन्होंने यतिवृषभ के ग्रन्थ में गुप्तवंशीय राजाओं से सम्बन्धित गाथाओं को प्रक्षिप्त माना है, जो ई. सन् 500 के लगभग ग्रन्थ में जोड़ दी हैं।

346. रत्नपरीक्षा

रत्नपरीक्षा ग्रन्थ कन्नापुर महेन्द्रगढ़वासी श्रीचन्द्र के पुत्र श्रीमालवंशीय ठक्करफेरु ने संवत 1372 ईसवी सन् 1315 में लिखा है। इस ग्रन्थ में कुल मिलाकर 132 गाथायें हैं जिनमें रत्नों के उत्पत्ति, आकार, वर्ण, जाति गुण दोष फल और मूल्य का विस्तार से वर्णन है। वज्र नामक रतन शूर्पारक, कलिंग कोशल और महाराष्ट्री में मुक्ताफल पदमरागमणि सिंघल और तुबरदेश आदि देशों में मरकतमणि, मलयपर्वत और बर्बर देश में इन्द्रनील सिंघल में विद्रुम विन्ध्य पर्वत, चीन महावीर और नेपाल में तथा लहसुनिया वैडूर्य और स्पटिक नेपाल, काश्मीर और चीन आदि देशों में पाये जाते थे। अच्छे रत्न स्वस्थ्य, दीर्घजीवन धन और गौरव प्रदान करते हैं तथा सर्प, जंगली जानवर, पानी आग बिजली घाव और रोग मुक्त करते हैं।

347. रत्नशेखरसूरि

सिरिवालकहा ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि इसका संकलन वज्रसेन गणधर के पट्टशिष्य एवं प्रभु हेमतिलकसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि ने किया। उनके शिष्य हेमचन्द्र साधु ने वि. सं. 1428 में इसको लिपिबद्ध किया। पट्टावलि से ज्ञात होता है कि रत्नशेखरसूरि तपागच्छ की नागपुरीय शाखा के हेमतिलक के शिष्य थे। वे सुलतान फिरशेषजोह तुगलक के समकालीन थे। रत्नशेखरसूरि का जन्म वि. सं. 1372 में हुआ था और 1384 में दीक्षा तथा 1400 में आचार्य पद। इनका विरुद 'मिथ्यान्धकारनभोमणि' था। वि. सं. 1407 में इन्होंने फिरशेषजोह तुगलक को धर्मोपदेश दिया था। इसकी अन्य रचनाएँ : गुणस्थानक्रमारोह, लघुक्षेत्रसमास, संबोहसत्तरी, गुरुगुणशट्त्रिंशिका, छन्दःकोश आदि मिलती हैं।

348. रयणचूडरायचरियं

रत्नचूडराजचरित में नायक रत्नचूड का सर्वांगीण जीवन चरित वर्णित है। उत्तराध्ययन की सुखबोधा नामक टीका के रचयिता आचार्य नेमिचन्द्रसूरि ने वि.सं. 1129-40 के मध्य इस गद्य-पद्य मिश्रित चरितकाव्य की रचना की थी। मोक्ष पुरुषार्थ को उद्देश्य बनाकर इस ग्रन्थ में राजा रत्नचूड एवं उनकी पत्नी तिलकसुंदरी के धार्मिक जीवन को अंकित किया गया है। इस ग्रन्थ की कथावस्तु तीन भागों में विभक्त है। (1) रत्नचूड का पूर्वभव (2) जन्म, हाथी को वश में करने के लिए जाना, तिलकसुंदरी के साथ विवाह (3) रत्नचूड का सपरिवार मेरुगमन एवं देशव्रत ग्रहण करना। वस्तुतः इस चरितकाव्य में नायक रत्नचूड का चरित उत्तरोत्तर विकसित होता हुआ दिखाया है। पूर्वजन्म की घटनाओं का प्रभाव नायक के वर्तमान जीवन को उदात्त रूप देता है। ग्रन्थ में वर्णित विभिन्न अवान्तर कथाएँ लौकिक एवं उपदेशात्मक हैं। धनपाल सेठ की कटुभाषिणी भार्या 'ईश्वरी' का दृष्टांत लोककथा का प्रतिनिधित्व करता है। राजश्री, पद्मश्री, राजहंसी, सुरानंदा आदि के पूर्वभवों की घटनाओं के वर्णन द्वारा दान, शील, तप एवं भावधर्म की महत्ता को स्पष्ट किया गया है। काव्यात्मक वर्णनों में नदी, पर्वत, वन, सरोवर, संध्या, युद्ध आदि के वर्णन प्रशंसनीय हैं। इसे रत्नचूडकथा या तिलकसुन्दरी-रत्नचूडकथानक भी कहते हैं।

पूर्वजन्म में कंचनपुर के बकुल माली ने ऋषभदेव भगवान् को पुष्प चढ़ाने के फलस्वरूप गजपुर के कमलसेन नृप के पुत्र रत्नचूड के रूप में जन्म ग्रहण किया। युवा होने पर एक मदोन्मत्त हाथी का दमन किया किन्तु हाथी के रूपधारी विद्याधर ने उसका अपहरण कर जंगल में डाल दिया। इसके बाद वह नाना देशों में घूमता हुआ अनेक अनुभव प्राप्त करता है, अनेकों राज कन्याओं से विवाह करता है और अनेकों ऋद्धि-विद्याएँ भी सिद्ध करता है। तत्पश्चात् पत्नियों के साथ राजधानी लौटकर बहुत काल तक राज्यवैभव भोगता है। फिर धार्मिक जीवन बिताकर स्वर्ग-प्राप्ति करता है।

349. रयणसार

यह आचार्य कुन्दकुन्द की रचना है। रयणसार में 167 गाथायें हैं। यहाँ सम्यक्त्व को रत्नसार कहा गया है। इस ग्रंथ के पढ़ने और श्रवण से मोक्ष की प्राप्ति बताई है। एक उक्ति देखिये-

विणओ भत्तिविहीणो महिलाणं रोयणं विण णेहं।
चागो वेरग्गविणा एदे दोवारिया भणिया॥

भक्ति के बिना विनय, स्नेह के बिना महिलाओं का रोदन और वैराग्य के बिना त्याग ये तीनों विडंबनायें हैं। एक उपमा देखिए–

मक्खी सिलिम्मे पडिओ मुवइ जहा तह परिग्गहे पडिउं।
लोही मूढो खवणो कायकिलेसेसु अण्णाणी॥

जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी तत्काल ही मर जाती है, उसी प्रकार परिग्रह से युक्त लोभी, मूढ़ और अज्ञानी मुनि कायक्लेश का ही भाजन होता है।

350. रयणसेहरीनिवकहा (रत्नशेखरीनृपकथा)

जयचन्द्रसूरि के शिष्य जिनहर्षगणि प्राकृत गद्य–पद्यमय इस प्राकृत ग्रंथ के लेखक हैं जो पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में हुए हैं। इस ग्रन्थ की रचना चित्तौड़ में हुई है। जिनहर्षगणि ने वसुपालचरित्र, सम्यक्त्वकौमुदी तथा विंशतिस्थानकचरित्र आदि की भी रचना की है। ये संस्कृत और प्राकृत के बड़े पंडित और अनुभवी विद्धान जान पड़ते हैं। उन्होंने बड़ी सरस और प्रौढ़ शैली में इस कथा की रचना की है। रत्नशेखरीकथा में पर्व और तिथियों का माहात्मय बताया है। गौतम गणधर भगवान महावीर से पर्वों के फल के संबंध में प्रयत्न करते हैं और उसके उत्तर में महावीर राजा रत्नशेखर और रत्नवती की कथा सुनाते हैं। प्राकृत और संस्कृत की यहाँ अनेक सूक्तियाँ दी हुई हैं –

जा दव्वे होइ मई, अहवा तरुणीसु रूववन्तीसु।
ता जइ जिणवरधम्मे, करयलमज्झट्ठिआ सिद्धी ॥

–जितनी बुद्धि धन में अथवा रूपवती तरुणियों में होती है, उतनी यदि जिन धर्म के पालन में लगाई जाये तो सिद्धि हाथ में आई हुई समझिये।

वर कन्या के संयोग के संबंध में उक्ति है –

कत्थवि वरो न कन्ना कत्थवि कन्ना न सुंदरो भत्ता।
वरकन्ना संजोगो अणुसरिसो दुल्लहो लोए ॥

–कभी वर अच्छा मिल जाता है, लेकिन कन्या अच्छी नहीं होती, कभी कन्या सुन्दर होती है, लेकिन वर सुन्दर नहीं मिलता, वर और कन्या का एक दूसरे के अनुरूप मिलना इस लोक में दुर्लभ है।

351. रम्भामंजरी

कर्पूरमंजरी के पश्चात् प्राकृत सट्टक की परम्परा में रंभामंजरी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके रचयिता मुनि नयचन्द्र षड्भाषाविद् कवि थे। कवि नयचन्द्र का समय लगभग 14वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना गया है। कर्पूरमंजरी के आधार पर लिखे गये इस सट्टक को कवि ने कर्पूरमंजरी से अधिक श्रेष्ठ माना है। तीन जवनिकाओं वाले इस सट्टक में वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र एवं लाटदेश की राजकुमारी रंभामंजरी की प्रणय कथा वर्णित है।

यद्यपि कवि नयचन्द्र ने इसे कर्पूरमंजरी से अधिक श्रेष्ठ सट्टक बताया है, किन्तु शास्त्रीय दृष्टि से इस सट्टक में कुछ कमियाँ रह गई हैं। तीन जवनिकाओं में ही भरतवाक्य के बिना अचानक समाप्त होने के कारण इसकी कथावस्तु अधूरी सी प्रतीत होती है। कथा का अंत कैसे हुआ यह कौतूहल अन्त तक बना रहता है। इसकी कथावस्तु भी अभिजात्य वर्ग के संस्कारों के विरुद्ध ही प्रतीत होती है। नायक के जीवन में मर्यादा का अभाव है। सात रानियों के होते हुए नायक रंभामंजरी का अपहरण करा कर विवाह करता है। इस दृष्टि से कथावस्तु में मौलिकता तो है, किन्तु सरसता का अभाव है।

यह सट्टक कर्पूरमंजरी के आधार पर ही लिखा गया है। अतः नायक-नायिका का स्वभाव, शृंगार, प्रेम, विरह, बसंतोत्सव आदि सभी कुछ कर्पूरमंजरी की तरह ही वर्णित है। भाषा की दृष्टि से संस्कृत एवं प्राकृत दोनों भाषाओं का प्रयोग हुआ है। वर्णन-कौशल एवं छंद-अलंकारों का चारुविन्यास कवि के पांडित्य को दर्शाता है।

352. राजशेखर कवि

कर्पूरमंजरी के रचयिता यायावरवंशीय राजशेखर का समय ईसवी सन् 900 के लगभग है। कर्पूरमंजरी के अतिरिक्त उन्होंने बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका और काव्यमीमांसा की भी रचना की है। राजशेखर नाटककार की अपेक्ष कवि अधिक थे। उक्ति विशेष को उन्होंने काव्य कहा है, भले ही भाषा कोई भी हो। वे सर्वभाषाचतुर कहे जाते थे। अपनी भाषा पर उन्हें पूर्ण अधिकार है। वसंत, चन्द्रोदय, चर्चरी नृत्य आदि के वर्णन कर्पूरमंजरी में बहुत सुन्दर बन

पड़े हैं। सट्टककार राजशेखर ने संस्कृत को छोड़कर प्राकृत मे अपने ग्रंथ की रचना की है। हरिउड्ड, णन्दिउड्ड, पोट्टिस और हाल आदि पूर्ववर्ती सुकवियों का उल्लेख कर्पूरमंजरी में किया गया है।

353. रामपाणिवाद

उषानिरुद्ध आदि काव्य ग्रन्थों के रचयिता रामपाणिवाद मलावर प्रदेश की नम्बियम् जाति के थे। इनका व्यवसाय नाट्य प्रदर्शन के समय मुरज या मृदंग बजाना था। यही यथार्थतः पाणिवाद नामकी सार्थकता है। इस प्रकार कवि साहित्य और नृत्यकला की परम्परा से सुपरिचित था। कवि का जन्म ई. सन् 1707 के लगभग दक्षिण मलावर के एक ग्राम में हुआ था। बाल्यकाल में उसने अपने पिता से ही शिक्षा प्राप्त की थी। इन्होंने उस समय के एक प्रसिद्ध विद्वान् नारायणभट्ट से काव्य साहित्य की शिक्षा प्राप्त की। प्रसिद्ध कवि होने के बाद ये उत्तर मलावर के कोलतिरि राजा के आश्रय में चले गये। यहाँ से चलकर ये क्रमशः राजा वीरराय, कोचीन के एक ताल्लुकेदार मुरियनाइड चेम्पक केसरी के राजा देवनारायण, वीरमार्त्तण्ड वर्मा एवं कार्तिक तिरूनाल आदि राजाओं के आश्रय में भी रहे। इनकी मृत्यु ई. सन् 1775 के लगभग हुई थी।

कवि रामपाणिवाद यावज्जीवन ब्रह्मचारी रहा। संस्कृत प्राकृत और मलयालम इन तीनों भाषाओं में उसने समान रूप से रचनाओं का प्रणयन किया है। संस्कृत में इनके चार नाटक, तीन काव्य और पाँच स्तोत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनके दो टीका ग्रन्थ भी मिले हैं। मलयालम में इनकी बहुत सी रचनाएँ हैं, जिनमें कृष्णचरित शिवपुराण पंचतन्त्र एवं रूक्मांगद चरित विख्यात है। ये प्राकृत भाषा के महान पण्डित कवि हैं। इन्होंने वररुचि के प्राकृतप्रकाश पर प्राकृतवृत्ति नामक टीका भी लिखी है। इनके दो खण्ड काव्य हैं– कंसवहो और उषानिरुद्ध।

354. राजप्रश्नीयसूत्र (रायपसेणइयं)

नंदीसूत्र में द्वितीय उपांग ग्रन्थ राजप्रश्नीय का नाम 'रायपसेणिय' मिलता है। इसके दो विभाग हैं। प्रथम भाग में सूर्याभ नामक देव का वर्णन है, जो भगवान् महावीर के सामने उपस्थित होकर नृत्य एवं विभिन्न प्रकार के नाटकों की रचना करता है। दूसरे भाग में सूर्याभ के पूर्वजन्म का वृत्तांत है। सूर्याभ का जीव राजा

प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ परम्परा के मुनि केशी के साथ जीव के अस्तित्व एवं नास्तित्व को लेकर संवाद करता है। मुनिकेशी इस दुर्गम प्रश्न का युक्ति एवं सरलता से समाधान करते हैं। समाधान पाकर राजा प्रदेशी अन्त में सम्यगदृष्टि बन जाता है। राजा प्रदेशी एवं केशी कुमार श्रमण के इस संवाद द्वारा 'जीव एवं शरीर एक है', इस मत का खण्डन कर 'जीव एवं शरीर भिन्न है', इस तथ्य का प्रतिपादन किया गया है। इस आगम से पार्श्वनाथ की परम्परा से सम्बन्धित अनेक बातों की जानकारी तो प्राप्त होती ही है, साथ ही स्थापत्य, संगीत, वास्तु, नृत्य एवं नाट्य कला सम्बन्धी अनेक तथ्यों पर भी प्रकाश पड़ता है।

इस उपांग की गणना अर्धमागधी के प्राचीन आगमों में की जाती है। इसमें दो भाग हैं और कुल सूत्र 217 हैं। इसमें राजा पएसी प्रदेशी द्वारा किए गये प्रश्नों का केशी मुनि द्वारा समाधान प्रस्तुत किया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि इस ग्रन्थ का यथार्थ नायक कौशल का इतिहास प्रसिद्ध राजा प्रसेनजित् ही रहा है, बाद में उसके स्थान पर प्रदेशी कर दिया है। इसके प्रथम भाग में तो सूर्याभदेव का वर्णन है और दूसरे भाग में इस देव के पूर्वजन्मों का वृत्तान्त है। सूर्याभ का जीव राजा प्रदेशी के रूप में पार्श्वनाथ की परम्परा के मुनि केशी से मिला था। उसने आत्मा की सत्ता के सम्बन्ध में अनेक प्रश्न किये थे। अन्त में केशी मुनि के उपदेश से यह सम्यम्दृष्टि बना था। सम्यक्त्व के प्रभाव से वह सूर्याभदेव हुआ। इस उपांग की निम्न विशेषताएँ हैं-

1. स्थापत्य, संगीत और नाट्यकला की दृष्टि से अनेक तत्त्वों का समावेश है। बत्तीस प्रकार के नाटकों का उल्लेख किया है। सूर्याभदेव ने महावीर को 32 प्रकार के नाटक दिखलाये थे।
2. लेखन सम्बन्धी सामग्री का निर्देश किया है।
3. साम, दाम और दण्डनीति के अनेक सिद्धान्तों का समावेश वर्तमान है।
4. बहत्तर कलाओं, चार परिषदों एवं कलाचार्य, शिल्पाचार्य और धर्माचार्य का निरूपण किया गया है।
5. साहित्यिक दृष्टि से केशी और राजा प्रदेशी के मध्य सम्पन्न हुआ संवाद है।

6. पार्श्वनाथ की परम्परा सम्बन्धी अनेक बातों की जानकारी उपलब्ध है।
7. मुनि केशी ने जीव की अनिवार्य गति के स्पष्टीकरण के लिए बन्द कमरे के भीतर आवाजाह करने पर भी उसके बाहर निकलने का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यही उदाहरण हरिभद्रसूरि की समराइच्चकहा के तीसरे भव में पिंगल और विजयसिंह के वाद-विवाद में भी पाया जाता है। उदाहरण दोनों ही स्थानों में समान रूप से आया है।
8. काव्य और कथाओं के विकास के लिये वार्तालाप और संवादों 41 आदर्श यहाँ प्रस्तुत है। इसी प्रकार के संवाद काव्य का अंग बनते हैं। इस उपांग में अनेक वाद्यों का उल्लेख प्राप्त है-

355. रिट्ठसमुच्चय (दुर्गदेव)

दुर्गदेव ने रिट्ठसमुच्चय को शकुन और शुभाशुभ निमित्तों के संकलन रूप में रचा है। लेखक ने रिट्ठों-रिष्ठों के पिण्डस्थ, पदस्थ और रूपस्थ नामक तीन भेद किये हैं। प्रथम श्रेणी में अंगुलियों का टूटना, नेत्रज्योति की हीनता, रसज्ञानकी न्यूनता, नेत्रों से लगातार जल प्रवाह एवं अपनी जिह्वा को न देख सकना आदि को परिगणित किया है। द्वितीय श्रेणी में सूर्य और चन्द्रमा का अनेक रूपों में दर्शन, प्रज्वलित दीपक को शीतल अनुभव करना, चन्द्रमा को त्रिभंगी रूप में देखना, चन्द्रलांछन का दर्शन न होना इत्यादि को लिया है। तृतीय में निजच्छाया, परच्छाया तथा छाया पुरुष का वर्णन है और आगे जाकर छाया का अंगविहीन दर्शन विषयों पर तथा छाया का सच्छिद्र और टूटे-फूटे रूप में दर्शन पर अनेकों मत दिये हैं।

इसके अनन्तर ग्रन्थकर्ता ने स्वप्नों का कथन किया है जिन्हें उसने देवेन्द्र कथित तथा सहज इन दो रूपों में विभाजित किया है। अरिष्ठों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति करते हुए प्रश्नारिष्ट के आठ भेद- अंगुलि प्रश्न, अलक्तप्रश्न, गोरोचनाप्रश्न, प्रश्नाक्षरप्रश्न, आलिंगित, दग्ध ज्वलित और शान्त, एवं शकुन प्रश्न बताये हैं। प्रश्नाक्षराष्टिका अर्थ बतलाते हुए लिखा है कि मन्त्रोच्चारण के अनन्तर पृच्छक से प्रश्न कराके प्रश्नवाक्य के अक्षरों का दूना और मात्राओं को चौगुना कर योगफल में सात से भाग देना चाहिए। यदि शेष कुछ न रहे तो रोगी

की मृत्यु और शेष रहने से रोगी का चंगा होना फल जानना चाहिए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि इस ग्रन्थ में आचार्य ने बाह्य और आन्तरिक शकुनों द्वारा आनेवाली मृत्यु का निश्चय किया है। ग्रन्थ का विषय रुचिकर है।

इस ग्रंथ में 1. पिंडस्थ, 2. पदस्थ और 3. रूपस्थ– ये तीन प्रकार के रिष्ट बताए गए हैं। जिनमें उंगलियाँ टूटती मालूम पड़े, नेत्र स्तब्ध हो जायें, शरीर विवर्ण बन जाय, नेत्रों से सतत जल बहा करे ऐसी क्रियाएँ पिण्डस्थरिष्ट मानी जाती हैं। जिनमें चन्द्र सूर्य विविध रूपों दिखाई दें, दीपक–शिखा अनेक रूपों में नजर आए, दिन का रात्रि के समान और रात्रि का दिन के समान आभास हो ऐसी क्रियाएँ पदस्थरिष्ट कही गई हैं। जिसमें अपनी खुद की छाया दिखाई न पड़े वह क्रिया रूपस्थरिष्ट मानी गई है। इसके बाद स्वप्न विषयक वर्णन है। स्वप्न के एक देवेन्द्रकथित और दूसरा सहज– ये दो प्रकार माने गये हैं। दुर्गदेव ने मरणकंडिका का प्रमाण देते हुए इस प्रकार कहा है :

न हु सुणई सतणुसद्दं दीवयगंधं च णेव गिण्हेइ।
जो जियइ सत्तदियहे इय कअिं मरणकंडीए ॥139॥

अर्थात् जो अपने शरीर का शब्द नहीं सुनता और जिसे दीपक की गन्ध नहीं आती वह सात दिन तक जीता है, ऐसा मरणकंडी, में कहा गया है।

प्रश्नारिष्ट के 1. अंगुली प्रश्न, 2. अलक्तक–प्रश्न, 3. गोरोचना प्रश्न, 4. प्रश्नाक्षर प्रश्न 5. शकुनप्रश्न, 6. अक्षरप्रश्न, 7. होराप्रश्न और 8. ज्ञानप्रश्न – ये आठ भेद बताते हुए इनका विस्तृत वर्णन किया गया है।

356. रिसभदेवचरियं

प्रथम तीर्थंकर पर रिसभदेवचरिय नाम से 323 गाथाओं की एक रचना और मिलती है जिसका दूसरा नाम धर्मोपदेशशतक भी है। इसके रचियता भुवनतुंगसूरि हैं।

357. रिसीदत्ताचरियं (ऋषिदत्ताचरित्र)

इसमें ऋषि अवस्था में हरिषेण प्रीतिमती से उत्पन्न पुत्री ऋषिदत्ता और राजकुमार कनकरथ का कौतुकतापूर्ण चरित्र वर्णित है। कनकरथ एक अन्य राजकुमारी रुक्मणी से विवाह करने जाता है पर मार्ग में एक वन में ऋषिदत्ता से

विवाहकर लौट आता है। रुक्मणी ऋषिदत्ता को एक योगिनी के द्वारा राक्षसी के रूप में कलंकित करती है। उसे फाँसी की भी सजा होती है। पर ऋषिदत्ता अपने शील के प्रभाव से सब विपत्तियों को पार कर जाती है और अपने प्रिय से समागम करती है। इस आकर्षक कथानक को लेकर संस्कृत, प्राकृत में कई कथाकाव्य उपलब्ध होते हैं। इस कथा पर सबसे प्राचीन रचना प्राकृत में है जो परिमाण में 1550 ग्रन्थाग्र है। इसकी रचना नाइलकुल के गुणपाल मुनि ने की है। लेखक की अन्य रचना जम्बूचरियं भी मिलती है। इसिदत्ताचरिय (ऋषिदत्ताचरित्र) की प्रति सं. 1264 या 1288 की मिलती है। इससे यह उक्त काल के पूर्व की रचना है। गुणपाल मुनि का समय भी 9-10 वीं शताब्दी के बीच अनुमान किया गया है।

358. लग्गसुद्धि (लग्नशुद्धि)

लग्गसुद्धि नामक ग्रंथ के कर्ता याकिनी-महतरासुनु हरिभद्रसूरि माने जाते हैं। परन्तु यह संदिग्ध मालूम होता है। यह लग्नकुण्डलिका नाम से प्रसिद्ध है। प्राकृत की कुल 133 गाथाओं में गोचरशुद्धि, प्रतिद्वारदशक, मास, वार, तिथि, नक्षत्र, योगशुद्धि, सुगणदिन, रजछन्नद्वार, संक्रांति, कर्कयोग, वार, नक्षत्र, अशुभयोग, सुगणार्क्षरद्वार, होरा, नवांश, द्वादशांश, षड्वर्गशुद्धि, उदयास्तशुद्धि इत्यादि विषयों पर चर्चा की गई है।

359. लब्धिसार

इसके लेखक आचार्य नेमिचन्द्र हैं। आत्मशुद्धि के लिए पाँच प्रकार लब्धियाँ आवश्यक हैं। इन पाँच लब्धियों में करण लब्धि प्रधान है, इस लब्धि के प्राप्त होने पर मिथ्यात्व से छूटकर सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। इन ग्रन्थ में तीन अधिकार हैं- (1) दर्शन-लब्धि (2) चरित्र लब्धि (3) क्षायिक चारित्र। इन तीनों अधिकारों में आत्मा की शुद्धि रूप लब्धियों को प्राप्त करने की विधि पर प्रकाश डाला है।

360. लीलावईकहा

प्राकृत का प्रत्येक महाकाव्य किसी विशिष्ट स्वरूप का परिचायक है। विमलसूरि द्वारा रचित पउमचरियं पौराणिक महाकाव्य है तो प्रवरसेनकृत

सेतुबन्ध शास्त्रीय महाकाव्य। वाक्पतिराजकृत गउडवहो प्रशस्ति महाकाव्य की कोटि में आता है तो प्रस्तुत कौतुहल प्रणीत लीलावईकहा रोमाण्टिक महाकाव्य अथवा कथामहाकाव्य की श्रेणी का प्रतिनिधित्व करता है। प्रेमकथा की आधारशिला पर महाकाव्योचित शैली और विशेषताओं से इसे कवि ने अलंकृत किया है। इस सम्बन्ध में डॉ. नेमिचन्द शास्त्री का यह कथन सटीक प्रतीत होता है – अलंकृति, वस्तु व्यापार वर्णन, प्रेम की गम्भीरता और विजय की महत्ता स्थापित करने का महाउद्देश्य, रसों और भाव सौन्दर्य की अभिव्यक्ति उदात्तशैली एवं महाकाव्योचित गरिमा ऐसे तत्व हैं, जिसके कारण इसे महाकाव्य मानना तर्क संगत है हिन्दी के प्रेमाख्यानक काव्यों की शैली का विकास प्राकृत के इसी कोटि के काव्यों से हुआ है।

लीलावईकहा में प्रतिष्ठान के राजा सातवाहन और सिंहल देश की राजकुमारी लीलावती की प्रेमकथा वर्णित है। नायिका के नाम पर ही ग्रन्थ का नाम लीलावईकहा रखा गया है। इस काव्य में कुल 1800 प्राकृत गाथाएँ हैं, जो अनुष्टुप छन्द के नाम से जानी जाती हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन डॉ. ए. एन. उपाध्ये ने किया है। इस काव्य पर लीलावती कथा-वृत्ति नामक एक संस्कृत टीका भी किसी अज्ञात टीकाकार द्वारा लिखी गयी है। ये टीकाकार श्वेताम्बर जैन, गुजरात निवासी एवं लगभग 12-14 वीं शताब्दी के थे।

361. लोक विभाग

तिलोयपण्णत्ति के कर्त्ता यतिवृषभ ने लोक विभाग का अनेक जगह उल्लेख किया है, लेकिन यह ग्रंथ कब और किसके द्वारा रचा गया इसका कुछ पता नहीं लगता। सिंहसूरि के संस्कृत लोकविभाग के अन्त में दी गई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि सर्वनन्दि के प्राकृत ग्रन्थ की भाषा का परिवर्तन करके सिंहसूरि ने अपने संस्कृत लोक विभाग की रचना की। इस ग्रन्थ ईसवी सन् की छठी शताब्दी से पूर्व होने का अनुमान किया जाता है।

362. वज्जालग्गं

वज्जालग्ग विभिन्न कवियों द्वारा रचित प्राकृत सुभाषितों का संग्रह ग्रन्थ है। वज्जालग्ग के संकलन कर्त्ता महाकवि जयवल्लभ हैं। इस मुक्तककाव्य का

वज्जालग्ग नाम एक विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। 'वज्जा' एक देशी शब्द है, जिसका अर्थ है अधिकार या प्रस्ताव तथा 'लग्ग' का अर्थ समूह है। इस दृष्टि से इस मुक्तककाव्य में एक विषय से सम्बन्धित गाथाओं के समूह का संकलन एक 'वज्जा' के अन्तर्गत किया गया है। पूरे काव्य में 995 गाथाएँ संकलित हैं, जो 95 वज्जाओं में विभक्त हैं। कवि जयवल्लभ के अनुसार नाना कवियों द्वारा विरचित श्रेष्ठ गाथाओं का संकलन कर उन्होंने इस काव्य की रचना की है।

विविध सुभाषितों का संकलन करने वाला यह काव्य-ग्रन्थ कई अर्थों में प्राकृत मुक्तक काव्य गाथासप्तशती की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठ है। गाथासप्तशती में शृंगार एवं सौन्दर्य चित्रण से सम्बन्धित गाथाओं का समावेश अधिक है। लेकिन वज्जालग्ग में कवि जयवल्लभ ने व्यक्तिगत हितों से ऊपर उठकर सामाजिक हितों पर अधिक बल दिया है। उन्होंने मानवता के प्रकाश में विविध जीवन मूल्यों को इसमें प्रतिष्ठापित करने का प्रयत्न किया है। शृंगार के साथ-साथ सत्प्रेरणा देने वाले परोपकार, मित्रता, साहस, प्रेम, स्नेह, धैर्य, उदारता, कृतज्ञता, विनय, क्षमा जैसे नैतिक मूल्यों से सम्बन्धित मुक्तकों का समावेश कर कवि ने मानव मात्र के कल्याण का पथ-प्रदर्शित किया है। यथा - उपकार एवं कृतज्ञता को प्रतिष्ठापित करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है -

वे पुरिसा धरइ धरा अहवा दोहिं पि धारिया धरणी।
उवयारे जस्स मई उवयरिअं जो न पम्हुसइ॥ ... (गा. 45)

अर्थात् - यह पृथ्वी दो पुरुषों को ही धारण करती है, अथवा दो पुरुषों द्वारा ही यह पृथ्वी धारण की गई है। (पहला) जिसकी उपकार में मति है, तथा (दूसरा) जो किसी के द्वारा किये गये उपकार को नहीं भूलता है।

वस्तुतः कवि जयवल्लभ ने वज्जालग्ग में इन नैतिक मूल्यों की स्थापना कर अच्छे एवं बुरे जीवन को बहुत ही सहज एवं सरल ढंग से प्रस्तुत किया है। स्वस्थ समाज के निर्माण में आदर्श नारी की अहम भूमिका होती है। इस बात का भी कवि को पूर्ण आभास था। नारी के गरिमामय उज्ज्वल चरित्र की कवि ने बड़ी ही मार्मिक प्रस्तुति की है। यथा -

पत्ते पियपाहुणए मंगलवलयाइ विक्किणन्तीए।
दुग्गयघरिणी कुलबालियाए रोवाविओ गामो ॥...(गा. 458)

अर्थात् – किसी प्रिय अतिथि के आ जाने पर कुल की प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए अपने विवाह का मंगल कंकण बेचती हुई गरीब गृहिणी द्वारा सारा गाँव ही रुला दिया गया।

उपर्युक्त गाथा में नारी के आदर्श रूप की प्रस्तुति के साथ दरिद्रता एवं विवशता का भी हृदयस्पर्शी चित्र अंकित हुआ है। प्रकृति चित्रण से सम्बन्धित विविध गाथाओं का संकलन भी इस मुक्तककाव्य में हुआ है। छः ऋतुओं का नैसर्गिक चित्रण है। स्पष्ट है कि वज्जालग्ग जीवन के विविध आयामों का सशक्त प्रस्तुतीकरण करने वाला काव्य है। इसमें आदर्शवादी काव्यों से ऊपर उठकर कवि ने समाज का यथार्थ चित्रण करते हुए मानवीय मूल्यों की स्वाभाविक प्रतिष्ठा की है।

363. वट्टकेर आचार्य

शौरसेनी प्राकृत के प्राचीन आचार्यों में मूलाचार के रचयिता वट्टकेर का महत्त्वपूर्ण स्थान है। प्रारम्भ में आचार्य कुन्दकुन्द का ग्रन्थ ही मूलाचार मान लिया गया था, क्योंकि वट्टकेर को उनका उपनाम अनुमानित किया गया था किन्तु अब विद्वानों ने गहन अध्ययन के बाद यह स्पष्ट कर दिया है कि वट्टकेर स्वतंत्र आचार्य हुए हैं। वट्टकेर का समय आचार्य कुन्दकुन्द के उत्तरवर्ती स्वीकार किया जाता है। अतः वट्टकेर प्रथम शताब्दी के बाद के प्राकृत आचार्य थे। इनका ग्रन्थ मूलाचार मुनियों के आचार का प्रमुख ग्रन्थ है। इसमें कुल 1252 गाथाएँ हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से शौरसेनी प्राकृत की यह प्राचीन रचना है। श्रमणाचार का ग्रन्थ होने के कारण इसमें अनेक गाथाएँ दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के साहित्य में प्रचलित मिलती हैं। जैन आचार दर्शन के लिए मूलाचार एक आधारभूत ग्रन्थ है।

विक्रम की 11–12वीं शती के आचार्य वसुनन्दि ने अपनी आचारवृत्ति में अनेक स्थानों पर मूलाचार के कर्ता के रूप में वट्टकेर का नामोल्लेख किया है। मूलाचारवृत्ति के प्रारम्भ के इस कथन का आशय यह है कि बल, बुद्धि और

आयु में अल्प शिष्यजनों के लिए वट्टकेराचार्य ने अट्ठारह हजार पद प्रमाण आचारांग को संक्षिप्त करके मूलाचार को बारह अधिकारों में प्रस्तुत किया है। अपनी वृत्ति के अन्त में भी वट्टकेर को ही इसका कर्ता उल्लेख किया है। इतना ही नहीं, वसुनन्दि ने मूलाचार के सातवें से अन्तिम अधिकार तक के सभी अधिकारों के अन्त में मूलाचार को आचार्यवर्य वट्टकेरकृत होने का उल्लेख किया है। मूलाचार के द्वितीय भाग के अन्त में दिये गये पंदृ मेधावि कवि द्वारा लिखित प्रशस्ति पाठ में भी इसे वट्टकेराचार्यकृत कहा गया है।

आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी ने मूलाचार के कर्ता वट्टकेरि नामक लेख में इसे वट्टकेराचार्यकृत मानते हुए लिखा है दक्षिण भारत में गाँवों के नाम व्यक्ति के नाम से पहले लिखने की पद्धति बहुत समय से है। जैसे सर्वपल्ली डॉ. राधाकृष्णन- यहाँ सर्वपल्ली शब्द उनके गाँव का ही सूचक है। 'कोण्डकुण्ड' गाँव के रहने वाले आचार्य कुन्दकुन्द तथा तुम्बुलूर ग्राम के रहने के कारण तुम्बलूराचार्य कहलाये, वैसे ही मूलाचार के कर्ता वट्टेगेरी या वेट्टेकेरी ग्राम के ही रहने वाले होंगे अतः वट्टकेरि कहलाने लगे। वट्टकेरि नाम उनके गाँव का बोधक होना चाहिए। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने मूलाचार को वट्टकेराचार्य की रचना बतलाते हुए लिखा है मूलाचार का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि वट्टकेर एक स्वतन्त्र आचार्य हैं और ये कुन्दकुन्दाचार्य से भिन्न हैं।

डॉ. हीरालाल जी ने वट्टकेर को कुन्दकुन्द से भिन्न स्वीकार करते हुए लिखा है- वट्टकेर स्वामीकृत मूलाचार को कहीं-कहीं कुन्दकुन्दाचार्यकृत भी कहा गया है। यद्यपि यह बात सिद्ध नहीं होती, तथापि उससे इस ग्रन्थ के प्रति समाज का महान् आदरभाव प्रकट होता है। मूलाचार न तो कुन्दकुन्दाचार्य की कृति ही सिद्ध होता है और न संग्रह ग्रन्थ, अपितु यह वट्टकेराचार्य की एक मौलिक एवं प्राचीन कृति है। हाँ, वट्टकेर यह नाम केवल उनके जन्मभूमि वाले नगर का सूचक होने से दक्षिण की परम्परानुसार ही नाम के रूप में प्रसिद्ध हो गया और बाकी नाम आज भी विस्मृत है।

मूलाचार एक मौलिक, प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ है जो कि दिगम्बर परम्परा में आचारांग सूत्र के रूप में मान्य है। श्रमण एवं श्रावक समाज में यह ग्रंथ

सदा ही अत्यन्त पूज्य माना जाता रहा है। मूलाचार के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पांचवें श्रुतकेवली आ. भद्रबाहु के समय जो दुर्भिक्ष पड़ा था, उसके प्रभाव से साधुओं के आचार-विचार में जो शिथिलता आयी, उसे देखकर ही मानो आ. वट्टकेर ने श्रमणों को अपने आचार-विचार एवं व्यवहार आदि की विशुद्धता का समय एवं व्यवस्थित ज्ञान कराने हेतु बारह अंग-ग्रन्थों में अपने सामने उपस्थित प्रथम अंग ग्रन्थरूप मूल आचारांग का उद्धारकर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। जैसा कि आचार्य वसुनन्दि ने भी इसकी आचारवृत्ति तथा आचार्य सकलकीर्ति ने मूलाचार प्रदीप नामक ग्रन्थ के प्रारम्भिक मंगलाचरण की भूमिका में भी सूचित किया है। आचार्य वीरसेन रचित षट्खण्डागम की धवला टीका में भी मूलाचार को आचारांग नाम से उल्लिखित किया ही है। इसी कारण इस ग्रन्थ का नाम मूलाचार पड़ा और तदानुसार श्रमणसंघ का प्रवर्तन कराने से उनके संघ का नाम भी मूलसंघ प्रचलित ज्ञात होता है।

मूलाचार अपने विषय का एक अप्रतिम ग्रन्थ है। इसके रचयिता को वसुनन्दि ने आचार्यवर्य कहा है। वर्तमान में इनकी यही एक मात्र कृति उपलब्ध है। पर मूलाचार के अध्ययन से ज्ञात होता है कि **सारसमय** नामक ग्रन्थ भी इनकी अन्य कृति भी हो सकती है। जिसका मूलाचार में भी इन्होंने उल्लेख किया है। पर यह अभी तक अनुपलब्ध है। मूलाचार के अतिरिक्त सारसमय ग्रन्थ का उल्लेख अन्यत्र नहीं पाया जाता इससे प्रतीत होता है कि सारसमय ग्रन्थ भी आचार्य वट्टकेर की रचना हो सकती है, जिसमें उन्होंने कहा है कि **पुव्वसारसमए भणिदा दु गदीगदी मया किंचिं** – अर्थात् इसी प्रकार का गति-अगति का कुछ वर्णन मेरे (वट्टकेर के द्वारा) सारसमय नामक ग्रन्थ में किया गया है। इस तरह आचार्य वट्टकेर ने इसी विषय के कथन का संकेत अपने सारसमय नामक ग्रन्थ में करके उसका मूलाचार में उल्लेख किया।

डॉ. फूलचन्द्र जैन ने अपने शोध का यह निष्कर्ष दिया है कि मूलाचार के गहन अध्ययन से आचार्य वट्टकेर का बहुश्रुत व्यक्तित्व प्रतिभासम्पन्न एवं उत्कृष्ट चारित्रधारी आचार्य के रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। ग्रन्थ का अध्ययन करते-करते ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य वट्टकेर मूलसंघ की

परम्पराओं के पोषक एक महान् दिगम्बर आचार्य थे जिन्होंने अपने अपूर्व संयमी और दीर्घ तपस्वी जीवन की सम्पूर्ण अनुभूतियों का यत्र-तत्र सचित्र चित्रण किया है। इनके नाम आदि के आधार पर यह सिद्ध होता है कि ये दक्षिण भारत (वट्टकेरी स्थान) के निवासी थे। मूलाचार नाम से भी सिद्ध होता है कि ये दिगम्बर परम्परा के मूलसंघ में महान् एवं प्रमुख आचार्य थे। इस संघ के प्रथम आचार्य कुन्दकुन्द और इनके बाद आचार्य वट्टकेर हुए। इसी मूलसंघ के श्रमणों के आचार्य का प्रतिपादक होने से इस ग्रन्थ का नाम मूलाचार और उनके संघ का नाम मूलसंघ प्रचलित हुआ। मूलाचार अपनी विषय-वस्तु और भाषा आदि की दृष्टि से तृतीय शती के आसपास का सिद्ध होता है। अतः आचार्य वट्टकेर का समय भी यही माना जा सकता है। इन्होंने मूलाचार का प्रणयन एक निश्चित रूपरेखा को दृष्टि में रख कर किया। इस एक कृति ने ही उन्हें अमर बना दिया क्योंकि सैकड़ों, हजारों वर्षों से आज तक समस्त श्रमणों को यह ग्रन्थ दीपक का कार्य करता आ रहा है।

364. वर्धमानदेशना

वर्धमानदेशना नामक ग्रन्थ के रचयिता साधुविजयगणि के शिष्य शुभवर्धनगणि हैं। विक्रम संवत् 1552 (ईसवीं सन् 1495) में इन्होंने इस ग्रंथ की रचना की। प्राकृत पद्यों में लिखा हुआ यह ग्रंथ उपासकदशा नाम के सातवें अंग में से उद्धृत किया गया है। इसके प्रथम विभाग में तीन उल्लास हैं। यहाँ विविध कथाओं द्वारा महावीर के धर्मोपदेश का प्रतिपादन है। उदाहरण के लिये, सम्यक्त्व का प्रतिपादन करने के लिए हरिबल, हंसनृप, लक्ष्मीपुंज, मदिरावती, धनसार, हंसकेशन, चारुदत्त, धर्मनृप, सुरसेन, महासेन, केशरि चोर, सुमित्र मंत्री, रणशूर नृप ओश्र जिनदत्त व्यापारी की कथाओं का वर्णन है। दूसरे उल्लास में कामदेव श्रावक आदि और तीसरे उल्लास में चुलनी पिता श्रावक आदि की कथायें कही गई हैं।

365. वसन्तराज, एम. डी.

प्रोफेसर एम.डी. वसन्तराज कन्नड़, प्राकृत एवं जैनविद्या के समर्पित शिक्षक रहे हैं। आपने कर्नाटक में प्राकृत एवं जैनविद्या के प्रचार-प्रसार में महनीय सेवाएँ

दी है। आपका जन्म 15 अक्टूबर 1926 को कर्नाटक के मण्डया जिले के मुरुकनहल्ली गांव में हुआ था। आपके पिता पण्डित धर्मराज श्रवणबेलगोला के पुजारी थे। स्वामी नेमिसागर वर्णी जी ने प्रो. वसन्तराज की शिक्षा आदि में विशेष सहयोग किया था। आपने बैंगलोर एवं मैसूर में अपनी शिक्षा बड़ी कठिनाई से पूरी की। संस्कृत में एम.ए. करने के बाद प्रो. वसन्तराज 1960 में लेक्चर के रूप में नियुक्त हुए। 1971 में मैसूर विश्वविद्यालय में जब जैनालाजी एवं प्राकृत विभाग की स्थापना हुई तब विभाग के संस्थापक अध्यक्ष प्रो. ए. एन. उपाध्ये के सम्पर्क में प्रो. वसन्तराज आये। 1971 से वे विभाग में सर्टिफिकेट एवं डिप्लोमा कक्षाओं का शिक्षण करने लगे। प्रो वसन्तराज ने प्रो. ए. एन. उपाध्ये के निर्देशन में त्रिविक्रम के प्राकृत ग्राम पर पीएच.डी. के लिए शोधकार्य प्रारम्भ किया, जो 1979 में प्रो. टी. जी. कलघटगी के निर्देशन में पूरा हुआ। तब आप प्राकृत विभाग में रीडर के रूप में नियुक्त हुए। आपके प्रयत्नों से 1980 से विभाग में एम.ए. प्राकृत एवं जैनालाजी का पाठ्यक्रम प्रारम्भ हो गया। सन् 1983 में प्रो. वसन्तराज विभाग में प्रोफेसर के रूप में नियुक्त हुए और 1986 में आप वहाँ से सेवा निवृत्त हुए। 1988 ई. से 1992 तक प्रो. वसन्तराज ने मद्रास यूनिवर्सिटी के जैनालाजी विभाग में विभागाध्यक्ष के रूप में कार्य किया। इस बीच प्रो. वसन्तराज ने देश-विदेश के कई विद्वानों को शोध के क्षेत्र में मार्गदर्शन किया। आपकी 75 वर्ष की आयु पूर्ण होने पर प्रो. जयन्द्र सोनी जर्मनी ने ''वसन्तगौरवम्'' नामक अभिनन्दन ग्रन्थ भी समर्पित किया है।

प्रो. वसन्तराज प्राकृत परम्परा और जैन इतिहास के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपकी पुस्तकों में श्रुतावतार, सन्मतिश्री विहार, बारसअनुवेक्खा, दिगम्बर जैन आगम कृतिगलभासे, जैनागम इतिहासदीपिके आदि प्रमुख हैं। प्रो. वसन्तराज अनेक पुरस्कारों से सम्मानित हुए हैं। यथा- प्राकृत ज्ञानभारती अवार्ड (1990), आचार्य विद्यानन्द पुरस्कार (1997), आचार्यरत्न बाहुबली कन्नड़ साहित्य अवार्ड आदि।

366. वसुदेवहिंडि

प्राकृत के प्राचीन कथा ग्रन्थ वसुदेवहिंडि में कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण (हिंडि) का वृतान्त है इसलिए इसे वसुदेवचरित भी कहा गया है। आगमबाह्य

ग्रन्थों में यह कृति कथा साहित्य में प्राचीनतम गिनी जाती है। वसुदेव के आत्म वृतान्त की कथा गुणाढ्य की बड्डकहा (वृहत्कथा) के नामक नरवाहनदत्त के अनुकरण पर लिखी हुई जान पड़ती है। इसके कर्ता संघदासगणि वाचक हैं जो वृहत्कल्पभाष्य के कर्ता संघदासगणि क्षमाश्रमण से भिन्न हैं। दुर्भाग्य से इनके संबंध में थोड़ी भी जानकारी नहीं मिलती। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ये अपने विषय के सम्मानित विद्धान् थे और कथा वर्णन की शैली में निष्णात थे। ग्रंथ के आरंभ में अपनी रचना को ग्रंथकार ने गुरु परंपरागत संग्रह रचना कहा है तथा प्रथमानुयोग में वर्णित तीर्थंकर, चक्रवर्ती और दशारवंश के राजाओं के चरित के अनुसार सुधर्मा स्वामी ने यह चरित अपने शिष्य जंबू को उपदेशित किया है।

प्राकृत जैन कथा साहित्य के विकास के अध्ययन के लिये वसुदेवहिंडि एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। अर्धमागधी से किस प्रकार प्राचीन जैन महाराष्ट्री विकसित हो रही थी, उसके अध्ययन के लिये यह रचना महत्त्वपूर्ण कड़ी है। इसके अतिरिक्त, पैशाची में लिखी हुई अनुपलब्ध गुणाढ्य की बृहत्कथा का यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन रूपान्तर है। इसमें यत्र-तत्र सामाजिक और सांस्कृतिक सामग्री बिखरी पड़ी है। श्वेताम्बर जैन विद्धानों में यह रचना लोकप्रिय रही है। जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी विशेषणवती (रचना ईसवी सन् 610) में वसुदेवचरियं का उल्लेख किया है। जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यकचूर्णी (600-650) में वसुदेवहिंडि का उल्लेख करते हुए ऋषभचरित (1,164), प्रसन्नचन्द्र और वल्कचीरी (1,460 अ) और मलयगिरि ने आवश्यक सूत्रवृत्ति (218) में वसुदेवहिंडि का उल्लेख किया है। धर्मसेनगणि महत्तर (7 वीं-8वीं शताब्दी) ने अपने मज्झिमखंड (जिसे वसुदेवहिंडि का द्धितीयखंड भी कहा गया है) के आरंभ में कहा है कि उन्होंने संघदासगणि वाचक की 29 लंभ वाली वसुदेवहिंडि की अपूर्ण रचना को शेष 71 लंभों की रचना कर उसे पूर्ण किया है। इससे विदित होता है कि धर्मदास गणि महत्तर इस रचना से भलीभाँति परिचित थे।

वसुदेवहिंडि मुख्यतया गद्यात्मक समासांत पदावलि में लिखी गई एक विशिष्ट रचना है। बीच-बीच में पद्य भी आ जाते हैं, कहीं गद्य-पद्य मिश्रित भी हो

गये हैं। भाषा सरल, स्वाभाविक और प्रसादगुणसंपन्न है, संवाद चुस्त हैं। भाषा प्राचीन महाराष्ट्री प्राकृत है। कितने ही प्रयोग बड़े विलक्षण हैं जिनका व्याकरण के नियमों से मूल नहीं बैठता और जिनका प्राकृत के विकास के प्राचीनतम स्तर से संबंध है। इस ग्रन्थ में 29 लंभ हैं जो 11.000 श्लोकप्रमाण हैं। यह ग्रन्थ छः अधिकारों में विभक्त है कहप्पत्ति (कथा की उत्पत्ति), पेढिया (पीठिका) मुह (मुख), पडिमुह (प्रतिमुख), सरीर (शरीर) और उवसंहार (उपसंहार)। कथोत्पत्ति (2-26) में धर्म प्राप्ति की दुर्लभता, इन्द्रियविषयों में आसक्ति, मधुबिन्दुदृष्टांत, जंबू और प्रभव का संवाद कुबेरदत्त एवं कुबेरदत्ता का आख्यान, महेश्वरदत्त की कथा, प्रसन्नचन्द्र वल्कचीरी का आख्यान, ब्राह्मण दारक की कथा, अणाढिय देव की उत्पत्ति और वसुदेवचरित्त आदि की कथायें हैं। तत्पश्चात् धम्मिल्लहिंडि (27-76) का वर्णन है। उक्त छह अधिकारों में इस अधिकार का उल्लेख नहीं है। जान पड़ता है कि इस अधिकार का समावेश बाद में कर लिया गया है।

367. वसुदेवहिण्डीसार -

यह विशाल कथाग्रन्थ वसुदेवहिण्डी का संक्षिप्त सार है जो 250 लोक-प्रमाण प्राकृत -गद्य में लिखा गया है। इस वसुदेवहिण्डीसार के कर्ता कौन है, उन्होंने क्यों और किसलिए सारोद्धार किया है ? यह निश्चित नहीं हो सका। केवल ग्रन्थ के अन्त में लिखा है कि '**इह संखेपेण सिरिगुणनिहाणसूरीणं कए कहा कहिया**' अर्थात् श्रीगुणनिधानसूरि के लिए संक्षेप में कथा कही गई है। पर किसने कही है यह ज्ञात न हो सका। इसके सम्पादक पं. वीरचन्द्र के अनुसार यह ग्रन्थ तीन-चार सौ वर्ष से अधिक प्राचीन नहीं है। इसे 'वसुदेवहिण्डीआलापक' भी कहा जाता है पर ग्रन्थान्त में '**वसुदेवहिण्डी कहासमत्ता**' लिखा है इससे इसका '**वसुदेवहिण्डीसार**' नाम ठीक है।

368. वसुनन्दिश्रावकाचार (अथवा उपासकाध्ययन)

वसुनन्दिश्रावकाचार के कर्त्ता आचार्य वसुनन्दि हैं जिनका समय वि.सं. की 12वीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जाता है। इस ग्रन्थ की कुछ गाथायें भावसंग्रह की गाथाओं से समानता रखती हैं। पण्डित आशाधर जी ने सागारधर्मामृत की टीका

में वसुनन्दि का उल्लेख बड़े आदरपूर्वक करते हुए उनके श्रावकाचार की गाथाओं को उद्धृत किया है। इसमें कुल मिलाकर 546 गाथायें हैं, जिनमें श्रावकों के आचार का वर्णन है। आरम्भ में सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रतिपादन करते हुए जीवों के भेद-प्रभेद बताये गये हैं। अजीव के वर्णन में स्कन्ध, देश, प्रदेश और परमाणुओं के स्वरूप का प्रतिपादन है। द्यूत, मद्य, मांस, वेश्या, शिकार, चोरी और परदारा-सेवन नाम के सात व्यसनों का प्ररूपण है। व्रतप्रतिमा के अन्तर्गत 12 व्रतों का निर्देश है। दान के फल का विस्तृत वर्णन है।

369. वृष्णिदसा (वण्हिदसा)

अर्धमागधी आगम साहित्य में वृष्णिदशा अंतिम उपांग है। प्रस्तुत उपांग में बारह अध्ययन हैं। इनमें वृष्णिवंश के बलदेव के निषधकुमार आदि 12 पुत्रों का भगवान् नेमिनाथ के पास दीक्षित होने एवं साधना करके सर्वार्थसिद्धि विमान में जाने तथा वहाँ से महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष में जाने का वर्णन है। इस उपांग में पौराणिकता का प्रतिपादन अधिक हुआ है। ग्रन्थ में भगवान् अरिष्टनेमि के विषय में विशेष चित्रण हुआ है तथा उनके शासन काल में दीक्षित अनगारों का भी वर्णन प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व, प्रभुत्व, सैन्य, समृद्धि, गरिमा आदि का निरूपण हुआ है। यादव वंश के प्रागैतिहासिक विवरण की दृष्टि से इस ग्रन्थ में महत्त्वपूर्ण सामग्री संकलित है। इसमें यदुवंशीय राजाओं के इतिवृत्त अंकित हैं, जिनकी तुलना श्रीमद्भगवत् में आये हुए यदुवंशी चरितों से की जा सकती है। हरिवंश पुराण के निर्माण के लिए भी यहाँ से उपकरण लिए गए होंगे। अरिष्टनेमि और कृष्णचरित की एक सामान्य झाँकी इस ग्रन्थ में विद्यमान है।

370. वाकपतिराज

गउडवहो के रचयिता वाक्पतिराज हैं। यह कवि कन्नौज के राजा यशोवर्मा के आश्रय में रहते थे। इस काव्य में उन्होंने कन्नौज राजा यशोवर्मा द्वारा गौड देश– मगध के किसी राजा के वध किय जाने का वर्णन किया है। काव्य के रचयिता वाक्पतिराज निश्चयतः अपने आश्रयदाता के समकालीन हैं। वाक्पतिराज ने अपने इस काव्य में यशोवर्मा का यशोगान किया है। इस काव्य के अधूरे होने से प्रतीत होता है कि वाक्पतिराज ने अपने काव्य की

रचना यशोवर्मा के विजयी दिनों में आरम्भ की थी, किन्तु कश्मीर के राजा ललितादित्य के हाथों यशोवर्मा का पराजय होने पर उसे अधूरा ही छोड़ दिया। अतः वाक्पतिराज का समय ई सन् 760 के लगभग है।

371. वासुपुज्जसामिचरियं

बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य पर चन्द्रप्रभ की 8000 ग्रथांग्र प्रमाण रचना उपलब्ध है। इसका प्रारम्भ सुहसिद्धिबहुवसीकरण से होता है। चन्द्रप्रभ ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों में पादलिप्त, हरिभद्र और जीवदेव का उल्लेख तथा ग्रंथों में तरंगवती का उल्लेख किया है।

372. वास्तुसार

पूर्व शास्त्रों का अध्ययन कर संवत् 1372 में ठक्कुरफेरू ने वास्तुसार ग्रन्थ की रचना की। यहाँ गृहवास्तुप्रकरण में भूमिपरीक्षा, भूमिसाधना, भूमिलक्षण, मासफल, नींवनिवेशलग्न, ग्रहप्रवेशलग्न और सूर्यादिग्रहाष्टक का 158 गाथाओं में वर्णन किया गया है।

373. विक्रमसेनचरित

इसमें विक्रमसेन नरेश का सम्यक्त्वलाभ से लेकर सर्वार्थसिद्धि विमान जाने तक का वृत्तान्त प्राकृत छन्दों में वर्णित है। साथ ही दान, तप, भावना के प्रसंग से 14 कथाएँ भी दी गई हैं। यह एक उपदेशकथा ग्रन्थ है। इसके रचयिता ने अपना नाम पद्मचन्द्र शिष्य मात्र दिया है। ग्रन्थ की रचना का समय अज्ञात है।

374. विचारसार प्रकरण

विचारसार प्रकरण भी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है। इसमें 900 गाथाएँ हैं, जिनमें कर्मभूमि, भोगभूमि, आर्य, अनार्य देश, राजधानियाँ, तीर्थंकरों के पूर्वभव, माता-पिता, स्वप्न, जन्म, समवशरण, गणधर, अष्टमहाप्रातिहार्य, कल्कि, शक विक्रम काल गणना, दशनिह्नव, चौरासी लाख योनियाँ एवँ सिद्ध स्वरूप आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया हैं। इसके रचयिता देवसूरिं के शिष्य प्रद्युम्नसूरि हैं। इनका समय 13वीं शती है।

375. विदेशों में प्राकृत-अध्ययन

19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्राकृत भाषा का अध्ययन भी विदेशी विद्वानों द्वारा प्रारम्भ हो गया। फ्रान्सीसी विद्वान् चार्ल्स विल्किन्स ने अभिज्ञानशाकुन्तलम के अध्ययन के साथ प्राकृत का उल्लेख किया। हेनरी टामस कोलबुक ने प्राकृत

भाषा एवं जैनधर्म के सम्बन्ध में कुछ निबन्ध लिखे। तथा 1897 ई. में लन्दन के जे. जे. फर्लांग ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **शार्ट स्टडीज इन ए साइन्स आव कम्पेरेटिव रिलिजन्स** में शिलालेखों में उत्कीर्ण प्राकृत भाषा का उल्लेख किया। इस प्रकार प्राकृत भाषा एवं जैनधर्म के अध्ययन के प्रति पाश्चात्य विद्वानों के रुचि लेना प्रारम्भ किया, जो आगामी अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण भूमिका थी।

पाश्चात्य विद्वानों ने जैनविद्या के अध्ययन का प्रारम्भ प्राकृत भाषा के तुलनात्मक अध्ययन से किया। कुछ विद्वानों ने संस्कृत का अध्ययन करते हुए प्राकृत भाषा का अनुशीलन किया तो कुछ विद्वानों ने स्वतन्त्र रूप से प्राकृत भाषा के सम्बन्ध में अपनी शोध प्रस्तुत की। यह शोध सामग्री निबन्धों और स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में प्राप्त होती है। 19वीं शताब्दी के चतुर्थ दशक में जर्मनी में प्राकृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हो गया था। होएफर की **डे प्राकृत डिआलेक्टो लिब्रिदुओ** (1836 ई.) तथा लास्सन की **इन्स्ओटयूत्सीओनेस लिंगुआए प्राकृतिकाएँ** इस समय की प्रमुख रचनाएँ हैं। पाँचवें दशक में प्राकृत ग्रन्थों का जर्मन में अनुवाद भी होने लगा था। ओ बोलिक ने 1848 ई. में हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि का जर्मन संस्करण तैयार कर दिया था। स्पीगल (1949 ई.) ने **म्युंशनर गेलेर्ने आन्त्साइगन** में प्राकृत भाषा का परिचय दिया है। इस समय तुलनात्मक दृष्टि से भी प्राकृत भाषा का महत्व बढ़ गया था। अतः अन्य भाषाओं के साथ प्राकृत का अध्ययन विदेशी विद्वान् करने लगे थे। डॉ. अर्नेस्ट ट्रम्प (1861-1862) ने इस प्रकार का अध्ययन प्रस्तुत किया, जो **ग्रेमर आव द विन्धी लेंग्वेज कम्पेयर्ड विद द संस्कृत, प्राकृत एण्ड द काग्रेट इंडियन वर्नाक्युलर्स** नाम से 1872 ई. में प्रकाशित हुआ। 1869 ई. फ्रेडरिक हेंग ने अपने शोधप्रबन्ध **वर्गलचुंग डेस प्राकृत उण्ड डेर रोमानिश्चियन श्प्राखन** में प्राकृत भाषा का तुलनात्मक अध्ययन किया है।

19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में प्राकृत भाषा के व्याकरण का अध्ययन गतिशील हो गया था। डॉ. जे. एच. बूलर ने 1874 ई. में **द देशी शब्द संग्रह आफ हेमचन्द्र एवं आन ए प्राकृत ग्लासरी इनटायटिल्ड पाइयलच्छी** ये दो महत्वपूर्ण लेख प्रकाशित किये। तथा 1889 ई. में यूवर डास लेबन डेस जैन मोएन्दोस हेमचन्द्रा नामक पुस्तक विएना से प्रकाशित हुई। ई बी कावेल ने

संस्कृत नाटकों की प्राकृत का अध्ययन प्रस्तुत किया जो सन् 1875 ई. में लन्दन से **ए शार्ट इंट्रोडक्क्षन टु द आर्डनरी प्राकृत आव द संस्कृत ड्रामाज विद ए लिस्ट आव कामन इरेंगुलर प्राकृत वर्डस** के नाम से प्रकाशित हुआ। इस सम्बन्ध में ई म्यूलर की **वाइत्रेगे त्सूर ग्रामाटीक डेस जैन प्राकृत** (बर्लिन, 1875 ई.) नामक रचना भी प्राकृत भाषा पर प्रकाश डालती है। सम्भवतः प्राकृत व्याकरण के मूलग्रन्थ का अंग्रेजी संस्करण सर्वप्रथम डॉ. रुडोल्फ हार्नल ने किया। उनका यह ग्रन्थ **द प्राकृत लक्षणम् आफ चन्द्राज ग्रेमर आफ द एन्शियेंट प्राकृत** 1880 ई. में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।

376. विदेशों में अपभ्रंश भाषा का अध्ययन :

बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक प्राकृत और अपभ्रंश में कोई विशेष भेद नहीं माना जाता था। किन्तु पाश्चात्य विद्वानों की खोज एवं अपभ्रंश साहित्य के प्रकाश में आने से अब ये दोनों भाषाएँ स्वतन्त्र रूप से अस्तित्व में आ गई हैं और उन पर अलग अलग अध्ययन अनुसन्धान होने लगा है। रिचर्ड पिशेल ने प्राकृत व्याकरण के साथ अपभ्रंश भाषा के स्वरूप आदि का भी अध्ययन प्रस्तुत किया। 1880 ई. में उन्होंने देशीनाममाला का सम्पादन कर उसे प्रकाशित कराया जिसमें यह प्रतिपादित किया गया हैं कि अपभ्रंश भाषा जनता की भाषा थी और उसमें साहित्य भी रचा जाता था। आपके मत का लास्सन ने भी समर्थन किया। 1902 ई. में पिशल द्वारा लिखित **माटेरिआलिसन त्सुर डेस अपभ्रंश** पुस्तक बर्लिन से प्रकाशित हुई, जिसमें स्वतन्त्र रूप से अपभ्रंश का विवेचन किया गया।

जिस प्रकार प्राकृत भाषा के अध्ययन का सूत्रपात करने वाले रिचर्ड पिशेल थे, उसी प्रकार अपभ्रंश के ग्रन्थों को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने वाले विद्वान् डॉ. हर्मन जैकोबी थे। 1914 ई. में जैकोबी को भारत के ग्रन्थ-भण्डारों में खोज करते हुए अहमदाबाद में अपभ्रंश का प्रसिद्ध ग्रन्थ भविसयत्तकहा प्राप्त हुआ तथा राजकोट में नेमिनाथचरित की पाण्डुलिपि मिली। जैकोबी ने इन दोनों ग्रन्थों का सम्पादन कर अपनी भूमिका के साथ इन्हें प्रकाशित किया। तभी से अपभ्रंश भाषा के अध्ययन में भी गतिशीलता आयी। अपभ्रंश का सम्बन्ध आधुनिक भाषाओं के साथ स्पष्ट होने लगा।

अपभ्रंश भाषा के तीसरे विदेशी अन्वेषक मनीषी डॉ. एल. पी. टेस्सिटरी हैं, जिन्होंने राजस्थानी और गुजराती भाषा का अध्ययन अपभ्रंश के सन्दर्भ में किया है। सन् 1914 से 1916 ई. तक आपके विद्वत्तापूर्ण लेखों ने अपभ्रंश के स्वरूप

एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के साथ उसके सम्बन्धों को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया। टेस्सिटरी के इन लेखों के अनुवादक डॉ. नामवर सिंह एवं डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या इन लेखों को आधुनिक भारतीय भाषाओं और अपभ्रंश को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में स्वीकार करते हैं। इस बात की पुष्टि डॉ. गियसर्न द्वारा अपभ्रंश के क्षेत्र में किये गये कार्यों से हुई है। डॉ. ग्रियर्सन ने **लिंग्विस्टिक सर्वे ऑफ इंडिया** के प्रथम भाग में अपभ्रंश पर विशेष विचार किया है। 1913 ई. में ग्रियर्सन ने मार्कण्डेय के अनुसार अपभ्रंश भाषा के स्वरूप पर विचार प्रस्तुत करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। 1922 ई. में **द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन** नामका आपका एक और लेख प्रकाश में आया। इसी वर्ष अपभ्रंश पर आप स्वतन्त्र रूप से भी लिखते रहे।

बीसवीं शताब्दी के तृतीय एवं चतुर्थ दशक में अपभ्रंश पर और भी निबन्ध प्रकाश में आये। हर्मन जैकोबी का **जूर फ्राग नाक डेम उसस्प्रगप्स अपभंश** एस स्मिथ का **देजी दुतीय अपभ्रंश आ पाली** तथा लुडविग आल्सडोर्फ ने **अपभ्रंश स्टडियन** नाम से स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिपजिंग से प्रकाशित किया, जो अपभ्रंश पर अब तक हुए कार्यों का मूल्यांकन प्रस्तुत करता है। 1939 ई. में लुइगा नित्ति डोलची के **द अपभ्रंश स्तवकाज आफ रामशर्मन** से ज्ञात होता है कि अपभ्रंश कृतियों के फ्रेंच में अनुवाद भी होने लगे थे। नित्ति डोलची ने अपभ्रंश एवं प्राकृत पर स्वतन्त्र रूप से अध्ययन ही नहीं किया, अपितु पिशेल जैसे प्राकृत भाषा के मनीषी की स्थापनाओं की समीक्षा भी की है।

सन् 1950 के बाद अपभ्रंश साहित्य की अनेक कृतियाँ प्रकाश में आने लगीं। अत: उनके सम्पादन और अध्ययन में भी प्रगति हुई। भारतीय विद्वानों ने इस अवधि में प्राकृत-अपभ्रंश पर पर्याप्त अध्ययन प्रस्तुत किया है। विदेशी विद्वानों में डॉ. के. डी. व्रीस एवं आल्सडोर्फ के नाम उल्लेखनीय हैं। के. डी. व्रीस ने 1954 ई. में अपभ्रंश स्टडीज नामक दो निबन्ध प्रस्तुत किये। द्रविड़ भाषा और अपभ्रंश का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए उन्होंने **ए द्राविडियन ईडियम इन अपभ्रंश** नामक दो निबन्ध तथा अपभ्रंश स्टडीज का तीसरा और चौथा निबन्ध 1959-61 के बीच प्रकाशित किये।

बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक में अपभ्रंश भाषा के क्षेत्र में विदेशी विद्वान् तिश्योशी नारा का कार्य महत्वपूर्ण है। सन् 1963 में उन्होंने **शार्टनिंग आफ द फाइनल वावेल आफ इन्स्ट सीग एन एण्ड फोनोलोजी आफ द लेंग्वेज इन सरह दोहा** नामक निबन्ध प्रकाशित किया। 1964 ई. में ए स्टडी आफ अवहट्ट एण्ड प्रोटोबेंगाली विषय पर कलकत्ता विश्वविद्यालय से आपका शोध-प्रबन्ध स्वीकृत हुआ। इसके बाद भी अपभ्रंश पर आपका अध्ययन गतिशील रहा। 1965 ई. में **अपभ्रंश एण्ड अवहट्ट-प्रोटो न्यू इंडो आर्यन स्टेजेज** नामक निबन्ध आपके द्वारा प्रस्तुत किया गया। विदेशों में 1970 से 2010 तक किए गये प्राकृत-अपभ्रंश विषयक अध्ययन का प्रामाणिक विवरण तैयार किया जाना चाहिए। इससे अनेक विदेशी विद्वानों की प्राकृत-सेवा का ज्ञान हो सकेगा।

377. विपाकसूत्र (विवागसुयं)

अर्धमागधी के अंग ग्रन्थों में विपाकसूत्र का ग्यारहवाँ स्थान है। विपाक का अर्थ है- फल या परिणाम। यह आगम दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त है- (1) सुख विपाक (2) दुःख विपाक। इनमें प्राणियों द्वारा किये गये सुकृत और दुष्कृत कर्मों के फल को दिखाने के लिए 20 कथाएँ आई हैं। इन कथाओं के माध्यम से यही समझाने का प्रयास किया गया है कि जिन जीवों ने पूर्वभवों में विविध पापकृत्य किए हैं, उन्हें आगामी जीवन में दारुण वेदनाएँ प्राप्त हुईं तथा जिन्होंने पूर्वभवों में सुकृत किये उन्हें पुण्य स्वरूप सुख उपलब्ध हुआ। कर्म सिद्धान्त जैन दर्शन का मुख्य सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त का दार्शनिक विश्लेषण तो इस ग्रन्थ में नहीं मिलता है, किन्तु कथाओं के माध्यम से कर्मसिद्धान्त का जिस प्रकार सूक्ष्म व सम्यक् प्रतिपादन किया गया है, वह असाधारण है। प्रथम श्रुतस्कन्ध दुःख विपाक के दस अध्ययनों में अशुभ कर्मों का फल दिखाने के लिए मृगापुत्र, उज्झित, अभगसेन, शकट, वृहस्पतिदत्त, नंदीवर्धन, उम्बरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्ता व अंजुश्री के कथानक वर्णित हैं। द्वितीय श्रुतस्कन्ध सुखविपाक में शुभकर्मों का फल दिखाने हेतु सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजातकुमार, सुवासवकुमार, जिनदास, धनपति, महाबल, भद्रनन्दीकुमार, महाचन्द्र कुमार और वरदत्त कुमार के कथानक वर्णित हैं। आयुर्वेद की दृष्टि से यह शास्त्र अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसमें नाना व्याधियों के औषध व उपचार का वर्णन हुआ है। विपाकसूत्र मूलतः मानव जीवन की यात्रा के

उतार-चढ़ाव को दर्शाता है। सामाजिक दृष्टि से पुरातन मान्यताओं, प्रवृत्तियों, प्रथाओं एवं अपराधों का भी परिचय प्राप्त होता है

378. विमलसूरि

पउमचरियं ग्रन्थ के अन्त में दी गई प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि इसके कर्त्ता नाइलकुल वंश के विमलसूरि थे जो कि राहु के प्रशिष्य और विजय के शिष्य थे। याकोबी ने इसे तृतीय शताब्दी की रचना माना है और डॉ. के. आर. चन्द्र ने इसे वि. सं. 530 की कृति माना है। कुवलयमाला की प्रस्तावना गाथाओं में विमलांक विमलसूरि को स्मरण किया गया है और उनकी 'अमृतमय सरस प्राकृत' की प्रशंसा की गई है।

379. विवाहपडल (विवाह पटल)

विवाहपडल के कर्ता-अज्ञात हैं। यह प्राकृत में रचित एक ज्योतिष-विषयक ग्रंथ हैं, जो विवाह के समय काम में आता है। इसका उल्लेख निशीथविशेषचूर्णि में मिलता है।

विवाहपटल नाम के एक से अधिक ग्रन्थ हैं। अजैन कृतियों में शारंगधर ने शक सं. 1400 (वि. सं.1435) में और पीताम्बर ने शक सं. 1444 (वि.सं. 1579) में इसकी रचना की है। जैन कृतियों में विवाहपटल के कर्ता अभयकुशल या उभयकुशल का उल्लेख मिलता है। इसकी जो हस्तलिखित प्रति मिली है उसमें 130 पद्य हैं, बीच-बीच में प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की गई हैं। इसमें निम्नोक्त विषयों की चर्चा है।

योनि-नाडीगणश्रेव स्वामिमित्रौस्तथैव च।
जुन्जा प्रीतिश्रव वर्णश्रव लीहा सप्तविधा स्मृता ॥

नक्षत्रा,नाडीवेधयन्त्रा, राशिस्वामी, ग्रहशुद्धि, विवाहनक्षत्र, चन्द्र सूर्य स्पष्टीकरण, एकार्गल, गोधूलिकाफल आदि विषयों का विवेचन है। यह ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ है।

380. विविधतीर्थकल्प (तीर्थ-संबंधी)

विविधतीर्थ अथवा कल्पप्रदीप जिनप्रभसूरि की दूसरी रचना है। जैसे

हीरविजयसूरि ने मुगल सम्राट अकबर बादशाह के दरबार में सम्मान प्राप्त किया था, वैसे ही जिनप्रभसूरि ने तुगलक मुहम्मदशाह के दरबार में आदर पाया था। जिनप्रभसूरि ने गुजरात, राजपूताना, मालवा मध्यप्रदेश बराड दक्षिण कर्णाटक, तेंलग, बिहार, कोशल, अवध, उत्तरप्रदेश और पंजाब आदि के तीर्थ-स्थानों की यात्रा की थी। इसी यात्रा के फलस्वरूप विविधतीर्थकल्प नामक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक ग्रन्थ की रचना की गई है। यह ग्रन्थ विक्रम संवत् 1380 ईसवीं सन 1332 में समाप्त हुआ इसमें गद्य और पद्यमय संस्कृत और प्राकृत भाषा में विविध कल्पों की रचना हुई है, जिनमें लगभग 37-38 तीर्थों का परिचय दिया है। इसमें कुल मिलाकर 62 कल्प हैं।

381. विवेकमंजरी

इसके कर्ता महाकवि श्रावक आसड हैं जो भिल्लमाल श्रीमाल वंश के कटुकराज के पुत्र थे। वे भीमदेव के महामात्य पद पर शोभित थे। विक्रम संवत् 1248 ईसवीं सन् 1191 में उन्होंने विवेकमंजरी नामके उपदेशात्मक कथा-ग्रन्थ की रचना की। आसड ने अपने आपको कवि कालिदास के समान यशस्वी बताया है। वे कवि सभाश्रृंगार के रूप में प्रसिद्ध थे। उन्होंने कालिदास के मेघदूत पर टीका, उपदेशकंदलीप्रकरण तथा अनेक जिनस्तोत्र और स्तुतियों की रचना की है। बाल सरस्वती नामक कवि का पुत्र तरुण वय में ही काल कवलित हो गया, उसके शोक से अभिभूत हो अभयदेवसूरि के उपदेश से कवि इस ग्रन्थ की रचना करने के लिए प्रेरित हुए। इस पर बालचन्द्र और अकलंक ने टीका लिखी है।

382. विशेषावश्यकभाष्य

विशेषावश्यकभाष्य जिनदासगणी की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रचना है। आवश्यकसूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं- (1) मूलभाष्य, (2) भाष्य और (3) विशेषावश्यकभाष्य। पहले के दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं। और उनकी बहुत सी गाथाएँ विशेषावश्यकभाष्य में मिल गई हैं अतः विशेषावश्यकभाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधित्व करने वाला है। यह भाष्य केवल प्रथम अध्ययन सामायिक पर हैं। इसमें 3603 गाथाएँ हैं।

प्रस्तुत भाष्य में जैन आगम साहित्य में वर्णित जितने भी महत्त्वपूर्ण विषय

हैं उन सभी पर चिन्तन किया गया है। ज्ञानावाद, प्रमाणवाद, आचारनीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मसिद्धान्त पर विशद सामग्री का संकलन आकलन किया गया है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैन दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना अन्य दार्शनिक विचारधाराओं के साथ की गई है। इसमें जैन आगम साहित्य की मान्यताओं का तार्किक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। आगम के गहन रहस्यों को समझने के लिए यह भाष्य अत्यधिक उपयोगी है। परवर्ती आचार्यों ने विशेषावश्यकभाष्य की विचार सामग्री और शैली का अपने ग्रन्थों में उपयोग किया है। विशेषावश्यकभाष्य का भाष्य साहित्य में अनूठा स्थान है। आचार्य की प्रबल तार्किक शक्ति, अभिव्यक्ति, कुशलता, प्रतिपादन की पटुता, विवेचन की विशिष्टता सहज रूप से देखी जा सकती है।

इसमें जैन आगमों के प्रायः समस्त महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा है। इस भाष्य की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसमें जैन मान्यताओं का निरूपण केवल जैन दृष्टि से न किया जाकर इतर भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के साथ तुलना, खण्डन, समर्थन आदि करते हुए किया गया है। यही कारण है कि प्रस्तुत भाष्य में दार्शनिक दृष्टिकोण का विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जैनागमों का रहस्य के लिए विशेषावश्यकभाष्य निःसंदेह एक अत्यन्त उपयोगी ग्रन्थ है। इसकी उपयोगिता एवं महत्ता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि जिनभद्र के उत्तरवर्ती आगमिक व्याख्याकारों एवं ग्रन्थकारों ने एतद्निरूपित सामग्री के साथ ही इसकी तर्कपद्धति का भी बहुत उदारतापूर्वक उपयोग किया है। यह ग्रन्थ, आवश्यकसूत्र की व्याख्या के रूप में हैं। इसमें आवश्यक के प्रथम अध्ययन सामायिक से सम्बन्धित निर्युक्ति-गाथाओं का व्याख्यान है।

चारित्ररूप सामायिक की प्राप्ति का विचार करते हुए भाष्यकार ने कर्म की प्रकृति, स्थिति सम्यक्त्वप्राप्ति आदि का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। कषाय को सामायिक का बाधक बताते हुए कषाय की उत्कृष्टता एवं मंदता से किस प्रकार चारित्र का घात होता है, इस पर विशेष प्रकाश डाला है। चारित्र प्राप्ति के कारणों पर प्रकाश डालते हुए आचार्य ने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय और यथाख्यात चारित्र का विस्तार से व्याख्यान किया है। सामायिक

के ग्यारहवें द्वार समवतार का व्याख्यान चारित्र का विस्तार से व्याख्यान करते हुए भाष्यकार ने अनुयोगों- चरणकरणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग के पृथक्करण की चर्चा की है और बताया है कि आर्य वज्र के बाद होने वाले आर्य रक्षित ने भविष्य में मति-मेघा-धारणा का नाश होना जानकर अनुयोगों का विभाग कर दिया। उस समय तक सब सूत्रों की व्याख्या चारों प्रकार के अनुयोगों से होती थी। आर्य रक्षित ने इन सूत्रों का निश्चित विभाजन कर दिया। चरणकरणानुयोग में कालिक श्रुतरूप ग्यारह अंग महाकल्पश्रुत और छेदसूत्र रखें। धर्मकथानुयोग में ऋषिभाषितों का समावेश किया। गणितानुयोग में सूर्यप्रज्ञप्ति को रखा। द्रव्यानुयोग में दृष्टिवाद को समाविष्ट किया। सिद्ध नमस्कार का व्याख्यान करते हुए आचार्य ने कर्मस्थिति समुदघात शैलेशी अवस्थां ध्यान आदि के स्वरूप का भी पर्याप्त विवेचन किया है। सिद्ध का उपयोग साकार है अथवा निराकार इसकी चर्चा करते हुए केवलज्ञान और केवलदर्शन के भेद और विभेद का विचार किया है। केवलज्ञान और केवलदर्शन क्रमशः होते हैं या युगपद् इस प्रश्न पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्रस्तुत भाष्य में जैन आचार-विचार के मूलभूत समस्त तत्त्वों का सुव्यस्थित एवं सुप्ररूपित संग्रह कर लिया है। इसमें गूढ़तम दार्शनिक मान्यता से लेकर सूक्ष्मतम आचार विषयक विधि विधान का संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त विवेचन है।

383. वीरदेवगणि

प्राकृत कथा ग्रन्थ महिवालकहा के रचयिता वीरदेवगणि हैं। ग्रन्थ के अन्त में चार गाथाओं द्वारा उन्होंने अपनी गुरुपरम्परा मात्र दी है। तदनुसार चन्द्रगच्छ में क्रमशः देवभद्र-सिद्धसेन-मुनिचन्द्रसूरि हुए। उन्हीं के शिष्य प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक हैं। इस रचना का कालसंवत् कहीं नहीं दिया गया पर रचयिता के दादा गुरु और परदादा गुरु की कई रचनाएँ मिलती हैं। चन्द्रगच्छ से सम्बन्धित देवभद्र ने प्राकृत श्रेयांसचरित्र की रचना (वि. सं. 1248 से पहले) की थी और सिद्धसेन ने सं. 1248 से पहले पद्मप्रभचरित्र की तथा उक्त संवत् में प्रवचनोद्धार पर तत्त्वविकाशिनी टीका और स्तुतियाँ लिखी थीं। संभवतः इन्हीं सिद्धसेन (सिंहसेन) ने सं. 1213 में प्रतिष्ठा कराई थी। इस आधार पर सिद्धसेन के प्रशिष्य वीरदेवगणि

का समय तेरहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध आता है।

384. वीरसेनाचार्य

षटखण्डागम पर सबसे महत्त्वपूर्ण टीका धवला है जिसके रचयिता वीरसेन हैं। इस टीका के कारण ही यह समस्त ग्रंथ धवलसिद्धांत के नाम से कहा जाने लगा। आदिपुराण के कर्त्ता सुप्रसिद्ध जिनसेन आचार्य इनके शिष्य थे। जिनसेन ने अपने गुरु की सर्वार्थगामिनी नैसर्गिक प्रज्ञा को बहुत सराहा है। वीरसेन ने बप्पदेवगुरु की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका के आधार से चूर्णियों के ढंग की प्राकृत और संस्कृतिमिश्रित 72 हजार श्लोकप्रमाण धवला नाम की टीका लिखी। टीकाकार की लिखी हुई प्रशस्ति के अनुसार शक संवत् 738 सन् 816 में यह टीका वाटग्रामपुर में लिखकर समाप्त हुई। इस प्रशस्ति में टीकाकार ने पंचस्तूप अन्वय का विद्यागुरु एलाचार्य और दीक्षा गुरु आर्यनन्दि का उल्लेख किया है। धवला टीका के कर्त्ता वीरसेन बहुश्रुत विद्वान् थे और उन्होंने दिगम्बर और श्वेताम्बर आचार्यों के विशाल साहित्य का आलोडन किया था।

385. वैदिक भाषा और प्राकृत

मध्यप्रदेश की विभाषा शौरसेनी प्राकृत का जितना गहरा संबंध जनभाषा से था, प्राच्या विभाषा से था, उतना ही निकट संबंध उसका वैदिक भाषा छान्दस् उदीच्या विभाषा एवं बाद में लौकिक संस्कृत से बन गया था। अतः उस मूल लोकभाषा में जो विशेषताएँ थी वे दाय के रूप में वैदिक भाषा और प्राकृत को समान रूप से मिली हैं। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने स्पष्ट किया है कि प्राकृत मध्यकालीन भाषाओं का प्रतिनिधित्व करती है। प्राकृत भाषा कोई एकाएक प्रयोग में नहीं आ गई। अपने नैसर्गिक रूप में वह वैदिक काल से पूर्व भी विद्यमान थी। वैदिक भाषा को स्वयं उस काल में प्रचलित प्राकृत बोलियों का साहित्यिक रूप माना जा सकता है। प्रथम स्तरीय प्राकृत के स्वरूप को वैदिक भाषा का अध्ययन भी आवश्यक है। यद्यपि प्रथमस्तरीय प्राकृत का साहित्य अनुपलब्ध है, तथापि महावीर युगीन स्वतीय प्राकृत की प्रवृत्तियों के प्रमाण वैदिक भाषा (छान्दस) के साहित्य में प्राप्त होते हैं। डॉ. गुणे के अनुसार प्राकृतों का अस्तित्व निश्चित

रूप के वैदिक बोलियों के साथ-साथ विद्यमान था। वस्तुतः ऋग्वेद की भाषा में भी कुछ सीमा तक हमें प्राकृतीकरण देखने को मिलता है। आधुनिक भाषाविदों की व्याख्या के अनुसार यह मूल प्राकृत भाषाओं के कारण है जो कि प्राचीन भारतीय आर्यभाषा (छान्दस) की बोलियों के साथ-साथ उस समय निश्चित रूप से प्रचलित थीं जबकि वैदिक सूक्त रचे जा रहे थे। यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि साहित्यिक छान्दस् की जनभाषा में छान्दस भाषा और प्राकृत के तत्व मिल जुले रूप में उपस्थित थे। यही कारण है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद, ब्राह्मण आदि छान्दस साहित्य में प्राकृतीकरण के तत्त्व उपस्थित हैं। छान्दस साहित्य में शब्दों के प्राकृतीकरण के साथ-साथ प्राकृत के व्याकरणात्मक तत्व भी महावीर युगीन प्राकृत के अनुसार प्राप्त होते हैं। इसीलिए डॉ. पिशेल ने भी कहा है कि- सब प्राकृत भाषाओं का वैदिक व्याकरण और शब्दों का नाना स्थलों में साम्य है। वैदिक भाषा में प्राकृत के जिन तत्त्वों की जानकारी दी है, उनमें से कुछ यहाँ दृष्टव्य हैं।

1. समान स्वर-व्यंजन -

वैदिक भाषा और प्राकृत के स्वर तथा व्यंजनों के प्रयोग में कई साम्य देखे जाते हैं। यथा-

वैदिकभाषा	अर्थ	प्राकृत	वैदिकभाषा	अर्थ	प्राकृत
हरी	हरि	हरी	देवो	देव	देवो
दूलह	दुर्लभ	दूलह	ण	नहीं	ण
वायू	वायु	वायू	लोम	रोम	लोम
अमत्त	अमात्य	अमत्त	अच्छ	अक्ष/आँख	अच्छ
महि	मही	महि	सूयर्य	सूर्य	सुज्ज
सुवर्ग	स्वर्ग	सुवग्ग	पुव्वं	पूर्व	पुव्वं
पितर	पिता	पिअर	उच्चा	ऊँचा	उच्चा
बुद	समूह	बुंद	महा	महान्	महा
गेह	गृह	गेह	पक्क	पका हुआ	पक्क
सेन्य	सैन्य	सेन्नं	जज्ञ	यज्ञ	जण्ण

2. शब्द रूपों में समानता

प्राकृत के कारकों की कमी तथा उनका आपस में प्रयोग प्रायः देखा जाता है। वैदिक भाषा में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध है। नाम रूपों में प्रयुक्त कई प्रत्यय दोनों भाषाओं में समान हैं। दोनों में कुछ शब्द विभक्ति रहित भी प्रयुक्त होते हैं। वैदिक भाषा में प्राकृत की तरह द्विवचन के स्थान पर बहुवचन का प्रयोग भी पाया जाता है। कुछ समान शब्द और सर्वनाम आदि इस प्रकार हैं–

	वैदिक भाषा	**अर्थ**	**प्राकृत**
(क) समान शब्द	रायो	राजा	रायो
	छाग	बकरा	छाग
	जाया	पत्नि	जाया
	पिप्पलं	पीपल	पिप्पलं
	पूतं	पवित्र	पूअं/पूदं
(ख) समान सर्वनाम	सो	वह	सो
	ते	वे	ते
	अहं	मैं	अहं
	मो	हम	मो
	मे	मेरे लिए	मे
	मयि	मुझ में	मयि
	तुवं	तुम	तुवं
	वो	तुमको	वो

(ग) समान अव्यय	**वैदिक भाषा**	**अर्थ**	**प्राकृत**
	इह	यहाँ	इह
	णही	नहीं	णहि
	णमो	नमस्कार	णमो
	कया	कब	कया

	दाणिं	इस समय	दाणिं
	जहि	जहाँ	जहि
(घ)	हनति	मारता है	हनति, हणइ
	भेदिति	भेदता है	भेदति
	मरते	मरता है	गच्छहि
	गच्छहि	जाओ	गच्छ
	पाहि	पिओ	पाहि
	कर	करना	कर
	चर	चलना	चर
	मुंच	छोड़ना	मुंच

इसी तरह प्राकृत एवं वैदिक भाषा के संधि–रूपों में भी समानताएँ देखने को मिलती हैं। कृदन्त दोनों में समान हैं। इस तरह ये कुछ नमूने के तौर पर ये विशेषताएँ हैं जिनकी ओर विद्वानों की दृष्टि जानी चाहिये। इससे यह स्पष्ट है कि वैदिक भाषा और प्राकृत किसी एक मूल जनभाषा के धरातल पर ज्ञान करना आवश्यक है। अतः प्राकृत भाषा का अध्ययन और पठन–पाठन प्राचीन भारतीय आर्यभाषा वैदिक भाषा के लिए कितना उपयोगी है, यह स्वयं समझा जा सकता है।

प्राकृत भाषा के व्याकरण संबंधी नियम स्वतंत्र आधार को लिये हैं तथा जनभाषा में प्रयोगों की बहुलता को भी प्राकृत ने सुरक्षित रखा है। प्राकृत ने अपने इन्हीं तत्वों के अनुरूप कुछ ऐसे नियम निश्चित कर लिये जिनसे वह किसी भी भाषा के शब्दों को प्राकृत रूप देकर अपने में सम्मलित कर सकती है। यह प्राकृत भाषा की सजीवता और सर्वग्राह्यता कही जा सकती है। इसी प्रवृत्ति का प्रयोग करते हुए प्राकृत कवियों ने अपने काव्य साहित्य को विभिन्न शब्द–भंडारों कैसे समृद्ध किया है। कोई भी प्रवाहमान भाषा प्राकृत की इस प्रवृत्ति से अछूती नहीं है। वैदिक युग से महावीर युग तक प्रचलित प्राकृत भाषा के स्वरूप को पुनर्जीवित करने के लिए एक ओर वैदिक भाषा में प्रयुक्त प्राकृत तत्वों की गहरायी से खोजबीन करनी होगी तो दूसरी ओर इस अवधि के अन्य–उपलब्ध साहित्य का

भाषा की दृष्टि से पुनर्मूल्यांकन करना होगा। इस देश में भारतीय आर्यभाषा के रूप में संस्कृत के साथ प्राकृत को भी सदैव स्मरण किया गया है। जन-सामान्य में

संस्कृत-प्राकृताभ्यां यद् भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मंत्रर्थवर्णनत्यात्र कियते कामधुड.मया।।

वाराहीसंहिता से ज्ञात होता है कि सप्तर्षि भी प्राकृत बोलते थे। प्राचीन वैयाकरण आचार्य पाणिनि भी स्वीकारते हैं कि स्वयंभू ब्रह्मा संस्कृत एवं प्राकृत दोनों का प्रयोग करते थे। -**संस्कृते प्राकृते चापि स्वयं प्रोक्ता स्वयंभुवा।**

386. वैदिकयुगीन बोलियाँ (विभाषाएँ)

प्राचीन भारत में आर्य-संस्कृति का विकास पश्चिम से पूर्व की ओर माना गया है। वैदिक युग में जिन-जिन भाषाओं का अधिक प्रचार था, भाषाविदों ने उन्हें तीन वर्गों में विभक्त किया है- (क) उदीच्या या उत्तरीय विभाषा (ख) मध्यदेशीय विभाषा एवं (ग) प्राच्या या पूर्वीय विभाषा। आर्यों का प्राथमिक सम्पर्क भारत के उत्तर-पश्चिम भूभाग से हुआ था। वहाँ पर उन्होंने अपनी बौद्धिक क्षमताओं का अधिक विकास किया। फलस्वरूप उत्तर-पश्चिम क्षेत्र की जन-प्रचलित विभाषा उदीच्या अधिक व्यवस्थित और परिनिष्ठित हो गई। इसी विभाषा में वैदिक साहित्य का प्रमुख भाग रचा गया। बाद में यहीं पर महर्षि पाणिनी ने भाषा को संस्कारित कर अष्टाध्यायी लिखी, जो लौकिक संस्कृत भाषा का आधार ग्रन्थ बना। वैदिक युग की 'छान्दस' भाषा और यह उदीच्या विभाषा साहित्यिक- भाषा के रूप में प्रतिष्ठित हुई। किन्तु उनमें अन्य जनबोलियाँ प्राकृत के तत्त्व भी समाहित होते रहे।

पूर्वी उत्तर भारत और बिहार वैदिक युग में अधिक विकसित क्षेत्र नहीं थे। वहाँ की प्राच्या विभाषा मध्यदेशीय विभाषा के सम्पर्क के कारण थी तो प्राकृत ही, किन्तु उसका प्रयोग बोलचाल में ही था, साहित्यिक भाषा पर वह प्रतिष्ठित नहीं थी। उदीच्या वाले प्राच्या को विकृत विभाषा समझते थे। प्राच्या बोलने वालों को वे अपने से भिन्न एवं असंस्कारित मानते थे। प्राच्या-प्रयोगी जन भी यज्ञीय संस्कृति के पक्षपाती नहीं थे। वे संयमपूर्ण आचरण को ही अपना धर्म मानते थे।

उन्हें वैदिक साहित्य में व्रात्य कहा गया है। यही व्रात्य श्रमण संस्कृति के पोषक कहे गये हैं। इनका सामाजिक एवं राजनैतिक संगठन भी उदीच्या के निवासियों से भिन्न था। पुरातत्त्ववेत्ता डॉ. जयचन्द विद्यालंकार ने स्पष्ट किया है कि इन व्रात्यों की शिक्षा-दीक्षा की भाषा प्राकृत थी, उनकी वेषभूषा परिष्कृत न थी, वे मध्यप्रदेश के आर्यों के संस्कार नहीं करते थे तथा ब्राह्मणों के बजाय अर्हन्तों (सन्तों) को मानते और चेतियों (चैत्यों) को पूजते थे। ऋग्वेद में बताया है कि जो पृथ्वीतल के मूर्धास्थानीय हैं अहिंसक हैं, जो अपने यश और व्रतों की आद्रोह से रक्षा करते हैं, वे व्रात्य हैं। आचार्य श्री विद्यानन्द जी ने अपने एक लेख में यह निष्कर्ष दिया है कि व्रात्य ही भारत के मूल निवासी और भारत की आद्य संस्कृति के प्रतिष्ठाता रहे हैं।

इसी प्राच्या के भूभाग में मगध साम्राज्य विकसित हुआ। भगवान् महावीर और बुद्ध इसी भूभाग में जन्में। उन्होंने प्राच्या और उससे विकसित प्राकृत मागधी को अपने उपदेशों का आधार बनाया। उदीच्या की परिनिष्ठित भाषा और वहाँ की मध्यदेश से पूर्व में लोगों का आना-जाना बना हुआ था। व्यापारिक सम्पर्क थे। अतः शौरसेनी प्राकृत और मागधी प्राकृत में क्षेत्रीय प्रभाव को छोड़कर प्रायः समानताएँ रही होंगी। इसीलिए तत्कालीन प्राकृत सबके समझ में आ जाती थी। इस समान तत्व को प्रकट करने के लिए ही और सर्वगाह्य प्राकृत भाषा के प्रतिनिधित्व के लिए सम्भवतः अर्धमागधी भाषा के स्वरूप और नामकरण को बाद में प्रस्तुत किया गया है। महापुरुष द्वारा प्रयुक्त होने के कारण, मिश्रित भाषा होने के कारण और धार्मिक श्रद्धा के कारण अर्द्धमागधी आर्य प्राकृत, देवभाषा आदि नामों से प्रचारित की गयी। अन्यथा वैदिक युग से लगभग ईसा की प्रथम शताब्दी तक दो ही प्राकृत भाषाएँ थीं- शौरसेनी (मध्यदेशीय) एवं मागधी (प्राच्या)। इन्हीं से अन्य प्राकृतों का विकास हुआ है। प्रसिद्ध भाषाशास्त्री जर्मन विद्वान् होएर्नले ने सभी प्राकृत बोलियों को दो भागों में बांटा है। एक को उन्होंने शौरसेनी प्राकृत कहा है और दूसरी को मागधी प्राकृत। भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण करने वाले विद्वान् ग्रियर्सन ने भी इस मत का समर्थन किया है और कहा है कि इन दोनों के (शौरसेनी एवं मागधी) मेल से विकसित भाषा को अर्धमागधी सामान्य तत्त्व तो थे ही। अतः वह प्राच्या मध्यदेशीय विभाषा से मिलती जुलती

थी। ये दोनों क्षेत्र परस्पर जुड़े हुए थे।

387. वैराग्य-रसायन प्रकरण

इस नीतिकाव्य के रचयिता लक्ष्मीलाभगणि हैं। कवि के समय, जीवन परिचय आदि के विषय में जानकारी उपलब्ध नहीं हैं। ग्रन्थ के अन्त में **रइयं पगरणमयं लच्छी लाहेण वरमुणिणा** (102 गा.) इतना उल्लेख है इस प्रकरण में कषाय और विकारों को दूर करने के लिए उपदेश दिया गया है। कवि ने बताया है कि वैराग्य उसी व्यक्ति को प्राप्त होता है जो भवभीरु है। भवभीरुता के अभाव में वैराग्य के वचन भी विष के समान प्रतीत होते हैं। जिस साधक को अपनी आत्मा का उद्धार करना अभीष्ट है वह संसार से अनासक्त रहता है-

कवि रूपक अलंकार की योजना करता हुआ कहता है कि मानव शरीर रूपी कमल के रस का पान मृत्युरूपी भ्रमर नित्य करता रहता है। अतः जिस प्रज्वलित क्रोधाग्नि में शरीर रूपी तृणकुटीर जल रहा है, उसकी शांति संवेगरूपी शीतल क्षमा जल से करनी चाहिए। कवि रूपक अलंकार का परम धनी है उसने चार कषायों को वृक्ष का रूपक दिया है। इस वृक्ष की हिंसा जड़ है, विषय वासना शाखाएँ हैं, और जन्मजरा तथा मरणरूपी फल है। अतः जो इस वृक्ष के कटु फलों को छोडना चाहता है उसे इसको जड से उखाड कर फैंक देना चाहिए। यथा-

चउव्विह-कसायरूक्खो हिंसादढमूल-विसयबहुसाहो।
जम्मजरा-मरण-फलो उम्मूलेयव्वो य मूलाओ।।

कवि जीवन को सुखी बनाने का नुस्खा आकिंचन को ही मानता है। अतः वह कहता है कि दुःख के नष्ट होने से मोह नष्ट हो जाता है। मोह के नष्ट होने से तृष्णा, तृष्णा के नष्ट होने से लोभ और लोभ के नष्ट होने से सभी प्रकार के भय-विवाद नष्ट हो जाते हैं। यथा-

दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो, मोहो हओ जस्स न होइ तण्हा।
तण्हा हया जस्स न होइ लोहो, लोहो हओ जस्स न किंचणाई।। वही 79 ।।

इस प्रकार कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक परिसंख्या आदि अलंकारों का प्रयोग कर इस धर्ममूलक काव्य को उच्चता प्रदान की है। उपदेशक और तथ्यनिरूपक शैली के प्रयोग के साथ नैतिक उपमानों की कवि ने झड़ी लगा दी है। तथ्य-

प्रतिपादन के साथ अन्यापदेशिक शैली का भी व्यवहार किया है। यह नीतिकाव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

388. वैराग्य शतक

इस नीतिकाव्य के रचयिता का नाम एवं परिचय अज्ञात है। काव्य पर गुणविनय ने वि.सं. 1646 में संस्कृत वृत्ति लिखी है। जिस प्रति के आधार पर इसका मुद्रण किया गया है वह कार्तिक वदी षष्ठी वि.सं. 1663 की है। इस शतक का नामकरण भर्तृहरि के वैराग्य शतक के अनुकरण पर रखा गया है। इसमें 105 गाथाएँ है और वैराग्य उत्पन्न करने के हेतु शरीर यौवन और धन की अस्थिरता का चित्रण किया गया है।

इस संसार के स्वभाव और चरित को देखकर कष्ट होता है क्योंकि जो स्नेह सम्बन्धी पूर्वाह्न में दिखलाई पड़ते हैं वे ही संध्या के समय दिखलाई नहीं पड़ते। अत: संसार की क्षणभंगुरता को जानकर आत्मोत्थान के कार्यों में विलम्ब नहीं करना चाहिए। कवि आत्मोत्थान के लिए प्रमादी व्यक्ति को सावधान करते हुए कवि कहता है कि जो एक क्षण को भी धर्म से रहित होकर व्यतीत करता है वह बहुत बड़ी भूल कर रहा है। इस प्रकार इस नीतिकाव्य में कवि ने वैराग्य की दृष्टि के लिए सांसारिक वस्तुओं की अस्थिरता का चित्रण किया है। काव्यकला की दृष्टि से यह ग्रन्थ अच्छा है।

389. व्यवहारभाष्य

यह भाष्य साधुओं के आचार से सम्बन्धित है। इसमें प्रारंभ में पीठिका है। पीठिका के प्रारम्भ में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य का स्वरूप बताया गया है। व्यवहार में दोषों की संभावना को दृष्टि में रखते हुए प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त आदि दृष्टियों से व्याख्यान किया गया है। बीच-बीच में अनेक प्रकार के दृष्टान्त भी दिये गये हें। पीठिका के बाद सूत्र-स्पर्षिक निर्युक्ति का व्याख्यान प्रारंभ होता है। प्रथम उद्देश्य की व्याख्या में भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों का निक्षेपपूर्वक विवेचन किया गया है। आधाकर्म आदि से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार के लिए विभिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। प्रायश्चित्त से मूलगुण एवं उत्तरगुण दोनों ही परिशुद्ध

होते हैं। इनकी परिशुद्धि से ही चारित्र की शुद्धि होती है। पिण्डविशुद्धि, समिति, भावना, तप, प्रतिमा और अभिग्रह उत्तरगुणान्तर्गत हैं। प्रायश्ति करने वाले पुरुष दो प्रकार के होते हैं निर्गत और वर्तमान। जो प्रायश्चित्त से अतिक्रान्त हैं वे निर्गत हैं। जो प्रायश्चित्त में विद्यमान हैं वे वर्तमान हैं।

390. व्यवहारसूत्र (ववहारो)

व्यवहारसूत्र को अर्धमागधी के आगम ग्रन्थों का नवनीत कहा गया है। श्रमण जीवन के सर्वांगीण अध्ययन एवं अनुशीलन की दृष्टि से यह ग्रन्थ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अन्य छेदसूत्रों की भाँति इस सूत्र में भी श्रमण जीवन की आचार संहिता का वर्णन हुआ है। इसके रचयिता भद्रबाहु माने गये हैं। बृहत्कल्प एवं व्यवहारसूत्र को एक दूसरे का पूरक माना गया है। इसके दसवें उद्देशक के तीसरे सूत्र में पाँच व्यवहारों के नाम आए हैं – **पंचविहे ववहारे पण्णत्तो तंजहा आगमे सुए आणा धारणा जीए।** इन्हीं पाँच व्यवहारों के आधार पर इस सूत्र का नामकरण किया गया है। इसमें दस उद्देशक हैं, जिनमें स्वाध्याय एवं अनध्याय काल की विवेचना, श्रमण-श्रमणियों के बीच आचार-व्यवहार सम्बन्धी तारतम्य, ऊनोदरी-तप, आचार्य एवं उपाध्याय के विहार के नियम, प्रतिकार के लिए आलोचना, प्रायश्चित्त, साध्वियों के निवास, अध्ययन, चर्या, वैयावृत्य आदि श्रमणाचार सम्बन्धी व्यवहारों तथा संघ व्यवस्था के नियमोपनियम आदि का विवेचन है।

391. व्याख्याप्रज्ञप्ति (वियाहपण्णत्ती)

अर्धमागधी अंग ग्रन्थों में व्याख्याप्रज्ञप्ति का पाँचवां स्थान है। प्रश्नोत्तर शैली में लिखे गये इस आगम ग्रन्थ में गौतम गणधर, अन्य शिष्य वर्ग एवं श्रावक-श्राविका आदि द्वारा जिज्ञासु भाव से पूछे गये प्रश्नों के उत्तर भगवान् महावीर ने अपने श्रीमुख से दिये हैं। इसी कारण सभी प्रकार के ज्ञान-विज्ञान से भरे हुए इस ग्रन्थ को विद्वानों द्वारा शास्त्रराज कहकर सम्बोधित किया गया है। नन्दी एवं समवायांग के अनुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति में 36000 प्रश्नों का व्याकरण है, किन्तु वर्तमान समय में इसमें 41 शतक ही हैं, जो 1925 उद्देशकों में विभक्त हैं। प्रश्नों के विवेचन क्रम में तत्त्वज्ञान, ज्ञान-मीमांसा, आचार, अन्य दार्शनिक मत,

विभिन्न ऐतिहासिक व्यक्ति एवं घटनाओं का विस्तार से विवेचन है। इस अपेक्षा से यह ग्रन्थ प्राचीन जैन तत्त्व ज्ञान का विश्वकोश भी कहा जाता है। अन्य आगमों की अपेक्षा इसकी विषय-वस्तु बहुत अधिक विशाल है। ज्ञान की कोई ऐसी धारा नहीं, जिसका प्रवाह इसमें न हुआ हो। जीव-अजीव, लोक-अलोक, स्वसमय-परसमय आदि समस्त विषय इसमें समाहित हैं। जनमानस में इस आगम के प्रति विशेष श्रद्धा होने के कारण इसका दूसरा नाम **भगवती** अधिक प्रचलित है। प्रश्नोत्तर शैली में निबद्ध इस ग्रन्थ में प्रायः प्रश्नों का उत्तर देने में अनेकांतवाद एवं स्याद्वाद का सहारा लिया गया है। प्रश्नों को कतिपय खंडों में विभक्त कर उत्तर दिया गया है। यथा -

गौतम - भन्ते, जीव सकम्प है या निष्कंप?

भगवान् महावीर - गौतम, जीव सकम्प भी हैं और निष्कम्प भी।

गौतम - इसका क्या कारण?

भगवान् महावीर - जीव दो प्रकार के हैं - संसारी और मुक्त।

मुक्त जीव के दो प्रकार हैं -अनन्तरसिद्ध और परम्परसिद्ध। परम्परसिद्ध तो निष्कम्प हैं और अनन्तरसिद्ध सकंप। संसारी जीवों के भी दो प्रकार हैं - शैलेशीप्रतिपन्नक और अशैलेशीप्रतिपन्नक।शैलेशीप्रतिपन्नक जीव निष्कम्प होते हैं और अशैलेशीप्रतिपन्नक सकम्प होते हैं। (25.4.81)

प्राकृत कथा ग्रन्थ की दृष्टि से जैन दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त अनेकान्तवाद, नयवाद, स्याद्वाद एवं सप्तभंगी का प्रारंभिक स्वरूप भी इस ग्रन्थ में सुरक्षित है।

392. वृतजातिसमुच्चय

इसके रचयिता विरहांक नामक कवि संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनका समय ई. सन् की छठी शताब्दी है। यह छंद-ग्रन्थ पद्यबद्ध है। छः नियमों (अध्यायों) में विभक्त इस ग्रन्थ में मात्रा छंद तथा वर्ण छंद पर विचार

प्राकृत के रूप में जाना गया। यज्ञीय संस्कृति को उन्होंने अस्वीकार किया। उदीच्या से पूर्व की जनभाषा प्राकृत भले भिन्न रही हो, किन्तु उसमें लोकभाषा के

किया गया है। प्रथम नियम में प्राकृत के समस्त छंदों के नाम गिनाये हैं, जिन्हें आगे के नियम में समझाया है। तीसरे नियम में 52 प्रकार के द्विपदी छंदों का विवेचन है। चौथे नियम में 26 प्रकार के गाथा छंद तथा पाँचवें नियम में 50 प्रकार के संस्कृत के वर्ण छंदों का निरूपण किया गया है। छठे नियम में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि छः प्रत्ययों का वर्णन है।

393. शांतिसूरि (पाइअटीका)

शान्तिसूरि एक प्रतिभासम्पन्न आचार्य थे। उनका जन्म राधनपुर के सन्निकट-उण उन्नतायु गाँव में हुआ था। गृहस्थाश्रम में इनका नाम भीम था। इन्होंने विजयसिंहसूरि जो थारापद गच्छीय थे उनके पास दीक्षा ग्रहण की। पाटण के राजा भमराव की सभा में ये कवि तथा वादिचक्रवर्ती के रूप में विख्यात थे। महाकवि धनपाल के अत्याग्रह पर महाराजा भोज की सभा में भी गये थे और वहाँ पर 84 वादियों को पराजित किया था जिससे राजा भोज ने उन्हें वादिवेताल की उपाधि से समलंकृत किया। उन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का संशोधन किया था, अन्त में विक्रम संवत् 10096 में 25 दिन के अनशन के पश्चात् समाधिपूर्वक गिरनार पर स्वर्गस्थ हुए।

शान्तिसूरि ने तिलकमंजरी पर एक टिप्पण लिखा था। जीव-विचार प्रकरण, चैत्य वन्दन महाभाष्य और उत्तराध्ययनवृत्ति इनकी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ मानी जाती हैं। उत्तराध्ययन टीका नाम शिष्यहितावृत्ति माना जाता है। इसका अपरनाम पाइअटीका भी है क्योंकि इस टीका में प्राकृत की कथाओं का उद्धरणों की अत्यधिक बहुलता है। टीका मूल सूत्र व निर्युक्ति इन दोनों पर है। टीका भाषा व शैली की दृष्टि से मधुर व सरस है। विषय की पुष्टि के लिए भाष्यगाथाएँ भी प्रयुक्त हुई हैं। पाठान्तर भी दिये गये हैं।

394. शान्तिसूरि वादिवेताल

वादिवेताल शान्तिसूरि का जन्म राधनपुर के पास उण-उन्नतायु नामक गाँव में हुआ था। इनका बाल्यावस्था का नाम भीम था। इन्होंने थारपपद्रगच्छीय विजयसिंहसूरि से दीक्षा ग्रहण की थी। पाटन के भीमराज की सभा में ये कवीन्द्र

तथा वादिचक्रवर्ती के रूप में प्रसिद्ध थे। कवि धनपाल के अनुरोध पर शान्तिसूरि मालव में भी पहुँचे थे तथा भोजराज की सभा के 84 वादियों को पराजित कर 84 लाख रुपये प्राप्त किये थे। अपनी सभा के पंडितों के लिए शान्तिसूरि को वेताल के समान समझ राजा भोज ने उन्हें वादिवेताल की पदवी प्रदान की थी। इन्होंने महाकवि धनपाल की तिलकमंजरी का भी संशोधन किया था। शान्तिसूरि अपने अन्तिम दिनों में गिरनार में रहे एवं वहाँ 25 दिन का अनशन अर्थात् संथारा क़िया तथा वि.सं. 1096 की ज्येष्ठ शुक्ला नवमीं को स्वर्गवासी हुए। वादिवेताल शान्तिसूरि ने उत्तराध्ययन टीका के अतिरिक्त कवि धनपाल की तिलकमंजरी पर भी एक टिप्पण लिखा है। जीवविचारप्रकरण और चैत्यवंदन-महाभाष्य भी इन्हीं की कृतियाँ मानी जाती हैं। वादिवेताल शान्तिसूरिकृत उत्तराध्ययन-टीका शिष्यहितावृत्ति कहलाती है। यह पाइअ-टीका के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि इसमें प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की प्रचुरता है। टीका, भाषा शैली आदि सभी दृष्टियों से सफल है। इसमें मूल-सूत्र एवं निर्युक्ति का व्याख्यान है। बीच-बीच में यत्र-तत्र भाष्य गाथाएँ भी उद्धृत हैं। अनेक स्थानों पर पाठान्तर भी दिये गये हैं।

395. शास्त्री नेमिचन्द (डॉ.)

डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री संस्कृत, प्राकृत एवं ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपका जन्म धौलपुर जिले आगरा के बसई धियारम गांव में 1922 ई. में हुआ था। आपके पिता का इनके बचपन में ही निधन हो गया था। माता जी ने इनको आगे बढ़ाया। आपकी शिक्षा राजाखेड़ा और बनारस में हुई। आपने संस्कृत, हिन्दी और प्राकृत एवं जैनशास्त्र में एम. ए. किया था तथा 1962 में आपने पीएच.डी., 1967 में डी. लिट् की उपाधियाँ प्राप्त की थीं।

डॉ. शास्त्री 1940 ई. से आरा (बिहार) में आ गये थे। वहाँ पर आप एच.डी. जैन कॉलेज में संस्कृत-प्राकृत विभाग के प्राध्यापक एवं अध्यक्ष के रूप में कार्यरत रहे। 10 जनवरी 1974 ई. में असमय ही आपका निधन हो गया लेकिन इतने अल्पकाल में ही शास्त्री जी ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखन और सम्पादन कार्य किया है। आपकी 30 पुस्तकें और सैकड़ों शोधलेख प्रकाशित हैं। उनमें प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संस्कृत काव्य के

विकास में जैन कवियों का योगदान, हरिभद्र के प्राकृत कथासाहित्य का परिशीलन, तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा (चार भाग) आदि बहुचर्चित पुस्तकें हैं। 'भारतीय ज्योतिष' नामक आपकी पुस्तक के दर्जनों संस्करण निकल चुके हैं। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने प्राकृत भाषा के शिक्षण और प्रचार-प्रसार के लिए बहुत काम किया है। बिहार में सैकड़ों प्राकृत के विद्यार्थी आपने तैयार किये हैं। अभिनव प्राकृत व्याकरण, प्राकृत प्रबोध, हेमशब्दानुशासन- एक अध्ययन आदि आपकी लोकप्रिय प्राकृत पुस्तकें रही हैं। आप अनेक पुरस्कारों से सम्मानित हुए हैं। जैन समाज के विकास में डॉ. शास्त्री जी का अपूर्ण योगदान रहा है। देवकुमार ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, आरा के आप निदेशक रहे हैं।

396. शास्त्री फूलचन्द (पण्डित)

पं. फूलचन्द सिद्धान्तशास्त्री जैन आगमों एवं सिद्धान्त के प्रकाण्ड पण्डित थे। प्राकृत ग्रन्थों के सम्पादन-अनुवाद में आपने महनीय सेवा की है। पं. जी का जन्म 11 अप्रेल सन् 1901 में उत्तरप्रदेश के सिलावन गांव में हुआ था। आपने इन्दौर और मुरैना में शिक्षा प्राप्त की। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री और पं. जगन्मोहनलाल शास्त्री के साथ आपकी साहित्य साधना की अटूट मैत्री थी। आप तीनों को जैनसिद्धान्त के रत्नत्रयी पण्डित के नाम से जाना जाता है। आपने सन् 1937से 1940 तक डॉ. हीरालाल जैन के साथ अमरावती में रहकर षट्खण्डागम के सम्पादन-कार्य में सहयोग किया। आपने प्राकृत के कषायपाहुड ग्रन्थ का टीका के साथ 1-16 भागों का सम्पादन एवं अनुवाद कार्य किया है। स्वतन्त्ररूप से भी पण्डित जी के कई ग्रन्थ प्रकाशित हैं। आपको 'सिद्धान्ताचार्य' सिद्धान्तरत्न जैसी उपाधि प्राप्त हुई। 1990 में राष्ट्रीय प्राकृत सम्मेलन बैंगलोर में पण्डित जी को प्राकृतज्ञान भारती अवार्ड भी प्रदान किया गया। 31 अगस्त 1991 को पण्डित जी का देहावसान हुआ। जैनधर्म एवं साहित्य में आपका अपूर्व योगदान रहा है।

397. शास्त्री बालचन्द (पण्डित)

पं. बालचन्द शास्त्री जैन सिद्धान्त और प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। आपका जन्म 1905 ई. में ललितपुर जिले के सोरई ग्राम में हुआ था। आपकी शिक्षा बनारस के स्याद्वाद महाविद्यालय में सम्पन्न हुई। पं. शास्त्री जी ने प्राकृत के

प्राचीन ग्रन्थ षट्खण्डागम धवलाटीका के भाग 6 से 16 तक के सम्पादन-अनुवाद के कार्य में सहयोग किया। आपके द्वारा सम्पादित की हुई प्रसिद्ध पुस्तकें हैं- तिलोयपण्णत्ति भाग (1, 2), जंबूदीवपण्णत्ति आत्मानुशासन, कथाकोश, ज्ञानार्णव आदि। जैन लक्षणावली भाग (1, 2, 3) प्रसिद्ध जैनसिद्धान्त का कोशग्रन्थ है। आपने श्रावकप्रज्ञप्ति, ध्यानशतक, ध्यानस्तव और षटखण्डागम-परिशीलन पुस्तकें भी विद्वत् समाज को दी हैं।

398. शिलालेखीय प्राकृत

शिलालेखी प्राकृत के प्राचीनतम रूप अशोक के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। ये शिलालेख ई.पू. 300 के लगभग देश के विभिन्न भागों में अशोक ने खुदवाये थे। इससे यह स्पष्ट है जन समुदाय में प्राकृत भाषा बहु प्रचलित थी और राजकाज में भी उसका प्रयोग होता था। अशोक के शिलालेख प्राकृत भाषा की दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण हैं ही, वे तत्कालीन संस्कृति के जीते जागते प्रमाण भी हैं। अशोक ने छोटे-छोटे वाक्यों में कई जीवन-मूल्य जनता तक पहुँचाए हैं। उसका संदेश है-

प्राणानां साधु अनारंभो, अपव्ययता अपभंडता साधु। - (तृतीय शिलालेख)

-प्राणियों के लिए की गई अहिंसा अच्छी है, थोड़ा खर्च और थोड़ा संग्रह अच्छा है।

सवपासंडा बहुसुता च असु, कलाणागमा च असु - (द्वादस शिलालेख)

(सभी धार्मिक सम्प्रदाय एक दूसरे को सुनने वाले हों और कल्याण का कार्य करने वाले हों)

सम्राट अशोक के बाद ईसा की चौथी शताब्दी तक प्राकृत में शिलालेख लिखे जाते रहे हैं, जिनकी संख्या लगभग दो हजार है। खारवेल का हाथीगुंफा शिलालेख उदयगिरि एवं खण्डगिरि के शिलालेख तथा आन्ध्र राजाओं के प्राकृत शिलालेख साहित्यिक और इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। प्राकृत भाषा के कई रूप इनमें उपलब्ध हैं। खारवेल के शिलालेख में उपलब्ध **णमो अरहंताणं णमो सवसिधाणं** पंक्ति में प्राकृत के नमस्कार मन्त्र का प्राचीन रूप प्राप्त होता है। सरलीकरण की प्रवृत्ति का भी ज्ञान होता है। भारतवर्ष (**भरधवस**) शब्द का

सर्वप्रथम उल्लेख इसी शिलालेख की दशवीं पंक्ति में मिलता है। इस तरह प्राकृत के शिलालेख भारत के सांस्कृतिक इतिहास के लिए महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रदान करते हैं।

399. शिवार्य आचार्य

शिवकोटि अथवा शिवार्य प्राचीन दिगम्बर आचार्य थे। जिन्होंने भगवती आराधना नामक शौरसेनी प्राकृत ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ का नाम आराधना अथवा मूलाराधना भी प्राप्त होता है। शिवार्य को अनेक दिगम्बर आचार्यों ने आदरपूर्वक स्मरण किया है। इससे ज्ञात होता है कि शिवार्य और उनका ग्रन्थ दोनों की अच्छी प्रसिद्धि थी। श्री पंडित नाथूराम प्रेमी शिवार्य को यापनीय संघ का आचार्य स्वीकार करते हैं और उनके गुरु का नाम सर्वगुप्त मानते हैं। विद्वानों ने शिवार्य का समय ई. सन् की दूसरी-तीसरी शताब्दी माना है। इनके ग्रन्थ भगवती आराधना पर 7वीं-8वीं शताब्दी में अपराजितसूरी द्वारा टीका लिखी जा चुकी थी।

भगवती आराधना ग्रन्थ के अन्त में इसके रचयिता ने अपना परिचय दिया है। उससे इतना ही ज्ञात होता है कि आर्य जिननन्दि गणि, सर्वगुप्त गणि और आचार्य मित्रनन्दि के पादमूल में सम्यक् रूप से श्रुत और अर्थ को जान कर हस्तपात्र में आहार करने वाले शिवार्य ने पूर्वाचार्यकृत रचना को आधार बनाकर यह आराधना रची है। यथा-

अज्जजिणणंदिगणि- सव्वगुत्तगणि-अज्जमित्तणंदीणं।
अवगामिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ 2159 ॥
पुव्वायरियणिबद्धा उवजीवित्ता इमा ससत्तीए।
आराधना सिवज्जेणपाणिदलओइणा रइदा ॥ 2160 ॥

गाथा से यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थकार का नाम शिवार्य था और जिननन्दि, सर्वगुप्त और मित्रनन्दि उनके गुरु थे। उनके पादमूल में हीं उन्होंने श्रुत का अध्ययन किया था। मुनि आचार पर शिवार्य की भगवती आराधना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है।

शिवार्य पाणितल भोजी होने के कारण दिगम्बर परम्परा के अनुयायी हैं। आर्य शब्द एक विशेषण है। अतः पं. नाथूराम प्रेमीजी के अनुमान के अनुसार

इनका नाम शिवनन्दि, शिवगुप्त या शिवकोटी होना चाहिये। पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री ने कहा यह ग्रन्थ शिवार्य की अपनी शक्ति से रचित मौलिक कृति है। तभी तो वह आगे की गाथा में अपनी छद्मस्थता के कारण आगमविरुद्ध यदि कोई लिखा गया हो तो उसको शुद्ध करने की प्रार्थना करते है। अतः उन्होंने अपनी शक्ति से एक लुप्त कृति को पुनजीर्वित किया है, यह उनका अभिप्राय हमें प्रतीत होता है। शिवार्य में शिव नाम और आर्य विशेष हो सकता हैं, जैसे आर्य जिननन्दि गणि और आर्य मित्रनन्दि गणि में है। अत: यह कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ के रचयिता आर्य शिव थे –

धदुमत्थदाय एत्थ दु जं बद्धं होज्ज पवयणविरुद्धं।
सोधेंतु सुगीत्था पवयणवच्छलदाए दु ॥ 216 ॥ –भगवती आराधना।

शिवार्य विनीत, सहिष्णु और पूर्वाचार्यों के भक्त हैं। इन्होंने गुरुओं से सूत्र और उसके अर्थ की सम्यक् जानकारी प्राप्त की है। जिनसेन आचार्य ने आदि पुराण के प्रारम्भ में शिवकोटि मुनि को नमस्कार किया है। यथा–

शीतीभूतं जगतस्य वाचाराध्य चतुष्टयम्।
मोक्षमार्ग स पायात्रः शिवकोटि मुनिश्वरः ॥ –आदिपुराण

अर्थ– जिनके वचनों से प्रकट हुए चारों आराधना रूप मोक्ष मार्ग की आराधना कर जगत् के जीव सुखी होते हैं वे शिवकोटि मुनीश्वर हमारी रक्षा करें।

जिस रूप में जिनसेन आचार्य ने शिवकोटि मुनीश्वर का स्मरण किया है उससे यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि शिवकोटि भगवती आराधना के कर्ता हैं। अतएव दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप रूप चार प्रकार की आराधनाओं का विस्तृत वर्णन करने वाले शिवार्य का ही शिवकोटि नाम होना चाहिये।

भगवती आराधना या मूलाराधना के कर्ता शिवार्य ने अपने समय का निर्देश कहीं नहीं किया है। परवर्ती आचार्य ने जिनसेन आचार्य ने ही सर्वप्रथम उनका उल्लेख किया है। जिनसेन का समय 9वीं शताब्दी होने से शिवार्य के समय की सबसे ऊपरी सीमा नवीं शताब्दी मानी जा सकती है। शकटायन के निर्देशानुसार सर्वगुप्त उनके गुरु है। शकटायन का काल भी शिवार्य के समय की निचली सीमा

हो सकती है। ग्रन्थ का अन्तरंग अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि आराधना के 40वें विजहना नामक अधिकार में आराधक मुनियों के मृतक संस्कार वर्णित हैं, उनके ग्रन्थ की प्राचीनता पर प्रकाश पड़ता है। इसके अनुसार उस समय मुनि के मृतक शरीर को वन में किसी अच्छी जगह पर यों ही छोड़ दिया जाता था और पशु पक्षी उसे समाप्त कर देते थे।

भगवती आराधना ग्रन्थ पर अपराजितसूरि द्वारा विचरित 'विजयोदया' नामक संस्कृत टीका उपलब्ध है। इस टीका से भी इस ग्रन्थ की प्राचीनता प्रकट होती है। अन्य टीका-टिप्पणियों से यह अवगत होता है कि इस ग्रन्थ पर प्राकृत टीकाएँ भी उपलब्ध थीं। प्राकृत ग्रन्थों की प्राकृत भाषा में टीका लिखने की परम्परा पाँचवी एवं छठी शताब्दी तक ही मिलती है। अतः भगवती आराधना का समय प्राकृत टीका लिखे जाने के पूर्व 5वीं शताब्दी के पहले होना चाहिये।

आचार्य शिवार्य आराधना के अतिरिक्त तत्कालीन स्वसमय और परसमय के भी ज्ञाता थे। उन्होंने अपने विषय का उपस्थितिकरण काव्यशैली में किया है। वे आगम सिद्धान्त के साथ नीति, सदाचार एवं प्रचलित परम्पराओं से सुपरिचित थे। आचार्य ने जीवन के अनेक चित्रों के रंग, नाना अनुभूतियों के माध्यम से प्रस्तुत किये हैं।

भगवती आराधना के रचयिता आचार्य शिवार्य दिगम्बर जैन परम्परा के पोषक आचार्य हैं। उन्होंने इस ग्रन्थ में अनेक स्थानों पर अचेल तत्त्व की प्रतिष्ठा की है। अतः शिवार्य श्रमण परम्परा में साधु के नियमों का कठोरता से पालन करने के पक्ष में रहे हैं। उनके ग्रन्थ से यह स्पष्ट होता है कि शिवार्य श्रमण जीवन का सार अन्तिम समय में समाधिमरण को मानने वाले हैं। उनकी दृष्टि से चारित्र का पालन जीवन का प्रमुख लक्ष्य रहा है इसलिये उन्होंने आराधना के चार भेदों में चारित्र आराधना को सर्वश्रेष्ठ माना है। उस में सभी आराधनाओं को सम्मिलित माना है।

शिवार्य जैन दर्शन के बहुश्रुत विद्वान थे। उनके एक मात्र ग्रन्थ भगवती आराधना का प्रमुख विषय यद्यपि समाधिमरण है किन्तु प्रसंगवश उन्होंने जैन

दर्शन के प्रायः सभी सिद्धान्तों का विवेचन अपने इस ग्रन्थ में कर दिया है। ग्रन्थ के विषय के प्रस्तुतिकरण के अनुसार शिवार्य एकतपस्वी साधु के रूप में रहे होंगे। उन्होंने समाधिमरण की पूरी प्रक्रिया का प्रत्यक्ष प्रयोग भी कराया होगा। जैन दर्शन के अध्येता के साथ–साथ शिवार्य प्राकृत भाषा के निष्णात विद्वान थे। उन्होंने इस ग्रन्थ में शौरसैनी प्राकृत के प्राचीन स्वरूप को सुरक्षित रखा है। ग्रन्थ की अनेक गाथाओं से यह भी स्पष्ट है कि शिवार्य कवि हृदय थे और अच्छे कथाकार भी थे। उन्होंने अपने इस ग्रन्थ में अनेक काव्यात्मक दृष्टान्तों और कथाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार शिवार्य अपने समय की संस्कृति और समाज के भी पूर्ण जानकार थे, जिसका प्रमाण उनके इस ग्रन्थ में अनेक जगह उपलब्ध होता है।

400. शीलांकाचार्य (अपरनाम तत्वाचार्य)

वी.नि. की 14वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध और पन्द्रहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच की अवधि के आचार्य शीलांक का नाम देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल के आगम मर्मज्ञ आचार्यों में शीर्ष स्थान पर आता है। वे तत्वाचार्य नाम से भी विख्यात रहे। प्रभावक चरित्र में उनका एक और नाम कोटयाचार्य भी दिया है। वे संस्कृत और प्राकृत दोनों ही भाषाओं के उच्च कोटि के विशिष्ट विद्वान थे। अपने समय में शीलांकाचार्य आगमों के अधिकारी प्रमाणिक विद्वान माने जाते थे। गूढ़ार्थों एवं अनेकार्थों से युक्त दुरूह आगमों को साधक एवं जिज्ञासु आसानी से समझकर हृदयंगम कर सकें इसके लिए इन्होंने टीकाएँ लिखी हैं। शीलांकाचार्य द्वारा रचित उन 11 अंगशास्त्रों की टीकाओं में से वर्तमान में केवल आचारांग और सूत्रकृतांग, ये दो टीकाएँ ही उपलब्ध होती हैं।

401. शीलांक या सीलंक,

'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' चरित ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी पहचान तीन नामों से दी है – 1. शीलांक या सीलंक, 2. विमलमति और 3. सीलारिय। ग्रन्थ के अन्त में पाँच गाथाओं की एक प्रशस्ति दी गई है उससे ज्ञात होता है कि ये निर्वृत्ति कुल के आचार्य मानदेवसूरि के शिष्य थे। लगता है आचार्य पद प्राप्त करने के पूर्व और उसके बाद ग्रन्थकार का नाम क्रमशः विमलमति और शीलाचार्य रहा

होगा। 'शीलांक' तो उपनाम जैसा प्रतीत होता है जो संभवतः उनकी अन्य रचनाओं में भी प्रयुक्त हुआ हो। बृहट्टिप्पनिका में 'चउप्पन्नमहापुरिसचरियं' का रचना-समय वि. सं. 925 दिया है। ये शीलाचार्य अपने समकालीन शीलाचार्य अपरनाम तत्त्वादित्य से भिन्न हैं। तत्त्वादित्य ने आचारांग तथा सूत्रकृतांग पर वृत्ति लिखी थी।

402. शीलाचार्य (विमलमति)

वी. नि. की 14वीं शताब्दी में प्राकृत भाषा के अनमोल ग्रन्थ चउवन्नमहापुरिसचरियं के रचनाकार आचार्य शीलांक अपरनाम विमलमति तथा शीलाचार्य प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् एवं महान जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं। शीलांकाचार्य नाम के तीन विद्वान् आचार्य भिन्न-भिन्न समय में हुए हैं। उनमें से एक शीलांकाचार्य का महान् कोशकार के रूप में जैन वाङ्मय में उल्लेख उपलब्ध होता है पर वह कोश वर्तमान में कहीं उपलब्ध नहीं है। दूसरे शीलांकाचार्य वे हैं जिन्होंने वी. नि. सं.1403 में आचारांग-टीका की रचना की। उन्हीं शीलांकाचार्य ने सूत्रकृतांग-टीका और जीवसमासवृत्ति की रचनाएँ भी कीं। इसी नाम के तीसरे विद्वान् आचार्य हैं- शीलाचार्य अथवा आचार्य विमलमति। उन्होंने वि. सं. 925 (वी.नि. 1395) में चउवन्नमहापुरिसचरियं नामक उच्च कोटि के चरित्र ग्रन्थ की प्राकृत भाषा में रचना की।

403. शुभशीलगणि

इस महत्त्वपूर्ण कथासंग्रह कथाकोश (भरतेश्वरबाहुबलिवृत्ति) के रचयिता शुभशीलगणि हैं। इनके गुरु का नाम मुनिसुन्दरगणि था। विक्रम की 15वीं शती में हुए युगप्रभावक आचार्य सोमसुन्दर का विशाल शिष्य-परिवार था जो विद्वान् तथा साहित्यसर्जक था। सोमसुन्दर के पट्टशिष्य सहस्त्रावधानी मुनिसुन्दर थे। उनके अन्य गुरुभाइयों ने अनेक ग्रन्थ लिखे थे। शुभशीलगणि इसी परिवार के साहित्यसर्जक विद्वान् थे। शुभशीलगणि ने इस कथाकोश की रचना वि. सं. 1509 में की थी। ग्रन्थान्त में दी गई प्रशस्ति में रचना-संवत् दिया गया है। इनकी अनेक रचनाएं उपलब्ध हैं। यथा - विक्रमादित्यचरित्र (वि. सं. 1499), शत्रुंजयकल्प कथाकोश (वि. सं. 1518), पंचशतीप्रबंध (वि. सं. 1521), भोजप्रबंध, प्रभावककथा,

शालिवाहनचरित्र, पुण्यधननृपकथा, पुण्यसारकथा, शुकराजकथा, जावड़कथा, भक्तामरस्तोत्रमाहात्म्य, पंचवर्गसंग्रहनाममाला, उणादिनाममाला और अष्टकर्मविपाक।

404. शौरसेनी प्राकृत भाषा

कुन्दकुन्द आदि आचार्यों के ग्रन्थों में प्रयुक्त शौरसेनी प्राकृत के वैशिष्ट्य को निर्धारण करने के लिए स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करना आवश्यक हो जाता है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री ने अवश्य सिद्धान्त–ग्रन्थों की शौरसेनी प्राकृत के नियमों को सम्मिलित करते हुए कुछ विस्तार से शौरसेनी के नियम दिये हैं। डॉ ए. एम. घाटगे ने अपने एक निबन्ध में शौरसेनी नियमों की विस्तार से चर्चा की है। षट्खण्डागम एवं कषायपाहुड आदि ग्रन्थों के सम्पादकों ने भी परम्परागत रूप से ही शौरसेनी के नियमों की संक्षेप में चर्चा की है। पं. हीरालाल शास्त्री ने वसुनन्दिश्रावकाचार के परिशिष्ट में शौरसेनी को स्पष्ट करने का अच्छा प्रयत्न किया है। पं. बालचन्द्र शास्त्री ने " षट्खण्डागमः " एक परिशीलन " में ग्रन्थ की भाषात्मक सामग्री प्रस्तुत की है, जो उपयोगी है। शौरसेनी प्राकृत, महाराष्ट्री, नाटकीय शौरसेनी आदि प्राकृतों से प्राचीन एवं विस्तृत भाषा है।

शौरसेनी प्राकृत का नामकरण उसके प्रचार क्षेत्र के नाम पर हुआ है। वज्रमण्डल, मथुरा के आस पास का प्रदेश शूरसेन कहलाता है। इस शूरसेन क्षेत्र में जिस जनभाषा का प्रचार अधिक था वह भाषा शौरसेनी कहलायी । काशी उस समय प्रमुख नगर था। उसके पूर्व में मगध में प्रचलित भाषा को मागधी और काशी के पश्चिम में प्रचलित भाषा को शौरसेनी कहा गया। पहले यही दो प्राकृत भाषाएँ प्रमुख थीं। वररूचि ने प्राकृत–प्रकाश के 12 वें परिच्छेद में जो भी शौरसेनी प्राकृत की विशेषताएँ गिनायी हैं, वे शौरसेनी के नियम निर्धारण के लिए पर्याप्त नहीं कहीं जा सकती हैं, क्योंकि वररुचि ने जो नियम दिये हैं, वे प्रायः संस्कृत नाटकों की शौरसेनी के वैशिष्ट्य का बोध कराते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने वररुचि के द्वारा निर्धारित शौरसेनी नियमों का प्रायः प्रयोग किया गया है।

शौरसेनी प्राकृत की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

1– त > द : प्रायः दो स्वरों का मध्यवर्ती अनादि असंयुक्त त द में बदल जाता है। जैसे– लता >लदा एवं चतुर्गति > चदुग्गदि ।
2– थ ध : जैसे – तथा > तधा, कथम् > कधं एवं पथ्थत्वं > पुधत्तं । विकल्प से थ का ह भी होता है। यथा– नाथः > णाहो एवं कथति् > कहेदि आदि ।
3–" भू " –(होना) धातु को विकल्प से " भ " होता है। यथा– भवति > होई, भोदि एवं भवेदि।
4– "कृ" करना धातु के प्रमुख रूप ये हैं : करोति, कुव्वदि, करेदि, कुणेदि कुणइ, करेइ आदि।
5– मध्य एवं अन्य प का व हो जाता है। यथा– दीपः > दीवो, तपः > तवो
6–य का ज में परिवर्तन होता है। यथा– यदि >जदि, संयम > संजम, युद्ध >जुद्धो आदि ।
7–पंचमी के एकवचन में आदो और आदु प्रत्यय होते हैं। यथा– देवादो, देवादु एवं भावादो, उदयादु आदि।
8–कुछ धात्वादेश भी प्रमुख हैं। जैसे दृश्– पेक्ख, पेक्खदि, तिष्ठ्– चिट्ठ, चिठ्ट्दि आदि।
9– अर्धमागधी की तरह क का ग भी होता है। यथा– स्वकम् > सगं, क्षपकः > खबगे आदि
10–अर्धमागधी की तरह सप्तमि विभक्ति में एकवचन में म्मि, म्हि प्रत्यय होता है। यथा– साहुम्मि, साहुम्हि आदि ।
11–सम्बन्ध कृदन्त में दूण एवं ऊण दोनों प्रत्ययों का प्रयोग मिलता है। यथा– भणिदूण, भणिऊण आदि।
12– " य " के स्थान पर य एवं ज्ज दोनों का प्रयोग होता है। यथा– कार्यम् > कय्यं कज्जं आदि

इन सामान्य विशेषताओं के अतिरिक्त शौरसेनी प्राकृत में बहुत से ऐसे प्रयोग प्राप्त हैं जो उसे अन्य प्राकृतों से पृथक करते हैं। शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख नियमों को उदाहरण सहित डॉ. उदयचन्द जैन द्वारा **भौरसेनी प्राकृत व्याकरण** में प्रस्तुत किया गया है। अन्य विद्वानों ने इस विषय पर पुस्तकें लिखी हैं। शौरसेनी को मूल प्राकृत मानने की परम्परा श्रमण संस्कृति में विद्यमान है । सूरसेन पदश और सूरसेनों की भाषा होने से यह शौरसेनी बाद में विकसित अन्य प्राकृतों से इतिहास की दृश्ष्टि से प्राचीन है ।

405. शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण

प्रो. प्रेम सुमन जैन द्वारा लिखित यह पुस्तक – 'शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण' 2001 ई. में भारतीय विद्या प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित है। इस पुस्तक में भारोपीय परिवार की भाषाओं के साथ शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध, अन्य प्राकृतों के साथ इसकी तुलना, शौरसेनी प्राकृत का आधारभूत साहित्य, शौरसेनी प्राकृत का व्याकरणात्मक स्वरूप एवं रचनानुवाद आदि बिन्दुओं पर सप्रमाण एवं सोदाहरण विवचेन प्रस्तुत किया गया है। आचार्य विद्यानन्द जी ने इस पुस्तक के आमुख में कहा है कि इस पुस्तक में शोध, सिद्धान्त-ज्ञान और रचना अभ्यास का अनूठा संगम है। श्रमणों और श्रमणाओं को शौरसेनी प्राकृत भाषा सीखना चाहिए। दिगम्बर जैन आगम ग्रन्थों की मूलभाषा शौरसेनी प्राकृत है।

406. शौरसेनी प्राकृत और उसका साहित्य

प्रो. डॉ. राजाराम जैन द्वारा लिखित यह पुस्तक शौरसेनी प्राकृत और उसका इतिहास साहित्य श्री कुन्दकुन्द भातरी ट्रस्ट, नई दिल्ली से 1990 ई. में प्रकाशित है। इस पुस्तक में डॉ. जैन ने शौरसेनी प्राकृत भाषा के उद्भव एवं विकास पर महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रस्तुत की है। शौरसेनी प्राकृत साहित्य के अवदान को भी संक्षेप में रेखांकित किया गया है। श्रीलालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति व्याख्यानमाला के अन्तर्गत प्रदत्त दो व्याख्यानों को पुस्तकरूप में यहाँ प्रस्तुत किया गया है।

407. शौरसेनी और अन्य प्राकृतें

प्राकृत भाषा जनभाषा थी। अत: उसमें कुछ समय के उपरान्त जन बोलियों की विविधता के कारण नये-नये परिवर्तन आते रहे हैं। किन्तु फिर भी कुछ विशेषताएँ समान बनी रही हैं। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि महावीर के समय से सम्राट कनिष्क के समय तक जिस प्राकृत भाषा का प्रयोग हुआ वह प्राय: एक-सी थी। उसमें प्राचीन प्रयोग की बहुलता थी। अतः ई.पू. छठी शताब्दी से ईसा की द्वितीय शताब्दी तक प्राकृत में रचे गये साहित्य की भाषा को आदि युग अथवा प्रथम युग की प्राकृत कहा जा सकता है। इस प्राकृत के प्रमुख पाँच रूप प्राप्त होते हैं-

(1) आर्ष प्राकृत (2) शिलालेखी प्राकृत (3) निया प्राकृत

(4) प्राकृत धम्मपद की भाषा और

(5) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत।

प्रथम युग की इस प्राकृत का सबसे प्राचीन लिखित रूप शिलालेखी प्राकृत में मिलता है। किन्तु शिलालेख लिखे जाने के पूर्व ही बुद्ध महावीर ने अपने उपदेशों में जनभाषा प्राकृत का प्रयोग प्रारम्भ कर दिया, जिसका आगम साहित्य के रूप में संकलन एवं लेखन परम्परा द्वारा बाद में किया गया है। आगमों की इस प्राकृत को पालि, शौरसेनी, अर्धमागधी नाम से जाना गया है। अतः रचना की दृष्टि से पालि, शौरसेनी एवं अर्धमागधी आगमिक प्राकृत को शिलालेखी प्राकृत से प्राचीन स्वीकार किया जा सकता है।

408. शृंगारप्रकाश

शृंगारप्रकाश भी भोजराज द्वारा रचित अलंकारशास्त्र का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में 36 प्रकाश हैं, जिसमें से 26वाँ प्रकाश लुप्त है। कवि भोजराज ने शृंगार रस को सभी रसों में प्रधान रस स्वीकार किया है। ग्रन्थ में शृंगार रस प्रधान प्राकृत पद्यों का विशेष उल्लेख किया गया है।

409. श्रृंगारमंजरी-सिंगारमंजरी (सट्टक)

शृंगारमंजरी के कर्त्ता कवि विश्वेश्वर पंडित का समय लगभग 17वीं-18वीं शताब्दी का माना जाता है। शृंगारमंजरी सट्टक का साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चार जवनिकाओं में राजा राजशेखर एवं नायिका शृंगारमंजरी की प्रणय कथा वर्णित है। इसकी कथावस्तु अत्यंत रोचक है। इसका आधार यद्यपि राजशेखर की कर्पूरमंजरी है, किन्तु कथानक गठन, घटना-विन्यास एवं वर्णनों में मौलिकता है। राजा द्वारा स्वप्न में शृंगारमंजरी को देखना, दासी द्वारा चित्र बनवाना, नायिका द्वारा आत्महत्या का प्रयास आदि घटनाएँ मौलिक हैं। वसंत, संध्या, कुंज, रात्रि, चन्द्रोदय आदि के वर्णन विशद एवं काव्यात्मक सौन्दर्य से अभिभूत हैं। शिल्प पुरातन होते हुए भी चरित्र-चित्रण एवं संवाद की दृष्टि से यह एक उत्तम कोटि

410. श्रावकप्रज्ञप्ति (सावयपण्णत्ति)

यह रचना उमास्वामि की कही जाती है। कोई इसे हरिभद्रकृत मानते हैं इनमें 401 गाथाओं में श्रावकधर्म का विवेचन है।

411. श्रावकधर्म विधि (सावयधम्मविहि)

यह रचना हरिभद्रसूरि की है। मान्देवसूरि ने इस पर विवृत्ति लिखी है। 120 गाथाओं में सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का वर्णन करते हुए यहाँ श्रावकों की विधि का प्रतिपादन किया है।

412. श्रीचन्द्रसूरि

प्राकृत ग्रन्थ **सनत्कुमारचरित** के रचयिता श्रीचन्द्रसूरि हैं जो चन्द्रगच्छ में सर्वदेवसूरि के सन्तानीय जयसिंहसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि के शिष्य थे। प्रणेता ने अपने गुरुभाई के रूप में यशोभद्रसूरि, यशोदेवसूरि और जिनेश्वरसूरि का नाम दिया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने हरिभद्रसूरि, सिद्धमहाकवि अभयदेवसूरि, धनपाल, देवचन्द्रसूरि, शान्तिसूरि, देवभद्रसूरि और मलधारी हेमचन्द्रसूरि की कृतियों का स्मरण कर उनकी गुणस्तुति की है। श्री चन्द्रसूरि ने उक्त ग्रन्थ की रचना अणहिलपुर (पाटन) में कर्पूर पट्टाधिपपुत्र सोमेश्वर के घर के ऊपर भाग में स्थित वसति में रहकर वहाँ के कुटुम्ब वालों की प्रार्थना पर की थी। इसकी रचना सं. 1214 आश्विनवदी 7 बुधवार को हुई थी। इसकी प्रथम प्रति हेमचन्द्रगणि ने लिखी थी।

413. षट्खण्डागम

शौरसेनी आगम ग्रन्थ षट्खण्डागम के छः खण्ड हैं। प्रथम खण्ड जीवट्ठाणं में आठ अनुयोगद्वार तथा नौ चूलिकाएँ हैं, जिसमें गुणस्थान एवं मार्गणाओं का आश्रय लेकर जीव की नाना अवस्थाओं का निरूपण हुआ है। यह भी चिंतन किया गया है कि कौन जीव किस प्रकार से सम्यग्दर्शन एवं सम्यक्चारित्र को प्राप्त कर सकता है। द्वितीय खण्ड खुद्दाबंध के 11 अधिकारों में केवल मार्गणास्थानों के अनुसार कर्मबंध करने वाले जीव का वर्णन है। तृतीय खण्ड बंधसामित्तविचय में गुणस्थान एवं मार्गणास्थान के आधार पर कर्मबंध करने वाले जीव का निरूपण किया गया है। किन कर्मप्रकृतियों के बंध में कौन जीव स्वामी है और कौन जीव

स्वामी नहीं है, इस पर भी चिंतन किया गया है। चतुर्थ वेयणाखंड में कृति और वेदना ये दो अनुयोगद्वार हैं। वेदना के कथन की इसमें प्रधानता है। पाँचवें वग्गणाखण्ड के प्रारम्भ में स्पर्श, कर्म एवं प्रकृति नामक तीन अनुयोगद्वारों का प्रतिपादन है। वर्गणाखंड का प्रधान अधिकार बंधनीय है, जिसमें बंध, बन्धक और बन्धनीय इन तीन की मुख्य रूप से प्ररूपणा की गई है। छठे खण्ड महाबन्ध में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति एवं अनुभाग बंध का विस्तार से विवेचन है। अपनी विशालता के कारण यह खण्ड पृथक ग्रन्थ भी माना जाता है।

षट्खण्डागम पर समय–समय पर **परिकर्म, व्याख्याप्रज्ञप्ति** आदि अनेक टीकाएँ लिखी गई हैं। इनमें से आचार्य वीरसेन द्वारा लिखी गई **धवला टीका** प्रमुख है। आचार्य वीरसेन ने बप्पगुरुदेव की व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका के आधार पर षट्खण्डागम के प्रारम्भिक पाँच खंडों पर इस टीका ग्रन्थ की रचना की है। इसका रचना काल शक संवत् 738 अर्थात् ई. सन् 816 माना गया है। यह टीका 72,000 श्लोक, प्रमाण है। यह टीका ग्रन्थ प्राकृत –संस्कृत मिश्रित भाषा में है। छठा खण्ड महाबन्ध स्वयं आचार्य भूतबलि द्वारा विस्तार से लिखा गया है। यह **महाधवल** के नाम से भी प्रसिद्ध है।

414. षड्भाषाचन्द्रिका

लक्ष्मीधर ने अपनी व्याख्या लिखते हुए कहा है कि त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सरल करने के लिये यह व्याख्या लिख रहा हूँ। जो विद्वान् मूलग्रन्थ की गूढ़ वृत्ति को समझना चाहते हैं वे उसकी व्याख्यारूप 'षड्भाषाचन्द्रिका' को देखें –

वृतिं त्रौविक्रमीगूढां व्याचिख्या सन्ति ये बुधाः।
भाड्भाषाचन्द्रिका तैस्तद् व्याख्यारूपा विलोक्यताम् ॥

वस्तुतः लक्ष्मीधर ने त्रिविक्रम के ग्रन्थ को सिद्धान्त कौमुदी के ढंग से तैयार किया है तथा उदाहरण प्राकृत के अन्य काव्यों से दिये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में प्राकृत महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश इन छह भाषाओं का विस्तार पूर्वक विवेचन किया है। आगे चलकर इन छह भाषाओं के विवेचन के लिए अन्य कई ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। उनमें भामकवि– 'षड्भाषा–चन्द्रिका', दुर्गणाचार्य–'षड्भाषारूपमालिका', तथा 'षड्भाषामंजरी', 'षड्भाषा सुवन्तादर्श' 'षड्भाषाविचार' आदि प्रमुख हैं।

415. षडावश्यकसूत्र

आवश्यक अथवा आवस्सग (षडावश्यकसूत्र) में नित्यकर्म के प्रतिपादक छह आवश्यक क्रिया अनुष्ठानों का उल्लेख है, इसलिए इसे आवश्यक कहा गया है। इसमें छह अध्ययन हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदन, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। यहाँ अतरंग मनोवृत्ति पर विशेष जोर दिया गया है, बाह्य अनुष्ठानों पर नही। इस सूत्र पर जितनी व्याख्यायें हैं, उतनी और किसी पर नहीं। इस पर भद्रबाहु की निर्युक्ति और भाष्य दोनों साथ छपे हैं। सामायिक अध्ययन से संबंधित नियुक्ति पर जिनभद्रगणि ने विशेषावश्यकभाष्य की रचना की है। आवश्यक निर्युक्ति के साथ यह सूत्र हमें उपलब्ध होता है। इस पर जिनदासगणि महत्तर की चूर्णि है। हरिभद्रसूरि ने शिष्यहिता नाम की संस्कृत टीका लिखी है, जिसकी कहानियाँ प्राकृत में हैं। हरिभद्रसूरि ने अपनी टीका में उक्त छह प्रकरणों का 35 अध्ययनों में वर्णन किया है, जिसमें अनेक प्राचीन प्राकृत और संस्कृत कथाओं का समावेश है। तिलाकाचार्य ने आवश्यकसूत्र पर लघुवृत्ति लिखी है।

राग-द्वेष रहित समभाव को सामायिक कहते हैं। यह प्रथम आवश्यक है। दूसरे आवश्यक में सात गाथाओं में चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन है। तीसरे में वदन -स्तवन किया गया है। शिष्य गुरु के पास बैठकर गुरु के चरणों का स्पर्श कर उनसे क्षमा-याचना करता है और उनकी सुखसाता के संबंध में प्रश्न करता है। चौथे आवश्यक प्रतिक्रमण का उल्लेख है। प्रमादवश शुभयोग से च्युत होकर अशुभ योग को प्राप्त करने के बाद फिर से शुभ योग को प्राप्त करने को प्रतिक्रमण कहते हैं। पांचवे आवश्यक में वह कायोत्सर्ग-ध्यान के लिए शरीर की निश्चलता- में स्थिर रहना चाहता है। छठे आवश्यक में प्रत्याख्यान-सर्व सावद्य कर्मों से निवृत्ति की आवश्यकता बताई है। इसमें अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग किया जाता है।

416. सडसीई (षडशीति)

सप्ततिका नामक छठे कर्मग्रन्थ के कर्ता के विषय में निश्चित रूप से कुछ कहना संभव नहीं। कुछ लोग चन्द्रर्षिमहत्तर को और कुछ शिवशर्मसूरि को इसका कर्ता मानते हैं। इसकी अनेक गाथायें नेमिचन्द्रकृत गोम्मटसार में मिलती हैं।

सप्ततिका नामक छठे कर्मग्रन्थ में बन्ध, उदय, सत्ता, प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि की उत्तर प्रकृतियाँ और बन्धादि स्थान आठ कर्मों के उदीरणास्थान, गुणस्थान और प्रकृतिकबंध आदि का विवेचन है।

417. सनत्कुमारचरित (सणंकुमारचरिय)

चतुर्थ चक्रवर्ती सनत्कुमार के जीवन पर यह प्राकृत भाषा में बड़ी रचना है। इसका परिमाण 8127 श्लोक प्रमाण है। इस चरित में उक्त नायक के अद्‌भुत कार्यों के वर्णन-प्रसंग में कहा गया है कि एक बार वह एक घोड़े पर बैठा तो वह भगा कर उसे घने जंगल में ले गया जहाँ उसे अनेक मुसीबतों का सामना करना पड़ा परन्तु उन सब पर वह विजय पा गया और उसी बीच उसने अनेक विद्याधर पुत्रियों से परिणय किया।

418. समयसार

आचार्य कुन्दकुन्द की यह प्रसिद्ध रचना है। वोच्छामि समयपाहुडमिणमो समयसार के प्रारम्भ में आई इस गाथा से स्पष्ट होता है कि कुन्दकुन्द को इस ग्रन्थ का नाम समयपाहुड अभीष्ट था। किन्तु प्रवचनसार, नियमसार आदि ग्रन्थों की परम्परा में इसका नाम समयसार प्रचलित हो गया। समय के दो अर्थ हैं, आत्मा या समस्त पदार्थ। इस दृष्टि से जिसमें आत्मा या सभी पदार्थों का सार वर्णित है, वही समयसार है। समयसार एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है। शुद्ध आत्म-तत्त्व का विवेचन जिस व्यापकता से इसमें हुआ है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। समय की व्याख्या करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है कि जब जीव सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र में स्थित हो, तो उसे स्वसमय जानो तथा जब पुद्गल कर्म-प्रदेशों में स्थित हो, तो उसे परसमय जानो। शुद्धात्म तत्त्व का निरूपण करने वाला यह ग्रन्थ 10 अधिकारों में विभक्त है। इन अधिकारों में क्रमशः शुद्ध-अशुद्धनय, जीव-अजीव, कर्म-कर्त्ता, पाप-पुण्य, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष एवं सर्व विशुद्ध ज्ञान का विवेचन हुआ है।

419. समराइच्चकहा

समरादित्यकथा को प्राकृत कथा साहित्य में वही स्थान प्राप्त है, जो कि संस्कृत साहित्य में बाणभट्ट की कादम्बरी को प्राप्त है। इसके रचयिता आचार्य

हरिभद्र हैं, जिन्होंने अनेक प्राकृत ग्रन्थों की रचना की है। आचार्य हरिभद्र का समय 8वीं शताब्दी माना गया है। समराइच्चकहा का मूलाधार प्रतिशोध की भावना है। इस कथा-ग्रन्थ में राजकुमार समरादित्य एवं उसके प्रतिद्वंद्वी गिरिसेन के नौ भवों की कथा वर्णित है। कथा का मूल आधार राजकुमार गुणसेन एवं अग्निशर्मा के जीवन की वह घटना है, जहाँ कुरूप अग्निशर्मा राजकुमार गुणसेन की बाल-सुलभ क्रीड़ाओं से अपमानित एवं दुःखी होकर कठोर तपस्वी बन जाता है। युवा होने पर राजा गुणसेन महातपस्वी अग्निशर्मा की तपस्या से अभिभूत होकर उन्हें तीन बार मासखमण के पारणे के लिए राजमहल में आमन्त्रित करता है, किन्तु परिस्थितियों वश तपस्वी का पारणा नहीं हो पाता है। तब क्रोधित अग्निशर्मा तीव्र घृणा एवं प्रतिशोध की भावना के साथ अगले प्रत्येक भव में राजा गुणसेन से बदला लेने का निदान बांध कर मृत्यु को प्राप्त होता है। यहीं से सदाचारी नायक गुणसेन एवं दुराचारी प्रतिनायक अग्निशर्मा के जीवन-संघर्ष की कथा आरम्भ होती है और नौ भवों तक अनवरत चलती है। प्रत्येक भव में अग्निशर्मा का जीव किसी न किसी रूप में गुणसेन से बदला लेता है। अंत में शुभ-परिणति द्वारा नवें भव में गुणसेन का जीव मोक्ष में जाता है तथा अग्निशर्मा का जीव अशुभ-परिणति के कारण घोर नरक में। वस्तुतः समराइच्चकहा में प्रतिशोध की भावना विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त हुई है, जिसे दर्शन की भाषा में शल्य या निदान कहा गया है। इस कथा के माध्यम से यह संदेश दिया गया है कि प्रतिशोध की भावना से बांधा गया निदान का एक छोटा सा बीज किस प्रकार एक विशाल वट-वृक्ष का रूप लेकर अनेक जन्मों तक चलता हुआ मनुष्य के घोर पतन का कारण बन जाता है। निदान के साथ-साथ यह कथा कर्मसिद्धान्त की भी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत करती है। यथा -

सव्वं पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं।
अवराहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होई॥ ... (प्रथम भव)

अर्थात् - सभी व्यक्ति पूर्व में किये गये कर्मों के फल रूपी परिणाम को प्राप्त करते हैं। अपराधों अथवा गुणों में दूसरा व्यक्ति तो निमित्त मात्र होता है।

यद्यपि इस कथा-ग्रन्थ में गुणसेन एवं अग्निशर्मा के नौ भवों की कथा वर्णित

है, किन्तु प्रत्येक भव की कथा स्वतंत्र अस्तित्व लिए हुए है। मूल कथा के साथ अनेक अवान्तर कथाएँ भी शामिल हैं। धर्म-दर्शन प्रधान यह ग्रन्थ सांस्कृतिक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। तत्कालीन समाज एवं संस्कृति के कई महत्त्वपूर्ण पहलू इसमें उजागर हुए हैं। तत्कालीन विभिन्न जातियों, पारिवारिक गठन, उत्सव, विवाह-प्रथा, दास-प्रथा, शिक्षा-पद्धति, भोजन, वस्त्राभूषण, व्यापारी और सार्थवाहों के व्यापारिक नियम, नगर-ग्राम की स्थिति आदि के विविध रूप इसमें वर्णित हैं।

समराइच्चकहा के कर्ता याकिनी महत्तरा के पुत्र हरिभद्रसूरि का नाम पादलिप्त और बप्पभट्टि आचार्यों के साथ आदरपूर्वक लिया गया है। सिद्धर्षि और रहनेवाले थे। संस्कृत और प्राकृत के ये बड़े विद्वान थे, आगमग्रन्थों की टीकायें इन्होंने लिखी है। इनका समय ईस्वी सन् की आठवीं शताब्दी है। समराइच्चकहा को हरिभद्रसूरि ने धर्मकथा नाम से उल्लिखित किया है। अपनी इस कृति के कारण उन्होनें कविरूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस कथा में नायक नायिकाओं की प्रेमकथाओं और उनके चरित्रों का वर्णन है जो संसार का त्याग करके जैन दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। बीच-बीच में अनेक धार्मिक आख्यान गुंफित हैं जिससे कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों का समर्थन होता है। समराइच्चकहा जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखी गई है, यद्यपि अनेक जगह शौरसेनी का प्रभाव भी पाया जाता है। इसका पद्यभाग आर्यछन्द में लिखा गया है, द्विपदी, विपुला आदि छंदो के भी प्रयोग मिलते हैं। भाषा प्रायः सरल और प्रवाहबद्ध है। कहीं पर वर्णन करते समय लंबे समासों और उपमा अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है, जिससे लेखक के काव्य कौशल का पता चलता है।

420. समवायांग

समवायांग का द्वादशांगी में चतुर्थ स्थान है। समवायांग वृत्ति में लिखा है कि इसमें जीव-अजीव आदि पदार्थों का समवतार है, अतः इस आगम का नाम समवायो है। स्थानांग के समान समवायांग भी संख्या शैली में रचा गया है, किन्तु इसमें एक से प्रारंभ होकर कोटानुकोटि की संख्या तक के तथ्यों का समवाय के रूप में संकलन है। नंदीसूत्र में समवाय की विषय सूची इस प्रकार दी गई है -

(1) जीव, अजीव, लोक, अलोक, स्व-समय और पर-समय का समवतार, (2) एक से सौ संख्या तक का विकास, (3) द्वादशांगी गणिपिटक का वर्णन। इस ग्रन्थ में क्रम से पृथ्वी, आकाश, पाताल, तीनों लोकों के जीव आदि समस्त तत्त्वों का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से एक से लेकर कोटानुकोटि संख्या तक परिचय दिया गया है। आध्यात्मिक तत्त्वों, तीर्थंकरों, गणधरों, चक्रवर्तियों, बलदेवों और वसुदेवों से सम्बन्धित वर्णनों के साथ भूगोल, खगोल आदि की सामग्री का संकलन भी किया गया है।72 कलाओं, 18 लिपियों आदि का भी इसमें उल्लेख है। वस्तुतः जैन सिद्धान्त, वस्तु-विज्ञान, एवं जैन इतिहास की दृष्टि से यह आगत अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

421. सन्मतिप्रकरण (सम्मइपयरण)

सिद्धसेन दिवाकर विक्रम संवत् की 5वीं शताब्दी के विद्वान् हैं, इन्होंने सन्मतितर्कप्रकरण की रचना की है। जैनदर्शन और न्याय का यह एक प्राचीन और महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसमें नयवाद का विवेचन कर अनेकांतवाद की स्थापना की गई है। इस पर मल्लवादी ने टीका लिखी है जो आजकल अनुपलब्ध है। दिगम्बर विद्वान् सन्मति ने इस पर विवरण लिखा है। प्रद्युम्नसूरि के शिष्य अभयदेवसूरि ने इस महान् ग्रन्थ पर वादमहार्णव या तत्वबोधविधयिनी नाम की एक विस्तृत टीका की रचना की है। सन्मतितर्क में तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में 54 गाथायें हैं जिनमें नय के भेदों और अनेकांत की मर्यादा का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में 43 गाथाओं में दर्शन-ज्ञान की मीमांसा की गई है। तृतीय खण्ड में 69 गाथायें हैं जिनमें उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा अनेकांत की दृष्टि से ज्ञेयतत्व का विवेचन है।

422. सम्यक्त्वसप्तति

यह हरिभद्रसूरि की कृति है। संघतिलकाचार्य ने इस पर वृत्ति लिखी है। इसमें 12 अधिकारों द्वारा 70 गाथाओं में सम्यक्त्व का स्वरूप बताया है। अष्टप्रभावकों में वज्रस्वामी, मल्लवादि भद्रबाहु, विष्णुकुमार, आर्यखपुट, पादलिप्त और सिद्धसेन का चरित प्रतिपादित किया है।

423. सरस्वतीकंठाभरण

काव्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ सरस्वतीकंठाभरण के रचयिता भोजराज (ई. सन् 996-1051) मालवा की धारा नगरी के निवासी थे। इस ग्रन्थ में 331 प्राकृत पद्य उद्धृत हैं। प्राकृत गाथाएँ सेतुबंध, गाथासप्तशती, कर्पूरमंजरी आदि ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं। साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से सभी पद्य सरस एवं मधुर हैं। धीर पुरुषों की महत्ता का यह वर्णन दृष्टव्य है –

सच्चं गरुआ गिरिणो को भणइ, जलासवा न गंभीरा।

धीरेहिं उवमाउं तहवि हु मह णात्थि उच्छाहो॥ – (परिच्छेद – 4)

अर्थात् – यह सत्य है, कौन नहीं कहता कि पर्वत विशाल होते हैं, तालाब गंभीर होते हैं, किन्तु तब भी धीर पुरुषों के साथ (उनकी) उपमा देने का मेरा उत्साह नहीं होता है।

424. संघदासगणी

आगमों के द्वितीय भाष्यकार संघदासगणी है। आचार्य संघदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी सामग्री नहीं मिलती है। आगम प्रभावक मुनिश्री पुण्यविजयजी का मानना था कि संघदास गणी नामक दो आचार्य हुए हैं। एक ने बृहत्कल्पलघुभाष्य का निर्माण किया और दूसरे आचार्य ने वसुदेवहिण्डि-प्रथम खण्ड लिखा। भाष्यकार संघदासगणी का विशेषण क्षमाश्रमण है तो वसुदेवहिण्डि के रचयिता का विशेषण वाचक है। वसुदेवहिंडि के रचयिता संघदासगणी भाष्यकार जिनभद्रगणी से पूर्व हुए हैं। संघदासगणी जैन आगम साहित्य के मर्मज्ञ विद्वान् थे। छेद सूत्रों के तलस्पर्शी अनुसंधाता थे।

425. सिद्धहेमशब्दानुशासन

प्राकृत व्याकरणशास्त्र को पूर्णता आचार्य हेमचन्द्र के सिद्धहैमशब्दानुशासन से प्राप्त हुई है। प्राकृत वैयाकरणों की पूर्वी और पश्चिमी दो शाखाएँ विकसित हुई हैं। पश्चिमी शाखा के प्रतिनिधि प्राकृत वैयाकरण हेमचन्द्र हैं (सन् 1088 से 1172)। इन्होंने विभिन्न विषयों पर अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। इनकी विद्वत्ता की छाप इनके इस व्याकरण ग्रन्थ पर भी है। इस व्याकरण का अनेक स्थानों से प्रकाशन हुआ है। हेमचन्द्र के इस व्याकरण ग्रन्थ में आठ अध्याय हैं। प्रथम सात अध्यायों

में उन्होंने संस्कृत व्याकरण का अनुशासन किया है, जिसकी संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में अलग महत्ता है। आठवें अध्याय में प्राकृत व्याकरण का निरूपण है। उसकी संक्षिप्त विषयवस्तु द्रष्टव्य है।

आठवें अध्याय के प्रथम पाद में 271 सूत्र हैं। इनमें संधि, व्यंजनान्त शब्द; अनुस्वार, लिंग, विसर्ग, स्वर-व्यत्यय और व्यंजन-व्यत्यय का विवेचन किया गया है। इस पाद का प्रथम सूत्र अथ प्राकृत म् प्राकृत शब्द को स्पष्ट करते हुए यह निश्चित करता है कि प्राकृत व्याकरण संस्कृत के आधार पर सीखनी चाहिये। द्वितीय सूत्र बहुलम् द्वारा हेमचन्द्र ने प्राकृत के समस्त अनुशासनों को वैकल्पिक स्वीकार किया है। इससे स्पष्ट है कि हेमचन्द्र ने न केवल साहित्यिक प्राकृतों को, अपितु व्यवहार की प्राकृत के रूपों को ध्यान में रखकर भी अपना व्याकरण लिखा है। इस पद के तीसरे सूत्र आर्षम् 8/1/3 द्वारा ग्रन्थकार ने आर्षप्राकृत और सामान्य प्राकृत में भेद स्पष्ट किया है। इसके आगे के सूत्र स्वर आदि का अनुशासन करते हैं। जिस बात को प्राचीन वैयाकरण चंड, वररुचि आदि ने संक्षेप में कह दिया था, हेमचन्द्र ने उसे न केवल विस्तार से कहा है, अपितु अनेक नये उदाहरण भी दिये हैं। इस तरह प्राकृत भाषा के विभिन्न स्वरूपों का सांगोपांग अनुशासन हेमव्याकरण में हो सका है।

द्वितीय पाद के 218 सूत्रों में संयुक्त व्यंजनों के परिवर्तन, समीकरण, स्वरभक्ति, वर्णविपर्यय, शब्दादेश, तद्धित, निपात और अव्ययों का निरूपण है। यह प्रकरण आधुनिक भाषाविज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी है। हेमचन्द्र ने संस्कृत के कई द्वयअर्थ वाले शब्दों को प्राकृत में अलग-अलग किया है, ताकि भ्रान्तियाँ न हों। संस्कृत के क्षण शब्द का अर्थ समय भी है और उत्सव भी। हेमचन्द्र ने उत्सव अर्थ में छणो (क्षण:) और समय अर्थ में खणो (क्षण:) रूप निर्दिष्ट किये हैं। इसी तरह हेम ने अव्ययों की भी विस्तृत सूची इस पाद में दी है। तृतीय पाद में 182 सूत्र हैं, जिनमें कारक, विभक्तियों, क्रिया-रचना आदि सम्बन्धी नियमों का कथन किया गया है। शब्दरूप, क्रियारूप और कृत प्रत्ययों का वर्णन विशेष रूप से ध्यातव्य है। वैसे प्राकृत प्रकाश के समान ही इसका विवेचन हेम ने किया है, कारक व्यवस्था पर अच्छा प्रकाश डाला है। हेमप्राकृत

व्याकरण का चतुर्थ पाद विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसके 448 सूत्रों में शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश प्राकृतों का शब्दानुशासन ग्रन्थकार ने किया है। इस पाद में धात्वादेश की प्रमुखता है। संस्कृत धातुओं पर देशी अपभ्रंश धातुओं का आदेश किया है। यथा- संस्कृत कथ्, प्राकृत -कह को बोल्ल, चव, जंप आदि आदेश।

मागधी, शौरसेनी एवं पैशाची काअनुशासन तो प्राचीन वैयाकरणों ने भी संक्षेप में किया था। हैम ने इनको विस्तार से समझाया है। किन्तु इसके साथ ही चूलिका पैशाची की विशेषताएँ भी स्पष्ट की हैं। इस पाद के 329 सूत्र से 448 सूत्र तक उन्होंने अपभ्रंश व्याकरण पर पहली बार प्रकाश डाला है। उदाहरणों के लिए जो अपभ्रंश के दोहे दिये हैं, वे अपभ्रंश साहित्य की अमूल्य निधि हैं। आचार्य हेम के समय तक प्राकृत भाषा का बहुत अधिक विकास हो गया था। इस भाषा का विशाल साहित्य भी था। अपभ्रंश के भी विभिन्न रूप प्रचलित थे। अतः हेमचन्द्र ने प्राचीन वैयाकरणों के ग्रन्थों का उपयोग करते हुए भी अपने व्याकरण में बहुत-सी बातें नयी और विशिष्ट शैली में प्रस्तुत की हैं।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत व्याकरण पर तत्त्वप्रकाशिका नामक सुबोध-वृत्ति (बृहत्वृत्ति) भी लिखी है। मूलग्रन्थ को समझने के लिए यह वृत्ति बहुत उपयोगी हैं इसमें अनेक ग्रन्थों से उदाहरण दिये गये हैं। एक लघुवृत्ति भी हेमचन्द्र ने लिखी है, जिसको प्रकाशिका भी कहा गया है। यह सं. 1929 में बम्बई से प्रकाशित हुई है। हेमप्राकृत व्याकरण पर अन्य विद्वानों द्वारा भी टीकाएँ लिखी गई हैं।

426. संतिनाहचरियं

इस ग्रन्थ में गुणसेन के शिष्य और हेमचन्द्राचार्य के गुरु पूर्णतल्लगच्छीय देवचन्द्राचार्य कृत 16वें तीर्थंकर शान्तिनाथ का चरित है। इसका परिमाण ग्रन्थाग्र 12000 है। इसकी रचना सं. 1160 में हुई थी। यह प्राकृत गद्य-पद्यमय है। बीच-बीच में अपभ्रंश भाषा भी प्रयुक्त हुई है। इसकी रचना खंभात में की गई थी। इनकी एक अन्य कृति मूलशुद्धिप्रकरणटीका (अपरनाम सथानप्रकरण- टीका) है। शान्तिनाथ पर इस विशाल रचना के अतिरिक्त प्राकृत में एक लघु रचना 33

गाथाओं में जिनवल्लभसूरि रचित तथा अन्य सोमप्रभसूरि रचित का उल्लेख मिलता है।

427. संवेगरंगसाला

संवेगरंगशाला के रचयिता जिनेश्वरसूरि के शिष्य जिनचन्द्र हैं, जिन्होंने वि.सं. 1125 में संवेग भाव का निरूपण करने हेतु इस ग्रन्थ में अनेक कथाओं का गुम्फन किया है। शांत रस प्रधान इस कथा-ग्रन्थ में मुख्य रूप से महासेन राजर्षि का कथानक चलता है। वे संसार त्याग कर मुनि दीक्षा ग्रहण करते हैं। इस कथा-ग्रन्थ के माध्यम से आराधना, उपासना आदि को सार्वजनीय बनाने का प्रयत्न किया गया है। दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों को इस ग्रन्थ में विशद रूप से विवेचन हुआ है।

जिनचन्द्र ने अपने लघु गुरुबान्धव अभयदेव की अभ्यर्थना से इस ग्रन्थ की रचना वि.सं. 1125 में की है। नवांगवृत्तिकार अभयदेव सूरि के शिष्य जिनवल्लभ सूरि ने इसका संशोधन किया है। इस कृति में संवेग भाव का प्रतिपादन किया है। इसमें शान्तरस पूर्णतया व्याप्त है। संवेगभाव का निरूपण करने के लिए कृति में अनेक कथाओं का गुम्फन हुआ है। कथानकों के रहने पर भी इस कृति में दार्शनिक तथ्यों की बहुलता है। आचार और धर्म सम्बन्धी सिद्धान्तों का विवेचन लेखक ने खूब खुलकर किया है। यही कारण है कि इस कृति में कथात्मक पुनरुक्तियों का प्रायः अभाव है। उद्देश्य की दृष्टि से यह कृति पूर्णतया सफल है। लेखक ने सभी कथानकों और पात्रों को एक ही उद्देश्य के डोरे में बाँध दिया है। संवेग की धारा सर्वत्र प्रवाहित दिखलायी पड़ती है। जिस प्रकार मिट्टी के बने कच्चे घड़े जल के छींटे पड़ते ही टूट जाते हैं, उसी प्रकार संवेग के श्रवण से सहृदयों के हृदय द्रवीभूत हो जाते हैं। संवेगरस की प्राप्ति के अभाव में कायक्लेश सहन करना या श्रुताध्ययन करना निरर्थक है।

428. संक्षिप्तसार : (क्रमदीश्वर-)

क्रमदीश्वर का समय लगभग 12वीं-13वीं शताब्दी माना गया है। हेमचन्द्र के बाद के वैयाकरणों में क्रमदीश्वर का प्रमुख स्थान है। उन्होंने 'संक्षिप्तसार' नामक अपने व्याकरण ग्रन्थ को आठ भागों में विभक्त किया है। प्रथम सात

अध्यायों में संस्कृत एवं आठवें अध्याय 'प्राकृत पाद' में प्राकृत व्याकरण का अनुशासन किया है। ग्रन्थ के इस स्वरूप में ही क्रमदीश्वर हेमचन्द्र का अनुकरण करता है। अन्यथा प्रस्तुतीकरण और सामग्री की दृष्टि से उनमें पर्याप्त भिन्नता है। वस्तुतः वररुचि के 'प्राकृत प्रकाश' और 'संक्षिप्तसार' में बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध दिखायी देता है। किन्तु कई स्थलों पर क्रमदीश्वर के अन्य लेखकों की सामग्री का भी उपयोग किया है। लास्सन ने क्रमदीश्वर के इस ग्रन्थ पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्राकृत पाद' का सम्पूर्ण संस्करण राजेन्द्रलाल मित्रा ने प्रकाशित कराया था तथा 1889 में कलकत्ता से इसका एक नया संस्करण भी प्रकाशित हुआ था।

429. संबोधसप्ततिका

इसके कर्ता सिरिवालकहा ने रचयिता रत्नशेखरसूरि (ईसवी सन् की 14 वीं शताब्दी) हैं। पूर्वाचार्यकृत निशीथचूर्णी आदि ग्रन्थों के आधार से उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। अमरकीर्तिसूरि की इस पर वृत्ति है। इस ग्रन्थ में समताभाव, सम्यक्त्व जीवदया, सुगुरु सामायिक साधु के गुण जिनागम का उत्कर्ष, संघ, पूजा, गच्छ, ग्यारह प्रतिमा आदि का प्रतिपादन है। समताभाव के सम्बन्ध में कहा है–

सेयंबरो य आसंबरो य, बुद्धो य अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा, लहेय मुक्खं न संदेहो॥

श्वेताम्बर हो या दिगम्बर, बौद्ध हो या कोई अन्य, जब तक आत्मा में समता भाव नहीं आता, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती।

430. साहित्यदर्पण

14वीं शताब्दी में कविराज विश्वनाथ ने मम्मट के अलंकारशास्त्र के ग्रन्थ काव्यप्रकाश की आलोचना के रूप में साहित्यदर्पण की रचना की। साहित्यदर्पण में प्राकृत के 24 पद्य उद्धृत हैं, जिनमें से अधिकांश गाथासप्तशती के हैं तथा कुछ स्वरचित भी हैं।

431. सिद्धसेन और उनकी रचनाएँ

आचार्य सिद्धसेन के जीवन के सम्बन्ध में विशेष कुछ ज्ञात नहीं है, फिर भी, सामान्यतः यह स्वीकार कर लिया गया है कि जन्म से वे ब्राह्मण थे। वे संस्कृत,

प्राकृत, तर्कशास्त्र तत्वविद्या, व्याकरण, ज्योतिष तथा विभिन्न भारतीय दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रकाण्ड विद्वान् थे। प्रोढ़ावस्था में उनका झुकाव व प्रवृत्ति जैनधर्म की ओर उन्मुख हो गई जो कि उनके गहन तार्किक विश्लेषण एवं अन्तर्दृष्टि का परिणाम थी। अपनी रचनाओं में प्रतिपादित जैन सिद्धान्तों के कारण उन्होंने शुद्ध तर्कशास्त्र के क्षेत्र में एक उत्कृष्ट स्थान बना लिया था। डॉ. उपाध्ये के अनुसार सिद्धसेन उस यापनीय संघ के एक साधू थे जो कि दिगम्बर जैनों में एक उप-सम्प्रदाय था। उन्होंने दक्षिण भारत की ओर स्थानान्तरण किया था और पैठन में उनकी मृत्यु हुई थी। तथ्यों से यह भलीभाँति प्रमाणित हो जाता है कि वे दिगम्बर परम्परा के अनुयायी थे। दिगम्बर आगमिक साहित्य में सिद्धसेन का नाम उनकी कृति ''सन्मतिसूत्र'' के साथ निर्दिष्ट है। जैन साहित्य में विशुद्ध तर्कविद्या विषय पर प्राकृत भाषा में ज्ञात रचनाओं के सर्वप्रथम सम्मइसुत्तं या सन्मत्तिसूत्र अनुपम दार्शनिक रचना के कारण आचार्य सिद्धसेन का नाम प्रसिद्ध रहा है। प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के परवर्ती अनेक विश्रुत जैन विद्वानों ने उनके नाम का सादर उल्लेख किया है। यथार्थ में वे दर्शनप्रभावक आचार्य के रूप में विश्रुत रहे हैं। यद्यपि उनकी इस रचना का निर्देश सन्मतितर्कप्रकरण नाम से भी किया जाता रहा है, किन्तु इसका वास्तविक नाम सम्मइसुत्त है।

''सन्मतिसूत्र'' 167 आर्या छन्दों में प्राकृत भाषा में निबद्ध अनेकान्तवाद सिद्धान्त का प्रतिपादक ग्रन्थ है। अनेकान्तवाद का सिद्धान्त नयों पर आधारित है। अतएव ग्रन्थ-रचना में अनेकान्तवाद के साथ नयों का भी विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण रचना तीन भागों में विभक्त है, जिन्हें काण्ड कहा गया है। ग्रन्थ के प्रथम काण्ड में मुख्य रूप से नय और सप्तभंगी का, द्वितीय खण्ड में दर्शन और ज्ञान का तथा तृतीय खण्ड में पर्याय-गुण से अभिन्न वस्तु-तत्व का प्रतिपादन किया गया है। निःसन्देह यह एक ऐसी रचना है जिसका प्रभाव सम्पूर्ण जैन साहित्य पर लक्षित होता है। डॉ. उपाध्ये जी ने भलीभाँति पर्यालोचन कर सन्मतिसूत्र के रचयिता आ. सिद्धसेन का समय 505-609 ई. निर्धारित किया है।

432. सिरिपासनाहचरियं (गुणचन्द)

इस पार्श्वनाथचरित के रचयिता कहारयणकोस के कर्त्ता गुणचन्द्रगणि (गुणचन्द्रसूरि) हैं। वि. सं. 1168 में कवि ने भड़ौच में इस ग्रन्थ की रचना की

थी। प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच प्रस्तावों में भगवान् पार्श्वनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। प्रथम दो प्रस्तावों में पार्श्वनाथ के पूर्व भवों की, तथा शेष तीन प्रस्तावों में वर्तमान भव की घटनाओं की निरूपण हुआ है। यह एक श्रेष्ठ चरित काव्य है, जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ के असाधारण पुरुषार्थ का स्वाभाविक विकास उद्घाटित हुआ है। कमठ के जीव द्वारा निरन्तर परीषह किये जाने पर भी वे संयम में दृढ़ रहते हैं तथा उनके मन में किसी भी प्रकार की प्रतिशोध की ज्वाला प्रज्वलित नहीं होती है। नायक के चरित में सहिष्णुता के गुण की बेजोड़ पराकाष्टा इस चरितकाव्य को पुराणों के नजदीक लाकर खड़ा करती है। प्रसंगवश इस काव्य में तंत्र-मंत्र की विविध साधनाएँ भी वर्णित हैं। रचयिता ने इन साधनाओं का खंडन कर सम्यक् चरित की प्रतिष्ठा करते हुए कहा है कि राग, द्वेष एवं मोह का त्याग करके ही साधक का चरित निर्मल बनता है।

433. सिरिविजयचंद केवलिचरियं

इस चरितकाव्य के रचियता श्री चन्द्रप्रभ महत्तर हैं। ये अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इसकी रचना वि.स. 1127 में हुई है। इस चरितकाव्य का उद्देश्य जिनपूजा का माहात्मय प्रकट करना है। अष्ट द्रव्यों से पूजा किये जाने का उल्लेख है। प्रत्येक द्रव्य से पृथक-पृथक पूजा का फल बतलाने के लिए कथानकों का प्रणयन किया गया है। ये सभी कथाएँ अपने में स्वतन्त्र होती हुयी भी आपस में सम्बद्ध हैं। विजयचन्द्र केवली द्वारा कथित होने से उनके चरित में ही इनको सम्बद्ध कर दिया गया है। कथानक बड़े ही मनोरंजक और शिक्षाप्रद हैं। इस चरित काव्य में आयी हुई अवान्तर कथाओं का स्वतन्त्र अस्तित्व है। प्रत्येक कथा अपने में पूर्ण है। और हर एक का घटनाचक्र किसी विशेष उद्देश्य को लेकर चलता है। जन्म जन्मान्तर की घटनाएँ ऐसी प्रमुख उद्देश्य के चारों ओर चक्कर लगातीं रहती हैं।

चरित्र चित्रण की दृष्टि से प्रायः ये सभी कथाएँ सफल हैं। इन लघु कथाओं में प्रधान अप्रधान पात्रों के कर्तव्य और कर्तव्यों की भली प्रकार योजना की गयी है। गुरु या आचार्य का सम्पर्क प्राप्त करते ही पात्र कुछ से कुछ बन जाते हैं, यह इन लघु कथाओं से स्पष्ट है। ऐश्वर्य और सौन्दर्य पात्रों को रागात्मक बन्धन के

लिए प्रेरित करता है, सभी पात्र जगत् के मायाजाल में उलझते हैं, किन्तु गुरु के सम्पर्क से वे संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होकर आत्म-कल्याण करने में लग जाते हैं। पात्रों में जातिगत, वर्गगत और साम्प्रदायिक विशेषताएँ भी वर्तमान हैं। भाषा सरल है। महाराष्ट्री प्राकृत में इस ग्रन्थ की रचना की गयी है। यत्र-तत्र अर्धमागधी का भी प्रभाव है। इस काव्य में कुल 1063 गाथाएँ हैं।

434. सिरिसिरिवालकहा (श्रीपालकथा)

श्रीपालकथा के कर्त्ता सुलतान फीरोजशाह तुगलक के समकालीन रत्नशेखरसूरि हैं। उनके शिष्य हेमचन्द्र ने इस कथा को वि.सं. 1428 (सन् 1371) में लिपिबद्ध किया। इसकी भाषाशैली सरल है और विविध अलंकारों का इसमें प्रयोग है। मुख्य छंद आर्या है। कुछ पद्य अपभ्रंश में भी हैं। सब मिलाकर इसमें 1342 पद्य हैं जिनमें श्रीपाल की कथा के बहाने सिद्धचक्र का माहात्म्य बताया गया है। श्रीपालचरित्र पर और भी आख्यान संस्कृत और गुजराती में लिखे गये हैं।

श्रीपाल के आख्यान पर सर्वप्रथम एक प्राकृत कृति 'सिरिवालकहा' मिलती है जिसमें 1342 गाथाएँ हैं। उनमें कुछ पद्य अपभ्रंश के भी हैं। प्रथम गाथा में कथा का हेतु दिया गया है:

अरिहाइ नवपयाइं झाइत्ता हिययकमलमज्झंमि।
सिरिसिद्धचक्कमाहप्पमुत्तमं किं पि जंपेमि॥

तेईसवीं गाथा में नवपदों की गणना इस प्रकार दी है:

अरिहं सिद्धायरिया उज्झाया साहुणो अ सम्मत्तं।
नाणं चरणं च तवो इय पयनवगं मुणेयव्वं।

इसके बाद उक्त पदों का 9 गाथाओं में अर्थ तथा माहात्म्य की चर्चा है। 288वीं गाथा से श्रीपाल की कथा दी गई है। यह कथाग्रन्थ कल्पना, भाव एवं भाषा में उदात्त है। इसमें कई अलंकारों का सफलतापूर्वक प्रयोग किया गया है। कथानक की रचना आर्या और पादाकुलक (चौपाई) छन्दों में की गई है, पर कहीं-कहीं पज्झड़िआ छन्दों का भी प्रयोग किया गया है।

435. सीताचरित

इस ग्रन्थ में 465 प्राकृत गाथाओं में भुवनतुंगसूरि ने सीता का चरित्र लिखा है। सीताचरित्र पर प्राकृत में अज्ञात कर्तृक दो और रचनायें मिलती हैं। एक का ग्रंथाग्र 3100 या 3400 है। दूसरे की हस्त. प्रति में सं. 1600 दिया गया है।

436. सुदर्शनाचरित-

भड़ौच (भृगुकच्छ) के शुकुनिकाविहार-जिनालय के माहात्म्य को प्रकट करने के लिए सुदर्शना की कथा पर ज्ञातकर्तृक दो प्राकृत रचनाएँ, एक संस्कृत रचना तथा एक अज्ञातकर्तृक प्राकृत रचना मिली है। अज्ञातकर्तृक प्राकृत रचना की हस्तलिखित प्रति सं. 1244 की मिली है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि यही पश्चाद्वर्ती कृतियों का आधार रही हैं। द्वितीय रचना भी प्राकृत में है। इसके रचयिता मलधारी देवप्रभसूरि (तेरहवींशती का उत्तरार्ध) हैं। यह 1887 श्लोक प्रमाण ग्रन्थ है।

437. सुदंसणाचरिय

इसका दूसरा नाम शकुनिकाविहार भी है। यह एक प्राकृत ग्रन्थ है जिसमें कुल मिलाकर 4002 गाथाएँ हैं। बीच बीच में शर्दुलविक्रीडित आदि छन्दों का प्रयोग हुआ है। इसमें धनपाल, सुदर्शन, विजयकुमार, शीलावती, अश्वावबोध, भ्राता, धात्रीसुत और धात्री ये आठ अधिकार हैं, जो 16 उद्देश्यों में विभक्त हैं। सुदर्शना सिंहद्वीप में श्रीपुरनगर के राजा चन्द्रगुप्त और रानी चन्द्रलेखा की पुत्री थी। पढ़ लिखकर वह बड़ी विदुषी और कलावती हो गई। एक बार उसने राजसभा में ज्ञाननिधि पुरोहित के मत का खण्डन किया। धर्म भावना से प्रेरित हो वह भृगुकच्छ की यात्रा पर गई और वहाँ उसने मुनिसुव्रत तीर्थंकर का मन्दिर तथा शकुनिकाविहार नामक जिनालय का निर्माण कराया। इसके रचियता तपागच्छीय जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य देवेन्द्रसूरि हैं। कर्ता ने अपने विषय में कहा है कि वे वित्रपालकगच्छीय भुवनचन्द्र गुरु उनके शिष्य देवभद्र मुनि और उनके शिष्य जगच्चन्द्रसूरि के शिष्य थे। उनके एक गुरुभ्रता विजयचन्द्रसूरि ने इस ग्रन्थ के निर्माण में सहायता दी थी।

इस चरित-काव्य के लंखक देवेन्द्रसूरि के गुरु का नाम जगच्चंद्रसूरि है। देवेन्द्रसूरि को गुर्जर राजा की अनुमति से वस्तुपाल मन्त्री के समक्ष अर्वुदगिरि-आबू पर सूरिपद प्रदान किया था। इनका समय लगभग ई. सन् 1270 के है। इस चरित काव्य का नाम नायिका के नाम पर रखा गया है। इस काव्य की नायिका सुदर्शना विदुषी और रूप-माधुर्य से युक्त है।

सुदर्शना का जन्मोत्सव धूम-धामपूर्वक सम्पन्न किया जाता है। शैशवकाल में वह विद्याध्ययन के लिए उपाध्यायशाला में जाकर लिपि, गणित साहित्य आदि का अभ्यास करती है। पंडिता होने पर जब वह घर लौटकर आती है तो उसके कलाभ्यास की परीक्षा ली जाती है। उसे जातिस्मरण हो जाता है। भरुयकच्छ का ऋषभदत्त नाम का सेठ राजा के पास भेंट लेकर राजसभा में उपस्थित होता है। सुदर्शना के पिता अपनी कन्या की परीक्षा करने के लिए कुछ पहेलियाँ पूछते हैं। सुदर्शना उन पहेलियों के उत्तर बहुत अच्छी तरह देती है। राजा बहुत प्रसन्न होता है और बेटी सुदर्शना के ज्ञान की प्रशंसा करता है।

इस चरित काव्य में तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति का चित्रण किया गया है। मूल कथावस्तु के साथ अवान्तर कथाओं का इसमें सुन्दर गुम्फन हुआ है। सुदर्शना का चरित मन्द गति से विकसित होता हुआ आगे बढ़ा है। सुदर्शना का यह चरित्र हिरण्यपुर के सेठ धनपाल ने अपनी पत्नी धनश्री को सुनाया। कथा में प्रसंगवश अनेक स्त्री-पुरुषों के तथा नाना अन्य घटनाओं के रोचक वृत्तान्त शामिल हैं।

438. सुपासनाहचरियं

प्राकृत की यह एक सुविस्तृत और उच्चकोटि की रचना है। इसमें लगभग आठ हजार गाथाएँ हैं। समस्त ग्रन्थ तीन प्रस्तावों में विभक्त है। नाम से स्पष्ट है कि इसमें सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जीवनचरित वर्णित है। प्रथम प्रस्तव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया गया है और शेष में उनके वर्तमान जन्म का। इस तरह इसमें विविध धर्मोपदेश और कथा-प्रसंगों के बीच सुपार्श्वनाथ का संक्षिप्त चरित विखेरा गया है। अधिकांश भाग में सम्यग्दर्शन का माहात्मय, बारह श्रावक, व्रत, उनके अतिचार तथा अन्य धार्मिक विषयों को लेकर अनेक कथाएँ

, दी गयी हैं जिनसे तत्कालीन बुद्धिवैभव, कलाकौशल, आचार-व्यवहार, सामाजिक रीतिरिवाज, राजकीय परिस्थिति एवं नैतिक जीवन आदि के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं। इसके प्रणेता का नाम लक्ष्मणगणि है। इनके गुरु का नाम हेमचन्द्रसूरि था जो हर्षपुरीयगच्छ के थे और जयसिंहसूरि के प्रशिष्य और अभयदेवसूरि के शिष्य थे। इस ग्रन्थ की रचना उनने धंधुकनगर में प्रारम्भ की थी और उसकी समाप्ति मंडलपुरी में की। उन्होंने इसे वि.सं. 1199 में माघ शुक्ल 10 गुरूवार के दिन रचकर समाप्त किया था। उस वर्ष चौलुक्य नृप कुमारपाल का राज्याभिषेक भी हुआ था।

इस पद्यबद्ध चरितकाव्य में काव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जीवन-चरित वर्णित है। सम्पूर्ण काव्य तीन प्रस्तावों में है। प्रथम प्रस्ताव में नायक के पूर्वभवों का तथा शेष प्रस्तावों में वर्तमान भव की घटनाओं का उल्लेख है। इस चरितकाव्य का मूल संदेश यही है कि अनेक जन्मों में संयम एंव सदाचार का पालन करने से ही व्यक्ति चरित्र का विकास कर मुक्ति पथ की ओर अग्रसर होता है। मूल कथा के साथ अवान्तर कथाएँ भी धर्मतत्त्व का ही प्रणयन करती है। इन कथाओं के माध्यम से श्रावक के 12 व्रतों एवं उनके अतिचारों का विवेचन किया गया है। सम्यक्त्व की महत्ता के लिए 'चम्पकमाला' की रोचक कथा वर्णित है। इस चरितकाव्य में सांस्कृतिक तत्त्व भी प्रचुर परिमाण में उपलब्ध हैं। जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तों के साथ-साथ कापालिक, वेदान्त एवं संन्यासी मत के आचार एवं सिद्धान्तों का भी इसमें निरूपण हुआ है। भीमकुमार की कथा में नरमुण्ड की माला धारण किये हुए कापालिक का वर्णन सजीव है। इसी प्रसंग में नरमुण्डों से मंडित कालीदेवी का भी भयंकर रूप चित्रित हुआ है। इस चरितकाव्य की भाषा पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इस चरित काव्य के नायक सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ है। लगभग आठ हजार गाथाओं में इस ग्रन्थ की समाप्ति की गयी है। समस्त काव्य तीन भागों में विभक्त है -पूर्वभव प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन किया है और शेष प्रस्तावों में उनके वर्तमान जीवन का। इस चरितकाव्य में प्रेम, आश्चर्य,

रागद्वेष एवं अनुकूल-प्रतिकूल परिस्थितियों के बीच नाना प्रकार के भावों की व्यन्जनाकी गयी है। मूलकथा के नायक से कहीं ज्यादा अवान्तर कथा के नायकों का चरित विकसित है। चरित्रों के विकास के लिए वातावरण का सृजन भी किया गया है। प्रायः सभी अवान्तर कथाएँ धर्मतत्व के उपदेश के हेतु ही निर्मित हैं।

घटनाओं की बहुलता रहने से वर्णनों की संख्या अत्यल्प है। यद्यपि नगर, गाँव, वन, पर्वत, चैत्य उद्यान, प्रातः सन्ध्या, ऋतु आदि के प्रभावोत्पादक दृश्य वर्णित हैं, तो भी इसमें महाकाव्य के परिपार्श्व का अभाव है। सूक्ति और धर्मनीतियों द्वारा चरित को मर्मस्पर्शी बनाने का आयास किया गया है। मित्र और अमित्र का निरूपण करते हुए कहा है -

भवगिह मज्झम्मि पमायजलणजलियम्मि मोहनिद्दाए।
जो जग्गवइ सो मित्तं वारन्तो सो पुण अमित्तं ॥

-प्रमादरूपी अग्नि द्वारा संसाररूपी घर के प्रज्वलित होने पर जो मोहरूपी निद्रा से सोते हुए पुरुष को जगाता है, वह मित्र है और उसे जगाने से जो रोकता है, वह अमित्र है। तात्पर्य यह है कि जो संसार में आसक्त प्राणी को उद्बुद्ध करता है, वही सच्चा हितैषी है। इस चरितकाव्य की भाषा पर अपभ्रंश का पूरा प्रभाव है। संस्कृत की शब्दावली भी अपनायी गयी है। कवि ने उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक अलंकार की कई स्थलों पर सुन्दर योजना की है। वर्णनों की सजीवता ने चरितों को सरस बनाया है।

439. सुमइणाहचरियं

पाँचवें तीर्थंकर सुमतिनाथ के चरित का वर्णन करनेवाला प्राकृत तथा संस्कृत में यह पहला ग्रन्थ है। इसका प्रमाण 1621 लोक है। इसमें अनेक पौराणिक कथायें दी गयी हैं। इसके लेखक विजयसिंहसूरि के शिष्य सोमप्रभाचार्य हैं जो बृहद्गच्छ के थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ कुमारपालप्रतिबोध प्रकाशित हो चुका है।

440. सुरसुन्दरीचरियं

प्राकृत भाषा में निबद्ध यह राजकुमार मकरकेतु और सुरसुन्दरी का एक प्रेमाख्यान है। इसमें 16 परिच्छेद हैं, प्रत्येक में 250 गाथाएँ हैं और कुल मिलाकर

4001 गाथाओं में समाप्त हुआ है। सुरसुन्दरी कुशलाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह नाना विद्याओं में निष्णात थी। चित्र देखने से उसे हस्तिनापुर के मकरकेतु नामक राजकुमार से आसक्ति हो गई थी। उसकी सखी प्रियंवदा मकरकेतु की तलाश में निकलती है। बड़ी कठिनाईयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुन्दरी और मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। पश्चात् संसारसुख भोग दोनों ने दीक्षा ले तपस्या कर मोक्षपद पाया।

इस कथा की नायिका सुरसुन्दरी का नाम व वृत्तान्त वास्तव में 11वें परिच्छेद से प्रारम्भ होता है। इससे पूर्व मकरकेतु के माता पिता अमरकेतु ओर कमलावती का तथा उस नगर के सेठ धनदत्त का घटनापूर्ण वृतान्त और कुशलाग्रपुर के सेठ की पुत्री श्रीदत्ता से विवाह उसी घटनाचक्र के बीच विद्याधर चित्र वेग और कनकमाला तथा चित्रगति और प्रियसुंदरी के प्रेमाख्यान वर्णित हैं। इसके प्रणेता धनेश्वरसूरि हैं जो जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। ग्रन्थान्त में 13 गाथाओं की एक प्रशस्ति में ग्रन्थकार का परिचय, रचना का स्थान तथा काल का निर्देश किया गया है। तदनुसार यह कथाकाव्य चड्डावल्लिपुरी (चन्द्रवती) में सं. 1095 की भाद्रपद कृष्ण द्वितीया गुरुवार घनिष्ठा नक्षत्र में बनाया गया।

इस महत्त्वपूर्ण चरित-काव्य के रचियता धनेश्वरसूरि ने ग्रन्थ के अन्त में जो प्रशस्ति लिखी है, उसमें बतलाया है कि महावीर स्वामी के शिष्य सुधर्म स्वामी, सुधर्म स्वामी के शिष्य जम्बू स्वामी, उनके शिष्य प्रभव स्वामी, प्रभव स्वामी के शिष्य वज्र स्वामी, इसके शिष्य जिनेश्वरसूरि, जिनेश्वरसूरि के शिष्य अल्लकोपाध्याय उद्द्योतनसूरि, इनके वर्धमानसूरि और वर्धमानसूरि के दो शिष्य हुए -जिनेश्वरसूरि और बुद्धिसागरसूरि। यही जिनेश्वरसूरि धनेश्वरसूरि के गुरु थे। जिनेश्वरसूरि ने लीलावती नाम की प्रेम-कथा लि़खी है। धनेश्वर नाम के कई सूरि हुए है। ये किस गच्छ के थे, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

नायिका के नाम पर ही काव्य का नामकरण किया गया है। नायिका के चरित का विकास दिखलाने के लिए कवि ने मूलकथा के साथ प्रासंगिक कथाओं का गुम्फन घटना परिकलन के कौशल का द्यौतक है। परिस्थिति विशेष में

मानसिक स्थिति का चित्रण वातावरण की सुन्दर पुष्टि चरित्रों का मनोवैज्ञानिक विकास, रागद्वेष रूपी एवं वृत्तियों के मूल संघर्ष एवं चरित के विभिन्न रूपों का उद्घाटन इस चरित काव्य के प्रमुख गुण है। कवि ने इस काव्य में जीवन के विविध पहलुओं के चित्रण के साथ प्रेम विराग और पारस्परिक सहयोग का पूर्णतया विश्लेषण किया है। लेखक ने धार्मिक भावना के साथ जीवन की मूल वृत्ति काम वासना का भी विश्लेषण किया। चरितों के मनोवैज्ञानिक विकास, प्रवृत्तियों के मार्मिक उद्घाटन एवं विभिन्न मानवीय व्यापारों के निरूपण में कवि को पूर्ण सफलता मिली है।

वस्तुवर्णनों में भीषण अटवी, मदनमहोत्सव, वर्षाऋतु वसन्त सूर्योदय, सूर्यास्त, पुत्रजन्मोत्सव, विवाह, युद्ध, समुद्रयात्रा, धर्मसभाएँ, नायिकाओं के रूप सौन्दर्य, उद्यान क्रीड़ा आदि का समावेश है। वर्णनों को सरस बनाने के लिए लाटानुप्रास, यमक, श्लेष उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यास, रूपक आदि का उचित प्रयोग किया है। विरहावस्था के कारण विस्तरे पर करवट बदलते हुए और दीर्घ निःश्वास छोड़कर सन्तप्त हुए पुरुष की उपमा भाड़ में भुने चनों के साथ दी हैं कवि कहता है–

भट्ठियचणगो वि य सयणीये कीस तडफडसि ॥ 3 ।148 ॥

रसनिष्पत्ति की दृष्टि से यह काव्य उत्कृष्ट है। विविध रसों का समावेश होने पर भी शान्तरस का निर्मल स्वच्छ प्रवाह अपना पृथक अस्तित्व व्यक्त कर रहा है। सुरसुन्दरी सन्यास ग्रहण कर घोर तपश्चरण करती। कषाय और इन्द्रिय-निग्रह की क्षमता उसमें अपूर्ण शान्ति का संचार करती है। शत्रुन्जय और नरवाहन के युद्ध के प्रसंग में वीर रस के साथ बीभत्स एवं भयानक रस का भी सुन्दर चित्रण हुआ है।

प्राकृत भाषा में निबद्ध यह कथा राजकुमार मकरकेतु और सुरसुन्दरी का एक प्रेमाख्यान है। सुरसुन्दरी कुशलाग्रपुर के राजा नरवाहनदत्त की पुत्री थी। वह नाना विद्याओं में निष्णात थी। चित्र देखने से उसे हस्तिनापुर के मकरकेतु नामक राजकुमार से आसक्ति हो गई थी। उसकी सखी प्रियंवदा मकरकेतु की तलाश में निकलती है। बड़ी कठिनाईयों और नाना घटनाओं के पश्चात् सुरसुन्दरी और

मकरकेतु का पुनर्मिलन और विवाह हुआ। पश्चात् संसारसुख भोग दोनों ने दीक्षा ले तपस्या कर मोक्षपद पाया।

धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों को विवेचित करने वाला यह ग्रन्थ अपने काव्यात्मक वर्णनों के कारण अत्यंत ही सरस एवं सजीव है। प्रेम एवं राग की मार्मिक अभिव्यंजना करने वाली यह गाथा दृष्टव्य है –

ताव च्चिय परम-सुहं जाव न रागो मणम्मि उच्छरइ।

हंदि! सरागम्मि मणे दुक्ख-सहस्साइं पविसंति॥ (गा. 8.80)

अर्थात् – जब तक मन में राग का उदय नहीं होता है, तब तक परम सुख है, क्योंकि राग युक्त मन में हजारों दुःख प्रवेश कर जाते हैं।

441. सुसढचरित

राजा की आज्ञा भंग करने से इस भव और परभव में अनेक दुःख मिलते हैं। सुसढ ने चतुर्थ, षष्ठ-व्रत कर उन दुःखों को पार कर लिया। महानिशीथ की अन्तिम चूला में सुसढ का चरित वर्णित है। उसको लेकर देवेन्द्रसूरि ने प्राकृत गाथाओं में इसकी रचना की है। इसकी हस्तलिखित प्रतियों में 487 से लकर 420 प्राकृत –गाथाएँ मिलती हैं।

442. सूत्रकृतांग (सूयगडो)

अर्धमागधी आगम ग्रन्थों में सूत्रकृतांग दो श्रुतस्कन्धों में विभक्त एक दार्शनिक ग्रन्थ है। सूत्रकृतांग के सूतगड, सुत्तकड एवं सूयगड नाम भी प्रचलित हैं। समवायांग में सूत्रकृतांग का परिचय देते हुए लिखा गया है कि इसमें स्वमत, परमत, जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध और मोक्ष आदि तत्त्वों का विश्लेषण है एवं नवदीक्षितों के लिए बोध वचन हैं। सूत्रकृतांग मुख्य रूप से 180 क्रियावादी, 84 अक्रियावादी, 67 अज्ञानवादी एवं 32 विनयवादी मतों की चर्चा करते हुए उनका निरासन किया गया है तथा अन्य मतों का परित्याग कर शुद्ध श्रमणाचार का पालन करने का संदेश दिया गया है।

प्रथम श्रुतस्कन्ध के 16 अध्ययनों में स्वसमय, परसमय, परीषहजय, कषायजय, नरकों के दुःख, महावीर की स्तुति, परिग्रह त्याग, उत्तम साधु के

लक्षण, माहण, श्रमण, भिक्षु और निर्ग्रंथ शब्दों की व्युत्पत्ति भली प्रकार से व्याख्या कर उदाहरणों एवं रूपकों द्वारा समझाई गई है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में 7 अध्ययन हैं, जिनमें परमतों के खण्डन के साथ-साथ श्रमणों के आचार का प्रतिपादन हुआ है। जीव एवं शरीर के एकत्व, ईश्वर कर्तत्व, नियतिवाद, आहार दोष, भिक्षादोष आदि पर विशेष प्रकाश डाला गया है। अन्तिम अध्ययन 'नालन्दीय' में नालन्दा में हुए गौतम गणधर और पार्श्वनाथ के शिष्य पेढ़ालपुत्र का मधुर संभाषण वर्णित है। इसमें पेढ़ालपुत्र गौतम गणधर से प्रतिबोध पाकर चातुर्याम धर्म को छोड़कर भगवान् महावीर के पास पंच महाव्रत रूप धर्म को अंगीकार करता है। उस युग की जो दार्शनिक दृष्टियाँ थीं, उनकी जानकारी तो इस आगम से मिलती ही है साथ ही ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से भी प्राकृत साहित्य की अनुपम रचना है।

443. सूर्य प्रज्ञप्ति/चन्द्र प्रज्ञप्ति

अर्धमागधी आगम साहित्य का सूर्यप्रज्ञप्ति को भी कहीं पाँचवां, कहीं छठवाँ एवं कहीं सातवाँ ग्रन्थ उपांग माना है। इसमें 20 पाहुड, 108 गद्य सूत्र तथा 103 पद्य गाथाएँ हैं। प्रसंगवश द्वीप एवं सागरों का निरूपण हुआ है। प्राचीन ज्योतिष सम्बन्धी मूल मान्यताएँ भी इसमें संकलित हैं। इसे ज्योतिष, भूगोल, गणित एवं खगोल विज्ञान का महत्त्वपूर्ण कोश कह सकते हैं।

इस उपांग में 20 पाहुड और 108 सूत्र है। इसमें सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतियों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रसंगवश द्वीप और सागरों का निरूपण भी आया है। ब्राह्मण पुराणों की भाँति जैनों ने भी इस लोक में असंख्यात द्वीप और समुद्र स्वीकार किये है। इन असंख्यात द्वीप-समुद्रों के बीच में मेरू पर्वत अवस्थित है। पहले जम्बूद्वीप है, उसके बाद लवणसमुद्र, फिर धारती खंड, कालोद समुद्र, पु करवर द्वीप- इस प्रकार मेरू असंख्यात द्वीप समुद्रों से घिरा है। जम्बूद्वीप के दक्षिणभाग में भारतवर्ष और उत्तरभाग में ऐरावतवर्ष है, तथा मेरू पर्वत के पूर्व और पश्चिम में स्थित विदेह, पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह- इन दो भागों में बँट गया है। सूर्य, चन्द्र और नक्षत्र मेरुपर्वत के चारों ओर भ्रमण करते है।

जैन मान्यता के अनुसार जब सूर्य जम्बूद्वीप में 180 योजन से अधिक प्रवेश कर परिभ्रमण करता है तो अधिक से अधिक 18 मुहूर्त्त का दिन और कम से कम 12 मुहूर्त्त की रात होती है।

डॉ. विन्टरनित्ज सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्राप्ति को वैज्ञानिक ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। अन्य पाश्चात्य विचारकों ने भी उनमें उल्लिखित गणित और ज्योतिष विज्ञान को महत्त्वपूर्ण माना है। डॉ. शुब्रिंग ने जर्मनी की हेमबर्ग यूनिवर्सिटी में अपने भाषण में कहा कि जैन विचारकों ने जिन तर्क सम्मत एवं संसंमत सिद्धान्तों को प्रस्तुत किया वे आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं की दृष्टि से भी अमूल्य एवं महत्त्वपूर्ण है। विश्वरचना के सिद्धान्त के साथ-साथ उसमें उच्चकोटि का गणित एवं ज्योतिष विज्ञान भी मिलता है। सूर्यप्रज्ञप्ति में गणित एवं ज्योतिष पर गहराई से विचार किया गया है। अतः सूर्यप्रज्ञप्ति के अध्ययन के बिना भारतीय ज्योतिष के इतिहास को सही रूप से नहीं समझा जा सकता। चन्द्रप्रज्ञप्ति में चन्द्र के परिभ्रमण का उल्लेख मुख्य रूप से हुआ है। चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति का वर्णन प्रायः समान है। केवल मंगलाचरण के रूप में जो 18 गाथाएँ दी गई हैं वे विशेष हैं।

444. सेतुबन्ध

काव्य की प्रौढ़ता और अभिव्यक्ति की सघनता के कारण प्राकृत की जिन कृतियों को शास्त्रीय महाकाव्य कहा जाता है उनमें प्रवरसेन कृत सेतुबन्ध अद्वितीय शास्त्रीय महाकाव्य है। बाल्मीकी रामायण के युद्धकाण्ड की कथावस्तु सेतुबन्ध के कथानक का आधार है। इस महाकाव्य में मुख्यरूप से दो घटनाएं हैं।- सेतुबन्ध और रावणवध। अतः इन दोनों प्रमुख घटनाओं के आधार पर प्रवरसेन के इस काव्य का नाम सेतुबन्ध अथवा रावणवध प्रचलित हुआ है। इस काव्य के टीकाकार रामदास भूपति ने इसे रामसेतु भी कहा है और अपनी टीका को रामसेतुप्रदीप। वस्तुतः महाकवि ने इस ग्रन्थ में सेतु - रचना के वर्णन में अधिक उत्साह दिखलाया है। अतः सेतुबन्ध इस काव्य का सार्थक नाम है। रावणवध को इस काव्य का फल कहा जा सकता है।

सेतुबन्ध के रचनाकार कवि प्रवरसेन है। क्योंकि इस ग्रन्थ के प्रत्येक आश्वास के अन्त में पवरसेन विरइए का उल्लेख है। सेतुबन्ध की कुछ प्रतियों में

भी केवल प्रवरसेन का नाम कर्ता के रूप में उल्लिखित है। बाणभट्ट और क्षेमेन्द्र ने भी सेतुबन्ध के कर्ता के रूप में प्रवरसेन का नाम उल्लिखित किया है अपनी कृतियों में। कम्बुज के एक शिलालेख में भी स्पष्ट कहा गया है कि यशोवर्मा (889-909) अपनी प्रवरसेन द्वारा स्थापितधर्म सेतुओं से दूसरे प्रवरसेन को पीछे छोड़ गया, क्योंकि उसने केवल एक प्राकृत सेतु (प्राकृत भाषा में सेतुबन्ध महाकाव्य) का निर्माण किया है -

येनप्रवरसेनेन धर्मसेतुं विवृण्वता।
परः प्रवरसेनोऽपि जितः प्राकृत सेतुकृत॥

-इन्स्क्रप्संस आफ कंबोज, लेख नं. 33, पृष्ठ 99

सेतुबन्ध महाकाव्य कथोपकथन तथा भाषाशैली में कालिदास के अधिक निकट है। उन्होंने भावनाओं को भी कथोपकथन से प्रस्तुत किया है। हनुमान जब सीता का समाचार लेकर लौटते हैं तो उनका प्रत्येक वचन राम पर अपना प्रभाव छोड़ता है। कवि कहता है कि जब हनुमान ने आकर कहा कि मैंने देखा है तो राम को विश्वास नहीं हुआ, सीता क्षीण शरीर हो गयी है यह सुनकर राम ने गहरी सांस ली। सीता तुम्हारी चिंता करती है यह सुनकर राम रोने लगे और सीता सकुशल जीवित हैं यह सुनकर राम ने हनुमान को गले से लगा लिया। यथा -

दिट्ठ त्तिण सद्दहिअं झीणं त्ति सबाह-मन्थरं णीससिअं।
सोअइ तुमं त्ति रुण्णं पहुणा जिअइ त्ति मारुई अवऊढो ॥

सेतुबन्ध में महाकाव्योचित अनेक गुण हैं। किन्तु वे किसी परम्परा पर आधारित नहीं है। कवि ने प्रकृति का वर्णन प्रमुख कथा के प्रसंगों के अनुसार किया है, महाकाव्य की मांग के अनुसार नहीं। कालिदास की भांति उन्होने प्रकृति का मानवीकरण भी नहीं किया। यद्यपि प्रकृति का मानव स्वभाव से सम्बन्ध अवश्य स्थापित किया है। सेतुबन्ध में अलंकार एवं छन्द आदि का काव्यात्मक उपयोग भी हुआ है। यह काव्य वीररस प्रधान काव्य है, अतः श्रृंगार रस का इसमें कम वर्णन है। किन्तु अद्भुत रस और करुणरस की अभिव्यंजना इस काव्य की विशेषता है।

सेतुबन्ध में प्रमुखतः अनुप्रास, यमक और श्लेष जैसे शब्दालंकरों का

प्रयोग अधिक हुआ है। अर्थालंकारों में उपमा, रूपक तथा उत्प्रेक्षा अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग प्रवरसेन ने किया है। अनेक चित्रों में कवि ने उपमा के साथ अन्य अलंकारों का समावेश भी कर दिया है। एक स्थान पर वे कहते हैं कि राम की दृष्टि सुग्रीव के वक्षस्थल पर वनमाला की तरह, हनुमान पर कीर्ति के समान, बानर सेना पर आज्ञा के समान, और लक्ष्मण के मुख पर शोभा के समान पड़ी –

सोहव्व लक्खणमुहं वणमालव्व विअडं हरिवइस्स उरअं।
कित्तिव्व पवणतणअं आणव्व बलाइं से विलग्गइ दिट्ठी ॥

आ.।, गा. 48

उत्पेक्षा अलंकार कवि को सर्वाधिक प्रिय है। एक दृश्य के कई पक्षों को चित्रित करने में कवि सिद्धहस्त हैं। वहाँ उत्प्रेक्षा की श्रृंखला जैसी बन जाती है। सागर को विराटरूप, विस्तार और आतंकित करने वाले स्वरूप को प्रकट करते हुए कवि कहता है कि सागर मानों वृक्षहीन पर्वत है, मानों बर्फ से आहत कमलों वाला सरोवर है, मानों वह मदिरा से खाली प्याला या चांद से रहित अंधेरी रात है–

उक्खअदुमं व सेलं हिमहअकमलाअरं व लच्छि विमुक्कं।
पीअमइर व्व चसअं बहुलपओसं व मुद्धचन्दविरहिअं ॥

– आ . 2, गा. 11

सेतुबन्ध की 1290 गाथाओं में से 1246 आर्या गीतिछन्द हैं और 44 विविध प्रकार के गलितक छंद हैं। इस काव्य में अनेक छंदों के प्रयोग का आग्रह नहीं है। फिर भी सेतुबन्ध के काव्यत्व में कोई कमी नहीं है। यह ग्रन्थ सांस्कृतिक और नैतिक आदर्शों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण प्राकृत महाकाव्य है। आत्म निर्भरता, आत्मसंयम, पुरुषार्थ, वीरता, और मैत्री –निर्वाह का यह आदर्श काव्य है।

सांस्कृतिक दृष्टि से भी यह महाकाव्य महत्त्वपूर्ण है। मंगलाचरण की प्रारम्भिक गाथाओं में अवतारवाद का पूर्ण विकास परिलक्षित होता है। यक्ष एवं नाग संस्कृति का भी इसमें वर्णन हुआ है। मैत्री–निर्वाह, कर्त्तव्य–पालन आदि सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठापना कर कवि ने व्यक्ति के नैतिक जीवन को भी उठाने का प्रयास किया है। काव्यात्मक सौन्दर्य की दृष्टि से भी यह सर्वश्रेष्ठ

काव्य है। श्लेष, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास आदि अलंकारों की स्थान-स्थान पर नैसर्गिक उपस्थापना हुई है। प्रकृति चित्रण में कवि पूर्ण सिद्धहस्त हैं। विशेषकर शरद ऋतु के वर्णन में उनकी प्रखर प्रतिभा सामने आई है। जड़ एवं चेतन दोनों पर ही शारदीय सुषमा के प्रभाव का कवि ने बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया है। यथा -

तो हरिवइजसवन्थो राहवजीअस्स पढमहत्थालम्बो।
सीताबाहविहाओदहमुहवज्झदिअहो उवगओ सरओ॥ ...

अर्थात् - सुग्रीव के यश-मार्ग, राघव के जीवन के प्रथम हस्तालम्ब, सीता के आंसुओं के विघातक और रावण के वध दिवस के रूप में शरद उपस्थित हुआ।

445. सेयंसचरिय

ग्यारहवें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ पर दो प्राकृत पौराणिक काव्य उपलब्ध हैं। प्रथम तो वृहदगच्छीय जिनदेव के शिष्य हरिभद्र का जो सं. 1172 में लिखा गया था। इसका ग्रन्थाग्र 6584 लोक प्रमाण है। द्वितीय चन्द्रगच्छीय अजितसिंहसूरि के शिष्य देवभद्र ने ग्रन्थाग्र 11000 प्रमाण रचा था। इसकी रचना का समय ज्ञात नहीं फिर भी यह वि. सं. 1332 से पहले बनी है क्योंकि मानतुंगसूरि ने अपने संस्कृत श्रेयांसचरित (सं. 1332) का आधार इस कृति को ही बतलाया है। इस रचना का उल्लेख प्रवचनसारोद्धारटीका में उनके शिष्य सिद्धसेन ने किया है। देवभद्र की अन्य रचनाओं में तत्त्वबिन्दु और प्रमाण प्रकाश भी है।

446. सोमप्रभाचार्य

इस कुमारपाल-प्रतिबोध (कुमारवाल-पडिबोह) की रचना सोमप्रभाचार्य ने की है। सोमप्रभ के पिता का नाम सर्वदेव और पितामह का नाम जिनदेव था। ये पोरवाड़ जाति के जैन थे। सोमप्रभ ने कुमार अवस्था में जैन-दीक्षा ले ली थी। वे बृहद्गच्छ के अजितदेव के प्रशिष्य और विजयसिंहसूरि के शिष्य थे। सोमप्रभ ने तीव्र बुद्धि के प्रभाव से समस्त शास्त्रों का तलस्पर्शी अभ्यास कर लिया था। वे महावीर से चलनेवाली अपने गच्छ की 40वीं पट्टपरम्परा के आचार्य थे। इनकी अन्य रचनाएँ शतार्थीकाव्य, शृंगारवैराग्यतरंगिणी, सुमतिनाथचरित्र, सूक्तमुक्तावली आदि मिलती है। इनका शतार्थीकाव्य की रचना के कारण शतार्थिक उपनाम भी

हो गया था। कुमारपालप्रतिबोध की रचना सं. 1241 में हुई थी जो कुमारपाल की मृत्यु के 11 वर्ष बाद आता है। यह इतिहास की दृष्टि से अधिक महत्त्व की रचना है।

447. स्वयंभूछंद

स्वयंभूछंद के रचयिता अपभ्रंश के महाकवि स्वयंभू हैं। इनका समय लगभग 8-9वीं शताब्दी माना गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ तेरह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम आठ अध्यायों में प्राकृत छन्दों का विवेचन किया गया है तथा अन्तिम पाँच अध्यायों में अपभ्रंश छंदों का विवेचन है। छंदों को समझाने के लिए उदाहरण प्रायः प्राकृत कवियों की रचनाओं के ही दिये गये हैं। स्वयंभू के पउमचरिउ के अनेक उदाहरण भी इसमें आये हैं। उदाहरण स्वरूप आई गाथाएँ काव्य-तत्त्वों की दृष्टि से समृद्ध हैं। सुभाषितों का भी इनमें प्रयोग हुआ है। यथा -

ते विरला सप्पुरिसा जे अभणंता घडंति कज्जालावे।
थोअ च्चिअ ते अ दुमा जे अमुणिअकुसुमणिग्गमा देंति फलं॥

(गा.3.1)

अर्थात् - जैसे वे वृक्ष थोड़े ही होते हैं, जो फूलों के निकले बिना फल देते हैं। उसी प्रकार वे सज्जन पुरुष बिरले ही होते हैं, जो बिना प्रलाप किये कार्य पूरा करते हैं।

इन प्रमुख छंद ग्रन्थों के अतिरिक्त प्राकृत के कुछ अन्य छंद-ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है। नन्दिषेणकृत अजितशान्तिस्तव में प्रयुक्त 25 छंदों का विवेचन जिनप्रभ की टीका में छंदोलक्षण के अन्तर्गत मिलता है। कविदर्पण के टीकाकार ने अपनी टीका में छंदःकदली का उल्लेख किया है। इसके कर्त्ता का नाम ज्ञात नहीं है। वज्रसेनसूरि के शिष्य रत्नशेखरसूरि द्वारा विरचित छंदःकोश में 74 गाथाओं में अपभ्रंश के छंदों का विवेचन मिलता है।

448. हरिभद्र सूरि

संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभ्रद का नाम सर्वप्रथम आता है। ये संस्कृत एव प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड-पण्डित थे। उनका समय वि.स. 757 सौ 727 का है। प्रभावकचरित के अनुसार उनके दीक्षागुरु आचार्य जिनभद्र थे। पर स्वयं उनके उल्लेखानुसार जिनभद्र उनके गच्छपतिगुरु थे किन्तु जिनदत्त उनके

दीक्षागुरु थे। याकिनी महत्तरा उनकी धर्ममाता थीं। उनका कुल विद्याधर था। गच्छ एवं सम्प्रदाय श्वेताम्बर था।

सिताम्बराचार्यजिनभद्रनिगदानुसारिणोविद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्य धर्मतो याकिनी महत्तरासूनोः अल्पमतेः आचार्यहरिभद्रस्य – आवश्यकनिर्युक्ति टीका।

आचार्य हरिभद्र ने 1444 ग्रन्थों की रचना की थी। राजशेखरसूरि ने चतुर्विंशतिप्रबन्ध एवं मुनि क्षमाकल्याण ने खरतरगच्छ की पट्टावली में लिखा है कि बौद्धों के संहार करने का संकल्प के कारण उनके गुरु ने 1444 ग्रन्थ लिखने की आज्ञा प्रदान की थी। आचार्य हरिभद्र ने अपने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में विरह शब्द का प्रयोग किया है। प्रभावकचरित्रानुसार अपने दो अत्यन्त प्रिय शिष्यों के विरह से व्यथित होकर ही उन्होंने प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में विरह शब्द लिखा है। वर्तमान में हरिभद्र सूरि के 75 ग्रन्थ मिलते हैं। जिनमें उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य और विलक्षण प्रतिभा के संदर्शन होते हैं। इनके ग्रन्थों में समराइच्चकहा, धूर्ताख्यान, उपदेशपदटीका, दशवैकालिकवृत्ति आदि प्रसिद्ध हैं।

449. हाथीगुम्फा शिलालेख

चेदि वंश में जैन सम्राट खारवेल जो उस समय उड़ीसा (कलिंग) का चक्रवर्ती सम्राट था। उसका एक शिलालेख उड़ीसा के भुवनेश्वर तीर्थ के पास उदयगिरि पर्वत की गुफा में खुदा हुआ मिलता है। यह हाथीगुम्फा के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें कलिंग के राजा खारवेल के जीवन वृत्तांतों तथा उसके शासन काल के प्रथम 13 वर्ष की घटनाओं का वर्णन है। यह शिलालेख ई.पू. 150 के लगभग का है। ब्राह्मी लिपि में लिखे गये इस अभिलेख में 17 पंक्तियाँ हैं, जो करीब 84 वर्ग फुट क्षेत्रफल में लिखी गई हैं। इसकी भाषा प्राचीन शौरसेनी या जैन शौरसेनी से मिलती-जुलती है।

हाथीगुम्फा अभिलेख जैन अर्हतों की स्तुति से प्रारंभ होता है। लेकिन इसका उद्देश्य लौकिक ही है। यह प्राचीनतम राज प्रशस्ति है, जिसमें खारवेल के शासन काल की घटनाओं को गिनाया गया है। इस दृष्टि से यह समुद्रगुप्त की प्रयाग प्रशस्ति से तुलनीय है।

खारवेल का हाथीगुम्फा शिलालेख भारतीय साहित्य एवं इतिहास दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इतिहासकारों का मत है कि मौर्यकाल की वंश परम्परा तथा कालगणना की दृष्टि से इसका महत्त्व अशोक के शिलालेखों से अधिक है। इसमें वंश तथा वर्ष संख्या का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। तत्कालीन सामाजिक एवं राज व्यवस्था का सुन्दर चित्रण है। खारवेल के हाथगुम्फा अभिलेख से निम्न महत्त्वपूर्ण बातें ज्ञात होती हैं।

1. इस अभिलेख से सम्राट खारवेल के व्यक्तिगत जीवन का पता चलता है। पन्द्रह वर्ष की आयु में उसे युवराज बनाया गया था तथा 24 वर्ष की आयु में उसका राज्याभिषेक किया गया था।

2. इस शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल एक सफल विजेता था। उसने अपने समय की राजनीति को अत्यधिक प्रभावित किया। दक्षिण आन्ध्र वंशी राजा शातकर्णी खारवेल का समकालीन था। शातकर्णी की परवाह न करके खारवेल ने शासन के दूसरे वर्ष में दक्षिण में एक बड़ी भारी सेना भेजी। शासन के चौथे वर्ष में भोजकों, पूर्वी खानदेश और अहमदनगर के रठिकों के विरूद्ध सैनिक अभियान किया। खारवेल ने मगध पर चढ़ाई की और वहाँ के राजा बहसति मित्र को पराजित किया तथा कलिंग जिन-प्रतिमा जिसे नन्द शासक शताब्दियों पहले ले गया था, उसे अपनी राजधानी वापस लाया। सुदूर दक्षिण के पाण्ड्य राजा के यहाँ से खारवेल के पास बहुमूल्य उपहार आते थे। उत्तर से लेकर दक्षिण तक समस्त भारत में उसने विजयपताका फहराई थी।

3. खारवेल एक वर्ष विजय के लिए प्रस्थान करता था तो दूसरे वर्ष महल आदि बनवाता, दान देता तथा प्रजाहित के कार्य करता था। शासन काल के पाँचवें वर्ष में वह तनसुलि से एक नहर के जल को अपनी राजधानी में लाया था। छठें वर्ष में एक लाख मुद्रा व्यय करके उसने अपनी प्रजा पर अनुग्रह किया और ब्राह्मणों को बड़े-बड़े दान दिये। उसने ग्रामीण तथा शहरी जनता के कर माफ किये।

4. खारवेल का यह अभिलेख ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भारत वर्ष का सर्वप्रथम उल्लेख इसी शिलालेख की दसवीं पंक्ति में भरधवस के

रूप में मिलता है। इस देश का नाम भारतवर्ष है इसका पाषाणोत्कीर्ण प्रमाण यही शिलालेख है। खारवेल के इस अभिलेख से जैन धर्म की प्राचीनता का ज्ञान होता है। नन्दवंशीय राजा नंद के समय में भी जैन धर्म का प्रचार था। इस शिलालेख की 12वीं पंक्ति में स्पष्ट उल्लेख है कि शताब्दियों पहले नंद जिस कलिंग-स्थित जिन की प्रतिमा को ले गया था, उसे सम्राट खारवेल ने मगध पर चढ़ाई करके वापस प्राप्त किया। जैन पंच नमस्कार मंत्र सर्वप्रथम लिखित रूप में इसी शिलालेख में नमो अरहंतानं। नमो सवसिधानं के रूप में प्राप्त होता है।

5. इस अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि सम्राट खारवेल एक जैन धार्मिक नरेश था। उसने जैन साधुओं को संरक्षण प्रदान किया था तथा उनके निर्वाह के लिए पर्याप्त दान दिये। उसने एक बड़ा जैन सम्मेलन उड़ीसा के कुमारी पर्वत पर बुलाया था, उसमें पण्डित, ऋषि, श्रमण एवं तपस्वी आदि एकत्रित हुए थे। मौर्यकाल में जो श्रुत विस्मृत हो गया था, उसका उसने पुनरुद्धार कराया। जैन संघ ने खारवेल को खेमराजा, भिक्षुराजा और धर्मराजा की पदवी प्रदान की थी। वह स्वयं जैन था, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति उसमें सहिष्णुता थी। उसने सभी देवताओं के मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था।

6. भाषिक एवं साहित्यिक दृष्टि से इस अभिलेख का अपना महत्त्व है। इसमें शौरसेनी प्राकृत भाषा की एक निश्चित परम्परा दृष्टिगोचर होती है। यद्यपि इसमें शौरसेनी की समस्त प्रवृत्तियाँ विद्यमान नहीं हैं तथापि उसके आदि रूपों की झलक इसमें प्राप्त होती है। अशोक के शिलालेखों की अपेक्षा इस शिलालेख में भाषा का प्रवाह अधिक देखने में आता है, जिससे इस काल की प्राकृत की समृद्धता का अनुमान किया जा सकता है। इसके शब्द विन्यास रचयिता की काव्य कुशलता का संकेत देते हैं। शब्द नपे-तुले हैं। संक्षिप्तता में यह सूत्रशैली की याद दिलाता है।

450. हाल कवि (सातवाहन)

गाथासप्तशती के संग्रहकर्ता ने एक करोड़ प्राकृत पद्यों में से केवल 700 पद्यों को चुना है। बाण, उद्योतनसूरि तथा रुद्रट, मम्मट, वाग्भट, विश्वनाथ और

गोवर्धन आचार्य आदि काव्य और अलंकार-ग्रन्थों के रचयिताओं ने इस काव्य की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और इसकी गाथाओं को अलंकार, रस आदि के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।

कविवत्सल हाल अथवा आंध्रवंश के सातवाहन (शालिवाहन) को इस कृति का संग्रहकर्त्ता माना जाता है। सातवाहन और कालकाचार्य के बीच सम्बन्ध था। सातवाहन प्रतिष्ठान में राज्य करते थे तथा बृहत्कथाकार गुणाढ्य और व्याकरणाचार्य शिववर्मा और आदि विद्वानों के आश्रयदाता थे। भोज के सरस्वती कंठाभरण (2.15) के अनुसार जैसे विक्रमादित्य ने संस्कृत भाषा के प्रचार के लिए प्रयत्न किया, उसी प्रकार शालिवाहन ने प्राकृत के लिए किया। राजशेखर काव्यमीमांसा (पृ. 50) के अनुसार अपने अंतःपुर में शालिवाहन प्राकृत में ही बातचीत किया करते थे **(श्रूयते च ककुंतलेषु सातवाहनो नाम राजा, तेन प्राकृतभाषात्मकन्तःपुर एवेति समानं पूर्वेण)**। बाण ने अपने हर्षचरित में सातवाहन को प्राकृत सुभाषित-रत्नों का संकलनकर्त्ता कहा है। इनका समय ईसवी सन् 69 माना जाता है। गाथासप्तशती के ऊपर 18 टीकायें लिखी जा चुकी हैं, जैन विद्वानों ने भी टीका लिखी हैं। जयपुर के श्री मथुरानाथ शास्त्री ने इस पर व्यंग्यसर्वकषा नाम की संस्कृत में पांडित्यपूर्ण टीका लिखी है।

451. हीरालाल जैन (प्रोफेसर)

बीसवीं शताब्दी जैन साहित्य के विकास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है जिसमें अनेक मनीषियों ने अपनी विशेष प्रतिभा द्वारा आधुनिक पद्धति में जैन साहित्य में छिपे रहस्यों को जन-जन के समक्ष उजागर किया। उनमें श्रद्धेय डॉ. हीरालाल जैन का नाम उल्लेखनीय है। इन्होंने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में लिखे गये आचार्यों के ग्रन्थों का कुशल संपादन, अनुवाद एवं महत्त्वपूर्ण प्रस्तावनायें लिखीं तथा ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्यों के काल-निर्धारण आदि का कार्य कर उनको प्रकाशित किया। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व बहुआयामी है तथा जैन संस्कृति की प्रभावना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। डॉ. हीरालाल जैन का जन्म 18 सितम्बर 1899 को मध्य प्रदेश के नरसिंहपुर जिले के गांगई नामक ग्राम में हुआ था। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आप इलाहाबाद गये। 1920 में स्नातक

परीक्षा तथा इसके बाद संस्कृत में एम.ए. किया। सन् 1925 में किंग एडवर्ड कालेज अमरावती विदर्भ मध्यप्रदेश में संस्कृत के प्राध्यापक होने के बाद सन् 1932 ई. से जो साहित्य संपादन एवं लेखन यात्रा की, वह 13 मार्च 1973 ई. उनकी मृत्यु तिथि पर्यन्त अनवरत रूप से चलती रही।

डॉ. जैन ने सन् 1932 में णायकुमारचरिउ, सावयधम्मदोहा, सन् 1933 में पाहुडदोहा, करकंडचरिउ, सन् 1934 से 1958 तक षटखण्डागम धवला टीका, जैन शिलालेख संग्रह, तत्व-समुच्चय, सन् 1962 में "भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान" मयणपराजय, सन् 1966 में सुगंधदशमीकथा, सन् 1969 में कहाकोसु, सन् 1970 में सुदंसणचरिउ, वीरजिणिंदचरिउ, आदि ग्रंथों का सम्पादन, अनुवाद आदि कार्य किया। डॉ. जैन ने अपने जीवन-काल में लगभग 14000 पृष्ठों की अपूर्व शोध-सामग्री प्राच्य विद्या जगत् को प्रदान की है। प्रो. हीरालाल जैन ने अनेक ग्रंथों का संपादन किया परन्तु उनमें वीरसेनाचार्य की षट्खण्डागम ग्रंथ की धवला टीका के 16 खण्ड उनकी साहित्य साधना के कीर्तिस्तम्भ जैसे हैं। जिस तरीके से उन्होंने प्राच्य परम्पराओं के विशेषज्ञ विद्वानों को जोड़कर प्रामाणिक रूप से संपादन कराया आज वह साहित्यिक जगत् की अमूल्य धरोहर बन गया है।

डॉ. हीरालाल जैन ने मुख्यमंत्री डॉ. श्रीकृष्णसिन्हा के विशेष अनुरोध पर सन् 1955 में प्राकृत शोध संस्थान वैशाली, के संस्थापक निदेशक का पद-भार ग्रहण किया था। प्राकृत शोध संस्थान वैशाली से त्यागपत्र देने के बाद डॉ. जैन ने जबलपुर विश्वविद्यालय में संस्कृत, प्राकृत एवं पालि विभाग के अध्यक्ष तथा कला संकायाध्यक्ष के पद पर कार्य किया। वहीं से आप सेवानिवृत्त हुए।

452. हेमचन्द्राचार्य

सर्वतोमुखी प्रतिज्ञा के धनी आचार्य हेमचंद्र एक युगप्रवर्त्तक महापुरुष थे। जैन धर्म और जैन विद्याओं के तो वे एक महान् आचार्य व प्रकांड पंडित थे ही, ब्राह्मणों के कहे जाने वाले शास्त्रों व विद्याओं में भी वे पारंगत थे। अगाध, व्यापक व सर्वतोगामी पांडित्य के साथ-साथ वे उच्चकोटि के कवि भी थे। उनके द्वयाश्रयकाव्य उनके सहृदयत्व व शास्त्रीय वैदुष्य का मणिकांचन योग प्रस्तुत

करता है। उद्‌भट विद्वान् व सहृदयत्व कवि होने के साथ ही आचार्य हेमचन्द्र एक उदारमना सन्त, प्रगतिशील समाजसुधारक, उत्साही धर्मप्रचारक एवं प्रभावशाली उपदेशक भी थे। गुजरात प्रांत में जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में उनका योगदान किसी भी अन्य आचार्य से अधिक रहा। गुजरात के तत्कालीन शासक सिद्धराज जयसिंह व कुमारपाल उनका अत्यधिक सम्मान करते थे। यहाँ तक कि कुमारपाल उनके व्यक्तिगत संपर्क व उपदेशों के प्रभाव से जैनधर्म का अनुयायी हो गया था। गुजरात के समकालीन राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जीवन पर हेमचन्द्र का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने गुजरात में विद्यानुशीलन, शास्त्राभ्यास व साहित्य-साधना का एक उच्चस्तरीय वातावरण बनाने में अपूर्व योगदान किया। हेमचंद ने अपने युग में प्रचलित प्रायः सभी प्रधान शास्त्रों का मंथन कर स्वयं विविध विषयों पर सरल व सुबोध शैली में अनेक विश्वकोषात्मक ग्रंथों की रचना की तथा विद्वान् व कर्मठ शिष्यों की मंडली तैयार करके गुजरात में संस्कृति, साहित्य विशेष रूप से शास्त्रों के अध्ययन-अध्यापन व प्रणयन की एक सशक्त परंपरा का सूत्रपात किया।

हेमचन्द्र का द्वयाश्रयाकाव्य, सिद्धहेमप्रशस्ति तथा त्रिषष्टिशलाकापुरुष में अन्तर्भूत महावीर चरित आदि भी उनके जीवन पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् व्यूहलर ने हेमचन्द्र के जीवन व कृतित्व पर एक विस्तृत निबन्ध लिखा है। आचार्य हेमचन्द्र का जन्म विक्रम संवत् 1145 (1088 ई.) में गुजरात प्रांत के अन्तर्गत धंधुका नामक ग्राम के एक वैश्यपरिवार में हुआ। उनके पिता का नाम चच्च अथवा चाचिंग तथा माता का नाम पाहिणी था। हेमचन्द का बचपन का नाम चंगदेव था। पूर्णतलगच्छ केशरी देवचन्द्रसूरि के प्रभाव से चंगदेव आठ वर्ष की अवस्था में श्रमण-धर्म में दीक्षित हुए। 22 वर्ष की आयु (1109 ई.) में आचार्य सूचक सूरि पद प्राप्त होने पर वे हेमचन्द्रसूरि नाम से प्रसिद्ध हुए। लगभग पचास वर्षों तक गुजरात के धार्मिक, सामाजिक साहित्यिक व राजनीतिक जीवन पर छाये रहकर सन् 1173 ई. में 84 वर्ष की आयु में महाराज कुमारपाल की मृत्यु के कुछ ही पूर्व, आचार्य हेमचन्द्र दिवंगत हुए।

हेमचन्द्रप्रणीत साहित्य परिमाण में विशाल व विषयवस्तु की दृष्टि से

विविधता-सम्पन्न है तथा उनकी कलिकालसर्वज्ञ उपाधि को चरितार्थ करता है। निम्नलिखित ग्रंथ प्रमाणिकरूप से हेमचन्द्ररचित माने जाते हैं- (1) सिद्धहेमशब्दानुशासन, (2) योगशास्त्र, (3) कुमारपालचरित या द्वयाश्रयकाव्य, (4) छन्दोऽनुशासन, (5) काव्यानुशासन, (6) कोषग्रंथ-अभिधानचिंतामणि, अनेकार्थ शब्दसंग्रह, निघंटु तथा देशीनाममाला, (7) त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, (8) वीतरागस्तुति, (9) द्वात्रिंत्रशिका तथा, (10) प्रमाणमीमांसा। इनमें से अनेक पर हेमचन्द्र ने संक्षिप्त या विस्तृत वृत्तियां व टीकाएं भी लिखी हैं। यह समय वाङ्मय उनकी बहुमुखी प्रज्ञा एवं सर्वग्राहिणी विद्वत्ता का ज्वलन्त प्रमाण है।

453. हेमचन्द्र मलधारी

मलधारी हेमचन्द्रसूरि विक्रम की 12वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक महान प्रभावक राजमान्य महापुरुष और ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं। वे प्रश्नवाहन कुल की मध्यम शाखा के हर्षपुरीय गच्छ के आचार्य मलधारी अभयदेवसूरि के प्रमुख

शिष्य एवं पट्टधर थे। मलधारी आचार्य हेमचन्द्रसूरि की तीन प्रमुख शिष्य थे विजय सिंह, श्रीचन्द्र और विबुधचन्द्र। उनमें से श्रीचन्द्र उनके पट्टधर आचार्य थे। हेमचन्द्रसूरि अपने समय के एक समर्थ प्रवचन पारगामी व्याख्याता थे। वियाहपण्णत्ति (भगवतीसूत्र) जैसा विशालकाय आगम उन्हें कण्ठस्थ था। उन्होंने अपने अध्ययनकाल में मूल आगमों, भाष्यों एवं आगमिक ग्रन्थों के साथ-साथ व्याकरण, न्याय साहित्य आदि अनेक विषयों का तलस्पर्शी अध्ययन किया था। मलधारी हेमचन्द्र ने अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशेषावश्यकभाष्य पर टीका उनका सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य है। उन्होंने वि.सं. 1164 की चैत्र शुक्ला 4

सोमवार को अणहिल्लपुर पत्तन में सिद्धराज जयसिंह के राज्यकाल में 'जीवसमासवृत्ति' की रचना की।

ooo

परिशिष्ट

(क) प्रकाशित प्राकृत ग्रन्थसूची

1. अंगविज्जा - सं. मुनि पुण्यविजय, प्राकृत ग्रन्थपरिषद्, वाराणसी, सन् 1957 ई.।

2.अंगसुत्ताणि (भाग 1, 2, 3)- जैन विश्वभारती लाडनूँ, 1970 ई.।

3. अंतगडदसाओ तथा अणुत्तरोववाइयदसाओ- सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, 12 कैनोट रोड, पूना, सन् 1932 ई.।

4. अंतकृतदशांग सूत्र - एम.डी. बारनेट, लन्दन, 1907 ई. (अंग्रेजी अनुवाद), आगमोदय समिति, बम्बई 1920 ई.

5.अजियसंतिथव- मुनि वीरविजय, अहमदाबाद, वि.सं. 1992।

6.अट्ठपाहुड- कुन्दकुन्दाचार्य, अनन्तकीर्ति ग्रन्थमाला समिति, बम्बई, वीर निर्वाण संवत् 2446।

7.अनंतनाहचरियं- नेमचन्द्र सूरि, ऋषभदेवकेशरीमल श्वेताम्बर जैन संस्था, रतलाम, सन् 1939 ई.।

8. अनुत्तरोपपातिक- अंग्रेजी भूमिका, कथानक और शब्दकोष सहित, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, पूना सन् 1932 ई.।

9. अनुयोगद्वारसूत्र- केसरीबाई ज्ञानमन्दिर, पाटन (गुजरात), वि.सं. 1995। जैन आगम ग्रन्थमाला, बम्बई 1968 ई.।

10. अभिधान राजेन्द्र कोश - जैन प्रभाकर प्रिंटिंग प्रेस, रतलाम

11. अर्धमागधीकोश- मुनि रतनचन्द्र, अजमेर, बम्बई, 1923-1932

12. आक्खानमणिकोस- (देवेन्द्र) नेमिचन्द्र, आम्रदेवकृत टीका सहित, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, वाराणसी, सन् 1962 ई.।

13. आचारांगसुत्त - आगमोदय समिति, बम्बई, 1935 ई., सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, जिल्द 22, आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

14. आचारांगचूर्णि - ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, 1941 ई.

15. आयारांगसुत्त - हर्मन याकोबी, प्रा. टे. सो. लन्दन, सन् 1982 ई. तथा अहमदाबाद, वि. सं. 1980।

16. आनन्दसुन्दरी - घनश्याम, सं. डॉ. ए.एन. उपाध्ये, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, सन् 1955 ई.।

17. आरामसोहाकहा– संघतिलकाचार्य, श्रीसंघ सूरत, वि. सं. 1997।
18. आवश्यकसूत्र – जैन शास्त्रोद्धार समिति राजकोट, 1958 ई. क्लास ब्रूह, आवश्यक स्टडीज 1, 1981 ई. जर्मनी, जैन आगम ग्रन्थमाला, बम्बई, 1977 ई.
19. आवस्सचुण्णि– श्वेताम्बर सभा, रतलाम, सन् 1928 ई.।
20. आवस्सकवित्ति टिप्पण– हरिभद्राचार्य, देवचन्द्र लालभई, अहमदाबाद।
21. इसिमंडलथोत्त–सं. यशोविजल, बड़ौदा, वि.सं. 2012।
22. इसिभासियाइं – ऋषभदेव केशरीमल संस्था रतलाम 1927 ई. प्राकृत अकादमी जयपुर, 2003, जैन विश्वभारती लाडनूँ, 2011
23. उत्तराज्झयण– सं. आर. डी. वेदकर और एन. वी. वैद्य, फर्गूसन कालेज, पूना तथा अंग्रेजी प्रस्तावना, टिप्पण आदि सहित–जार्ज चार्पेंटियर, उपसाला, सन् 1914 ई.। आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर।
24. उत्तराज्झयण (सुखबोधटीका)– सं. विजयोमंगसूरि, पुष्पचन्द्र क्षेमचन्द्र, बलाद (अहमदाबाद) सन् 1937 ई.।
25. उपासकदशांगसूत्र – आगमोदय समिति, बम्बई, 1920 ई., हार्नेल, बिब्लोभिका इंडिका, कलकत्ता 1885–88 (अंग्रेजी अनुवाद), पी. एल. वैद्या, पूना, 1930 ई.
26. उवसग्गहर– भद्रबाहु, देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, बम्बई, सन् 1933 ई.।
27. उवदेसपद महाग्रन्थ– हरिभद्र सूरि, लालचन्द नन्दलाल, मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, कोठीपोल, बड़ौदा, सन् 1923–25 ई.।
28. उवदेसमाला प्रकरण– स. हेमसागर सूरि, धनजी भाई देवचन्द जवेरी, 50–54 मीरझा स्ट्रीट, बम्बई–3, सन् 1958 ई. तथा ऋषभदेव केसरीमल संस्था, इन्दौर सन् 1936 ई.।
29. उवएसरण्णायर (उपदेशरत्नाकर) – मुनिसुन्दर, जैन ध. दि. प्र. वर्ग पालीताना (गुजरात), वि. सं. 1964।
30. उवासगदसाओ– सं. एन.ए. गोरे, ओरियन्टल बुक एजेंसी, शुक्रवार पेठ, पूना–2, सन् 1953 ई.।

31. उपांगसुत्ताणि, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 2002 ई.।
32. ऋषभपंचाशिका– काव्यमाला ग्रन्थांक–7, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1890ई.।
33. ओघनिर्युक्ति – 1957 ई. में सूरत से प्रकाशित। एडेल हाइट मेटे द्वारा 1974 ई. में प्रकाशित।
34. औपपातिकसूत्र– मूलपाठ और पाठान्तर सहित, एन. जी. गुरु, पूना, सन् 1936 ई.। जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 2002 ई.।
35. कंसवहो– रामपाणिवाद, सं. डॉ. ए. एन् उपाध्ये, हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर कार्यालय हीराबाग, बम्बई, सन् 1946 ई.।
36. कम्मथव (कर्मस्तव–कर्मग्रन्थ–2) – हिन्दी अनुवाद सहित, आगरा सन् 1918 ई.।
37. कम्मपयडी (कर्मप्रकृति) – विशशर्मा, मलयगिरि और यशोविजय टीका सहित, जैनधर्म प्रचारक सभा, भावनगर।
38. कम्मविपाग (कर्म–विपाक–कर्मग्रन्थ–1) –सं. श्री पं. सुखलालजी, लोहामण्डी, आगरा, सन् 1939 ई.।
39. करलक्खण– भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1954 ई.।
40. कल्पसूत्र– सं. अमोलक ऋषि, सर राजा ज्वालाप्रसाद, हैदराबाद। हिन्दी–गुजराती अनुवाद सहित राजकोट से प्रकाशित, 1958 ई.।
41. कल्पव्यवहारि (निशीथसूत्र) – सं. वाल्टर शूविंग, लाइपचिंग तथा अहमदाबाद।
42. कसायपाहुड (जयधवला टीकासहित) – सं. पं. फूलचन्द्र और पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, दि. जैनसंघ चौरासी, मथुरा, सन् 1944–62 ई.।
43. कसायपाहुण (सूत्र और चूर्णि) सं. पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, वीरशासनसंघ, कलकत्ता, सन् 1955 ई.।
44. कहाकोसपगरण (कथाकोषप्रकरण,– जिनेश्वर सूरि, सं. मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् 1949 ई.।)
45. कहामहोदधि– सोमचन्द्र, कर्पूर प्रकरण सहित, ही. हं. जामनगर, सन् 1913ई.।
46. कहारयणकोस– देवभद्र, सं. मुनि पुण्यविजय, आत्मानन्द सभा भावनगर, सन् 1944 ई.।

47. कप्पूरमंजरी–राजशेखर, सं. मनमोहन घोष, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, सन् 1939 ई. तथा स्टेन कोनो हार्वर्ड यूनिवर्सिटी, कैम्ब्रिज, सन् 1901 ई.। प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली, 1975।
48. कार्तिकेयानुप्रेक्षा– रायचन्द्र ग्रन्थमाला, आगास, 1960।
49. कालकाचार्यकथा– प्रो. एन. डब्ल्यू ब्राउन कृत स्टोरी ऑफ कालक के अन्तर्गत, वाशिंगटन, सन् 1933 ई.।
50. कुन्दकुन्द प्राभृत संग्रह– सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन् 1960 ई.।
51. कुमारपालचरित– हेमचन्द्र, सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, पूना सन् 1936 ई.।
52. कुमारपाल प्रतिबोध– सोमप्रभाचार्य, स. मुनि जिनविजय, गायकवाड़ ओरियन्टल सीरीज, बड़ौदा, सन् 1920 ई.।
53. कुम्मापुत्तचरियं = अनन्तहंस, सं. प्रो. के. बी. अभ्यंकर, गुजरात कालेज, अहमदाबाद सन् 1933 ई.।
54. कुवलयमाला– उद्योतनसूरि, सं. ए. एन. उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई 1959 ई.।
55. गउडवहो–हरिपाल टीका सहित, सं. शंकर पाण्डुरंग, भाण्डारकर ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् 1927 ई., प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, 1969।
56. गाथासहस्री– प्राचीन पुस्तकोद्धारक फण्ड, सूरत, 1940 ई.।
57. गाहासत्तसई– कवि हाल, गंगाधर भट्ट टीका सहित, काव्यमालाग्रन्थांक 31, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई। बेबर द्वारा जर्मन अनुवाद, 1881
58. गोम्मटसार (जीवकाण्ड और कर्मकाण्ड)– आचार्य नेमिचन्द्र, सं. जे. एल. जैनी, सेक्रेड बुक्स ऑफ जैन्स, आरा, ग्रन्थ–5, 6, 7 तथा हिन्दी अनुवाद, रामचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई, सन् 1927–28 ई.।
59. चंदप्पहचरियं– जिनेश्वरसूरि, महावीर ग्रन्थमाला, वि. सं. 1992।
60. चंदलेहा– रुद्रदास, सं. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, सन् 1945ई.।

61. चउपन्न महापुरिसचरियं– शीलंकाचार्य, सं. अमृतलाल मोहनलाल भोजक, प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी, सन् 1961 ई.।
62. छक्खंडागम (धवलाटीका सहित)– भाग 1–16– सं. डॉ. हीरालाल जैन, जैन–साहित्योद्धारक–फंड–कार्यालय, अमरावती , सन् 1939–1959 ई.।
63. जंबुचरियं–गुणपाल, सं. मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई 1959 ई.।
64. जंबूद्दीवपण्णत्ति– पद्मनंदि, जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन् 1958 ई.।
65. जयन्तचरित– सं. आचार्य विजयकुमुद सूरि, मणिविजय ग्रन्थमाला मु. लींच (महेसाणा), वि.सं. 2006।
66. जिनदत्ताख्यानद्वय– सुमतिसूरि तथा अज्ञात विद्वान्, सं. पं. अमृतलाल मोहनलाल भोजक, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, वि. सं. 2009।
67. जीतकल्पसूत्र–सं. पुण्यविजय, अहमदाबाद, वि. सं. 1994।
68. जीवाभिगम– रायधनपति सिंह बहादुर, अहमदाबाद, सन् 1939 ई.।
69. जोइसकरंडग–ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, सन् 1928 ई.।
70. ज्योतिषसार– प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1961 ई.।
71. तरंगलोला (संक्षिप्त तरंगवती)– गुजराती अनुवाद सहित, अहमदाबाद, 1979 ई., प्रो. लायमन, जर्मन अनुवाद, 1921।
72. तिलोयपण्णत्ति– यतिवृषभ, जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, सन् 1943, 1952 .।, श्रुतसंवर्धन संस्थान, मेरठ, 2004।
73. तिलोयसार– नेमिचन्द्र, माधवचन्द्रकृत संस्कृत टीका सहित, माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई वीरनिर्वाण संवत् 2444।
74. दशवैकालिकसूत्र (हारिभद्रवृत्ति)– सं. मनुसखलाल महावीर प्रिंटिंग वर्क्स, बम्बई, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, 1973 ई.।
75. देसीनाममाला– हेमचन्द्र, भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना।
76. द्रव्यपरीक्षा– प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली, 1976 ई.।
77. द्रव्यसंग्रह – सेक्रेड बुक्स आव द जैन्स सीरीज, आरा, 1917।

78. धम्मरसायण– माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1909, दिग. जैन परिषद्, कलकत्ता, 1990।
79. धर्मोपदेशमालाविवरण– जयसिंह सूरि, सं. मुनि जिनविजय, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1949 ई.।
80. धूर्ताख्यान–हरिभद्रसूरि, सं. डॉ. एन. उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1944 ई., डॉ. रंजन सूरिदेव द्वारा हिन्दी अनुवाद, 2006।
81. नन्दिसूत्र–अनु. हस्तिमल्ल मुनि, रायबहादुर मोतीलालजी मूथा, सतारा, सन् 1942 ई., जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1976 ई.।
82. नन्दीसूत्र (मलयागिरि टीका सहित)– आगमोदय समिति, 426 जवेरी बाजार, बम्बई, सन् 1924 ई.।
83. नन्दीसूत्रस्य चूर्णिः– हारिभद्रीया वृत्ति, श्वेताम्बर सभा, रतलाम।
84. नरविक्रमचरित–गुणचन्द्रसूरि, झवेरी अजितकुमार नन्दलाल राजनगर, वि.सं. 2008।
85. नर्मदासुन्दरीकथा– सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1990 ई.।
86. नाणपंचमीकहा– महेश्वरसूरि, सं. डॉ. अमृतलाल रूपचंद गोपाणी, सिंघी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, सन् 1949 ई.।
87. नायाधम्मकहाओ– एन. वी. वैद्य, फर्गूसन कालेज, पूना–4, सन् 1940 ई.।, जैन विश्वभारती, लाडनूँ, 1974 ई.।
88. ज्ञाताकर्मकथासूत्र– आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर,
89. नियमसार–कुन्दकुन्दाचार्य, उग्रसेनकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, अजिताश्रम, लखनऊ, सन् 1931 ई.। कुन्दकुन्दभारती, नई दिल्ली, 2005
90. निमित्तशास्त्र–वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, सोलापुर, 1941 ई.।
91. निरयावलिओ (अन्तिम पाँच उपांग)– सं. पी. एल. वैद्य, पूना, सन् 1932 ई.।
92. निरयावलिया (कल्पिका)– प्रो. गोपाणी और चौकसी द्वारा अहमदाबाद से प्रकाशित, 1934 ई., जे. डेलु– निरयावलियाओ, 1967, लाइडैन, 1969।
93. निशीथचूर्णि– आगमोदय समिति, बम्बई, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा, 957–60।
94. पंचसंग्रह (चन्द्रर्षि) स्वोपज्ञवृत्ति– आगमोदय समिति, बम्बई 1927 ई. और मलयगिरि टीका सहित, जामनगर, 1909 ई., अहमदाबाद, 1935, 1941 ई.।

95. पंचसंग्रह (प्राकृत वृत्ति टीका और संस्कृत टीका) - भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1960 ई.।
96. पंचात्थिकाय-कुन्दकुन्दाचार्य, प्रो. चक्रवर्तीकृत अंग्रेजी अनुवाद सहित, जैनपब्लिसिंग हाउस, आरा, 1920 ई. तथा हिन्दी अनुवाद सहित रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई 1904 ई.।
97. पंचवस्तुक-हरिभद्र, देवचन्द लालभाई पुस्तकोद्धारकफंड ग्रन्थमाला, सन् 1927 ई.।
98. पंचसूत्र- लब्धि सूरिश्वरग्रन्थमाला, 1939 ई.।
99. पंडिअ धणवालकहा- संघतिलकसूरि, श्रीसंघ सूरत, वि.सं. 1997।
100. पउमचरियं- विमलसूरि, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, सन् 1994। प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, 1962, 1968।
101. पवयणसार- कुन्कुन्दाचार्य (अमृचन्द्र और जयसेन संस्कृत टीका सहित)- सं. डॉ. ए.एन. उपाध्ये, रामचन्द्र शास्त्रमाला, बम्बई, सन् 1935 ई.।
102. पाइअकहासंगहो- विजयदान सूरीश्वर ग्रन्थमाला गोपीपुरा, सूरत, 1952 ई.।
103. पाइअ- लच्छी नाममाला- धनपाल, अहमदाबाद, सन् 1945 ई.।
104. पाइयसद्दमहण्णवो- प्राकृत टेक्टस सोसायटी, वाराणसी, 1963
105. पासनाहचरियं- गुणचन्द्र, अहमदाबाद, सन् 1945 ई.।
106. प्रज्ञापना- महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, 1969, 1971 ई.।
107. प्रश्नव्याकरण- आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर, अमूल्यचन्द्रसेन, ए क्रिटीकल एण्ट्रोडक्शन टू द पण्हवागरणं, वुर्जबुर्ग, 1936 ई.।
108. प्राकृतनुशासन- एल नित्ती डोल्ची द्वारा पेरिस से 1938 में प्रकाशित।
109. प्राकृतपैंगलम्-सं. डॉ. भोलाशंकर व्यास, प्राकृतग्रन्थपरिषद्, वाराणसी तथा द एशियाटिक सोसायटी ऑव बङ्गाल, कलकत्ता सन् 1902 ई.।
110. प्राकृत प्रकाश- अडयार लाइब्रेरी, मद्रास, 1946 ई., चौखम्बा वाराणसी, 1959, नया संस्करण 1970।
111. प्राकृतरूपावतार- रायल एशियाटिक सोसायटी, 1909 ई.।
112. प्राकृतलक्षण- होएर्नले द्वारा कलकत्ता से 1880 में प्रकाशित, अहमदाबाद से 1929 ई.में प्रकाशित।

113. प्राकृत शब्दानुशासन- जीवराज ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1954।
114. प्राकृतसर्वस्व-प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, 1968 ई.।
115. प्राकृत हिन्दीकोश- पार्श्वनाथ विद्यालय, वाराणसी, 1987 ई.।
116. बंभदत्तचरियं- गुजरात ग्रन्थमाला कार्यालय, गांधरोड, अहमदाबाद, सन् 1937 ई.।
117. बंधसामित्त (बन्धस्वामित्व-कर्मग्रन्थ 3)- हिन्दी अनुवाद सहित, आगरा, सन् 1927 ई.।
118. बृहत्कल्पभाष्य-श्वेताम्बर सभा, रतलाम।
119. बृहत्क्षेत्रसमास-जिनभद्र, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि. सं. 1977।
120. भगवती आराधना-शिवार्य, अनंतकीर्ति ग्रंथमाला, बम्बई, वि.सं. 1989।
121. भगवतीसूत्रशतक 1-20- मदनकुमार मेहता, कलकत्ता, वि.सं. 2011 यह ग्रंथ अभयदेव की टीकासहित आगमोदय समिति बम्बई द्वारा सन् 1921 ई. में प्रकाशित है और पं. बेचरदास तथा पं. भगवानदास के गुजराती अनुवाद सहित सं. 1979-1988 में चार भागों में प्रकाशित है।
122. भवभावना- म. हेमचन्द, सं. ऋषभदेव, जैन श्वेताम्बर संस्था, रतलाम, वि. सं. 1992।
123. मलयसुन्दरीकथा- हर्टेल द्वारा जर्मन में अनुवाद, जेना, 1919
124. महाबन्ध 1-7- हिन्दी अनुवाद सहित, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 194758।
125. महावीरचरियं- नेमिचन्द्र सूरि, सं. मुनि चतुरविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. 1973।
126. महावीरचरियं- नेमिचन्द्र सूरि, सं. मुनि चतुरविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि. सं. 1973।
127. महिवालकहा- वीरदेवगणि, सं. हीरलाल पोपटलाल, शिहोर, वि. सं. 1998।
128. मूलाचार- वट्टकेर, मा. दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, वि. सं. 1977, 1180। भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1995
129. मूलसुद्धिप्रकरण- प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, 1971 ई.।
130. यतिलक्षण-यशेविजय, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर, वि.स. 1965।

131. रंभामंजरी- नयचन्द्र, सं. डॉ. पीटर्सन और रामचन्द्र दीनानाथ, निर्णयसार प्रेस, बम्बई, 1889 ई.।

132. रयणचूडरायचरियं- नेमिचन्द्र सूरि, सं. आचार्य विजयकुमुद सूरि, प्र. मणि-विजयगणिवर ग्रन्थमाला, सन् 1942 ई.।

133. रयणसेहरनिवकहा- जिनहर्ष सूरि, सं. हरगोविन्ददास, जैन विविध शास्त्रमाला, बनारस, सन् 1918 ई.।, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली, 1990

134. रायपसेणिय-सं. एन. बी. वैद्य, खादयात बुकडिपो, गाँधीरोड, अहमदाबाद, सन् 1938 ई.।

135. रिट्ठसमुच्चय- सिंघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1945 ई.

136. लघुक्षेत्रसमास-रत्नशेखर, मुक्तिकमल जैन मोहनमाला, बड़ौदा, 1934।

137. लीलावई-कौतूहल, सं. डॉ. ए. एन. उपाध्ये, सिंघी जैन ग्रन्थमाला भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1949 ई., अंग्रेजी अनुवाद, अहमदाबाद, 1985।

138. वड्ढमाणदेसना-शुभवर्द्धन, जैनधर्म प्रसारक सभा, भावनगर।

139. वज्जालग्गं- प्रो. जूलियसलेवर, कलकत्ता, सन् 1914, 22, 44। प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, 1969, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, वाराणसी, 1990।

140. वसुदेवहिण्डी- संघदास गणि, सं. मुनि चतुरविजय पुण्यविजय, आत्मानन्द सभा, भावनगर 1930-31 ई., एल. डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद, 1977।

141. वसुदेवहिण्डीसार- सं. वीरचन्द प्रभुदास, हेमचन्द सभा, पाटन, सन् 1917ई.।

142. वसुनन्दिश्रावकाचार- वसुनन्दि, सं. पं. हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1952 ई.।

143. विचारसार-प्रद्युम्नसूरि, आगमोदय समिति, सूरत, सन् 1923 ई.।

144. विविधमार्गप्रिपा- जिनप्रभ सूरि, सं. मुनि जिनविजय, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् 1941 ई.।

145. विपाकश्रुतम्- सं. मुनि ज्ञानचन्दजी महाराज, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, जैन स्थानक, लुधियाना (पंजाब)। पी. एल. वैद्य, पूना, 1933 ई.।

146. विधेयमंजरी– आषाढ़, बालचन्द्र–टीका, विविध साहित्यशास्त्र माला, बनारस, वि. सं. 1975।
147. विशेषावश्यकभाष्य–ऋषभदेव केशरीमल संस्था, रतलाम, 1936–37।
148. वृत्तजाति समुच्चय– राजस्थान ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जोधपुर, 1962।
149. व्यवहारसूत्र–शूब्रिंग द्वारा सम्पादित, हम्बर्ग, 1966।
150. व्यवहारभाष्य– आगमोदय समिति, बम्बई।
151. व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र)– आगम प्रकाशन, व्यावर, जे. डेलु द्वारा वियाहपण्णत्ति, बेल्जियम, 1970 ई.।
152. शतक (कर्मग्रन्थ–5)– सं. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, लोहामण्डी, आगरा, सन् 1942 ई.।
153. श्रीकृष्णचरितम्– देवेन्द्रसूरि, ऋषभदेव केशरीमल श्वेताम्बर, रत्नपुर (मालवा), सन् 1938 ई.।
154. षडशीति (कर्मग्रन्थ–4)–हिन्दी अनुवाद सहित, लोहामण्डी, आगरा, सन् 1927 ई.।
155. षड्भाषाचन्द्रिका– के. पी. त्रिवेदी, बम्बई, 1916 ई.
156. स्वयम्भूछन्द– राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर, 1962।
157. समयसार– कुन्दकुन्द, सं. प्रो. चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, सन् 1950 ई.।
158. समराइच्चकहा–हरिभद्रसूरि, सं. डॉ. हर्मन याकोबी, बंगाल एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता, सन् 1926 ई.।, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली।
159. समाचारी–तिलकाचार्य, डाह्याभाई मोकमचन्द्र, अहमदाबाद, वि. सं. 1990।
160. सावयपण्णत्ति–हरिभद्र, ज्ञानप्रसारक मण्डल, बम्बई, वि.सं. 1961।
161. सन्मतिप्रकरण– श्वेताम्बर एज्युकेशन बोर्ड, 1939।
162. सिद्धपाहुड– आत्मनन्द जैनसभा, भावनगर, सन् 1921 ई.।
163. सिद्धहेमशब्दानुशासन– पी. एल. वैद्या, पूना 1936, 1958 ई., प्यारचन्द महाराज, व्याबर (दो भाग), आगम–समता–प्राकृत संस्थान, उदयपुर, 2002।

164. सिरिपासनाहचरियं- गुणभद्र, सं. आचार्य विजयकुमुद सूरि, मणिविजय गणिवर ग्रन्थमाला, मु. लींच, अहमदाबाद, सन् 1945।
165. सिरिविजयचंद केवलीचरियं-चन्द्रप्रभ महत्तरि, केशवलाल प्रेमचन्द्र केसरा, खंभात वाया आणंद, वि.सं. 2007।
166. सिरिवालकहा-रत्नशेखर सूरि, देवचन्द्रलाल भाई, जैन पुस्तकोद्धारक ग्रन्थमाला, भावनगर, सन् 1923 ई.।
167. सीलोवदेसमाला-जयकीर्ति, हीरालाल हन्सराज, जामनगर, सन् 1909 ई.।
168. सुदंसणाचरियं-देवेन्द्र, आत्मवल्लभ ग्रन्थमाला वलाद (अहमदाबाद), सन् 1932 ई.।
169. सुपासनाहचरियं-लक्ष्मण गणि, सं. हरगोविन्ददास, जैन विविध शास्त्रमाला, वाराणसी, वीर निर्वाण संवत् 2445।
170. सुरसुन्दरीचरियं-धनेश्वर सूरि, सं. हरगोविन्ददास, प्र. जैन विविध शास्त्रमाला, वाराणसी, 1916 ई.।
171. सूत्रकृतांगसूत्र- आगमोदय समिति, बम्बई, 1917 ई., सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट, जिल्द 45, (अंग्रेजी अनुवाद), 1895 ई., प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद 1975 ई.।
172. सूत्रकृतांग (निर्युक्ति सहित)- सं. डॉ. पी. एल. वैद्य, पूना, सन् 1928 ई.।
173. सूत्रकृतांग चूर्णि- डॉ. पी. एल. वैद्य पूना, सन् 1928 ई.।
174. सेतुबंध-प्रवरसेन, निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला ग्रन्थांक 47, बम्बई।
175. संखित्ततरंगाई (तरंगलोला)- नेमिचन्द्र, जीवन भाई छोटा भाई झवेरी, अहमदाबाद, वि.सं. 200।
176. संवेगरंगशाला-जिनचन्द्र, निर्णयसागर, बम्बई, सन् 1924 ई.।
177. स्थानांगसूत्र- आगमोदय समिति, बम्बई, 1918-20 ई. आगम प्रकाशन समिति, व्यावर।

(ख) प्राकृत अध्ययन के शोधग्रन्थ

1. आचार्य घासीलाल– प्राकृत कौमुदी, वाराणसी, 1988
2. आचार्य घासीलाल– प्राकृत चिन्तामणि, वाराणसी, 1987
3. आचार्य महाप्रज्ञ – आचारांगभाष्य, लाडनूँ, 1990
4. आचार्य महाप्रज्ञ – प्राकृत वाक्य रचना बोध, लाडनूँ, 2000
5. आचार्य हरिराम – गाहासत्तसई (प्राकृत–हिन्दी), जयपुर, 1986
6. आक्सफोर्ड, एल. – क्लाइने श्रिफ्टेन, वीसवाडेन, जर्मनी, 1974
7. उपाध्ये, ए. एन. – प्रवचनसार – इण्ट्रोडक्शन सहित, आगास
8. उपाध्ये, ए. एन. – कुवलयमाला–एन इन्ट्रोडक्शन, संघी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई–1970
9. उपाध्ये, ए. एन.–बृहत्कथाकोश–भूमिका बम्बई, 1943
10. कत्र, एस. के, – प्राकृत लैंग्वेजेज एण्ड देअर काण्ट्रीव्यूसन टू इंडियन कल्चर, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1945
11. कापड़िया, एच. आर.– ए. हिस्ट्री ऑफ कैनोनिकल लिटरेचर आफ द जैन्स, बम्बई, 1941
12. कमला, के. – एवरी डे लाइफ इन एण्शियन्ट इंडिया एज डिपेक्टेड इन प्राकृत लिटरेचर, हैदराबाद,.1978
13. कोछड़, हरिवंश – अपभ्रंश साहित्य, दिल्ली, 1952
14. कोठारी, राजकुमारी – ज्ञाताधर्म कथा का साहित्यिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, 2003
15. कोठारी, सुभाष – उपासकदशांग और उसका श्रावकाचार– एक परिशीलन, उदयपुर, 1988
13. कृष्णकुमार करण – करकण्डचरिउ का सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी,2008
16. खडबडी, बी. के. – जिनपदसार, वैशाली, 1998
17. खडबडी, बी. के. – वड्ढाराधने– ए स्टडी, धारवाड़, 1980

18. गांग (सिंघवी), सुषमा - आचार्य कुन्दकुन्द के प्रमुख ग्रन्थों में दार्शनिक दृष्टि, दिल्ली, 1982
19. चन्द्रा, के. आर. - इसिभासियाइं का प्राकृत-संस्कृत शब्दकोश, प्राकृत टेक्स्ट सोसायटी, अहमदाबाद, 1998
20. चन्द्रा, के. आर. - क्रिटीकल स्टडी ऑफ द पउमचरियं, वैशाली, 1970
21. चन्द्रा, के. आर. - नम्मयासुन्दरीकहा (हिन्दी अनुवाद), वाराणसी, 1989
22. चौधरी, गुलाबचन्द - जैनसाहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-6, वाराणसी,1978
23. चौधरी, विश्वनाथ - कुन्दकुन्द और उनके प्रतिनिधि आगम ग्रन्थ, वैशाली,1997
24. जामखेडकर, ए.पी. - वसुदेवहिण्डी-ए कल्चरल स्टडी, बम्बई, 1978
25. जामखेडकर, ए.पी. - कुवलयमाला-ए स्टडी, बम्बई, 1985
26. जिनेन्द्रवर्णी - जैनेन्द्र सिद्धान्तकोश (भाग-1-5,) भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,1990
27. जैन, उदयचन्द - प्राकृत हिन्दी शब्दकोश (भाग 1-2), दिल्ली, 2005
28. जैन, उदयचन्द - प्राकृत रचनोदय, दिल्ली, 2007
29. जैन, ऋषभचन्द्र - नियमसार, वैशाली, 2002
30. जैन, श्रीमती कमल - हरिभद्र साहित्य में समाज एवं संस्कृति, वाराणसी,1994
31. जैन, श्रीमती कमल, वसुदेवहिण्डी - एक अध्ययन, वाराणसी, 1997
32. जैन, कपूरचन्द - प्राकृत जैनविद्या शोध सन्दर्भ, खतौली, 2004
33. जैन, कोमलचन्द, जैन, बौद्ध आगमों में नारी जीवन, वाराणसी
34. जैन, कल्पना, आरामसोहाकहा, जयपुर, 2007
35. जैन, गोकुलचन्द्र - परमागमसारो, वाराणसी, 1990
36. जैन, जगदीशचन्द्र - जैन साहित्य का वृहत् इतिहास भाग-2, वाराणसी,1989
37. जैन, जगदीशचन्द्र - जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी,1965
38. जैन, जगदीशचन्द्र - प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा, वाराणसी,1985
39. जैन, जगदीशचन्द्र - प्राकृत जैन कथा साहित्य, अहमदाबाद, 1970
40. जैन, जगदीशचन्द्र - प्राकृत नैरेटिव लिटरेचर-ओरिजन एण्ड ग्रोथ, दिल्ली, 1981
41. जैन, देवेन्द्रकुमार - अपभ्रंश भाषा और साहित्य, नई दिल्ली, 1965
42. जैन, प्रमिला - षट्खण्डागम में गुणस्थान विवेचन, लखनऊ, 1995

43. जैनी, जे. एल. – गोम्मटसार, बम्बई, 1927–1928
44. जैन, जैनमती–पंचास्तिकाय का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन, वैशाली,2002
45. जैन, नन्दलाल – साइन्टिफिक कन्टेन्ट इन प्राकृत केनन्स, वाराणसी, 1995
46. जैन, नन्दलाल – कषायपाहुड़, (अंग्रेजी अनुवाद) वाराणसी, 2006
47. जैन, परमेष्ठीदास – आचारांगसूत्र–एक अध्ययन, वाराणसी, 1987
48. जैन, प्रेम सुमन – कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली,1975
49. जैन, प्रेम सुमन – प्राकृत स्वयं शिक्षक (पंचम संस्करण), जयपुर, 2011
50. जैन, प्रेम सुमन – शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण, दिल्ली, 2005
51. जैन, प्रेम सुमन – प्राकृत काव्य मंजरी, जयपुर, 1984
52. जैन, प्रेम सुमन – प्राकृत प्राइमर, श्रवणबेलगोला, 2011
53. जैन, प्रेम सुमन, सुकुमालसामिचरिउ, श्रीमहावीरजी, 2005
54. जैन, प्रेम सुमन, प्राकृत कथा–परिशीलन, जयपुर, 1995
55. जैन, फूलचन्द प्रेमी – मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन, वाराणसी, 987
56. जैन, भागचन्द्र – प्राकृत धम्मपद, जयपुर, 2003
57. जैन, राजाराम – रइधू साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली,1974
58. जैन, रमेशचन्द्र, समराइच्चकहा, दिल्ली, 1990
59. जैन, राजाराम – वित्तसारो, दिल्ली, 2002
60. जैन, राजाराम – शौरसेनी भाषा एवं साहित्य का इतिहास, दिल्ली, 2004
61. जैन, राजाराम – वड्ढमाणचरिउ, दिल्ली, 1998
62. जैन, लालचन्द्र – तत्त्वसार, वैशाली, 2002
63. जैन, लालचन्द – प्राकृत साहित्य में अनेकान्त चिन्तन, श्रवणबेलगोला,2006
64. जैन विमलप्रसाद, जंबूसामिचरिउ, दिल्ली, 1980
65. जैन, सरोज – णेमिणाह चरिउ, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली 2010
66. जैन, सरोज – अपभ्रंश कवि–दर्शन, श्रवणबेलगोला, 2008
67. जैन, सागरमल, ऋषिभाषित–एक अध्ययन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर,1988
68. जैन, सुदर्शनलाल – उत्तराध्ययनसूत्र– एक परिशीलन, वाराणसी, 1970
69. जैन, सुदर्शनलाल – प्राकृत दीपिका, वाराणसी, 2005

70. जिनेन्द्र – पाइय-ज्जं-पज्जं संगहो, जबलपुर, 2011
71. जैन, हीरालाल – भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, राजस्थान सरकार, जयपुर, 2003
72. जैन, हीरालाल – नयनन्दी रचित सुदंसणचरिउ, वैशाली, 1970
73. टाटिया, नथमल – विशेषावश्यक भाष्यं, वैशाली, 1972
74. डागा, तारा, प्राकृत साहित्य की रूपरेखा, जयपुर, 2005
75. तगारे, जी.वी. – हिस्ट्रोरिकल ग्रामर ऑफ अपभ्रंश, बम्बई, 1946
76. तोमर, रामसिंह – प्राकृत-अपभ्रंश का साहित्य और उसका हिन्दी साहित्य पर प्रभाव, शान्तिनिकेतन, 1951
77. दुलीचन्द जैन – जिनवाणी के मोती, वाराणसी, 2000
78. दोशी, बेचरदास – जैन साहित्य का वृहत् इतिहास, भाग-1, वाराणसी,1989
79. दोशी, बेचरदास – प्राकृत मार्गोपदेशिका, अहमदाबाद, 1968
80. नायकर, चन्द्रमौलि एस. – सट्टक लटरेचर-ए स्टडी, धारवाड़ 1986
81. नाहटा, भंवरलाल – अलंकारदप्पण, वाराणसी, 2001
82. नाहटा, भंवरलाल – ठक्कुर फेरु ग्रन्थावली, वैशाली, 1996
83. पण्डित, प्रबोध – प्राकृत भाषा, वाराणसी, 1954
84. पाठक, विश्वनाथ – वज्जालग्गं (जयवल्लभ), वाराणसी, 1984
85. पाठक, विश्वनाथ – गाथासप्तशती (हाल), वाराणसी, 1995
86. पाण्डे, राजनारायण – महाकवि पुष्पदन्त, आगरा, 1963
87. पाण्डेय, श्रीप्रकाश – सिद्धसेन दिवाकर-व्यक्तित्व एवं कृतित्व, वराणसी,2003
88. पाण्डेय, हरिशंकर – प्राकृत रूप रचना कोश, न्यू भारतीय बुक कारपोरेशन, दिल्ली, 2001
89. पाण्डेय, हरिशंकर – प्राकृत एंव जैन आगम साहित्य, लाडनूँ, 2000
90. पिशल, रिचर्ड – ग्रामाटिक डेर प्राकृत-प्राखेन, जर्मनी हिन्दी अनुवाद- प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, (हेमचन्द्र जोशी), पटना, 1958
91. पोद्दार, आर.पी. – एन. इन्ट्रोडक्शन टू कर्पूरमंजरी, वैशाली, 1974 गांधीनगर, 1963

92. पोद्दार, आर. पी. – नयनचन्द्रसूरीकृत रम्भामंजरी, वैशाली, 1976
93. पोद्दार, आर. पी. – रयणसेहरीनिवकहा (सम्पादन-अनुवाद), वैशाली, 1993
94. प्रेमी, नाथूराम – जैन साहित्य और इतिहास, बम्बई, 1956
95. बनर्जी, सत्यरंजन – द ईस्टर्न स्कूल आफ प्राकृत ग्रामेरियन्स, कलकत्ता,1964
96. बाहरी, हरदेव – प्राकृत और उसका साहित्य, दिल्ली-1
97. महिन्दले, एम.ए. – हिस्टोरिकल ग्रामर आफ इन्स्क्रप्शनल प्राकृत, बम्बई,1943
98. मालवणिया, दलसुख – गणधरवाद, जयपुर 1990
99. मालवणिया, दलसुख – आगमयुग का जैन दर्शन, जयपुर, 1980
100. मालवणिया, दलसुख – निशीथ-एक अध्ययन, आगरा, 1959
101. मिश्र, सुदर्शन – महाकवि पुष्पदन्त और उनका महापुराण, वैशाली, 1987
102. मिश्र, रविशंकर – सम्बोधसप्ततिका (हिन्दी अनुवाद), वाराणसी, 1986
103. मुख्तार, जुगलकिशोर – जैन ग्रन्थप्रशस्ति संग्रह, वीरसेवा मंदिर, दिल्ली,1954
104. मुख्तार, जुगलकिशोर – पुरातन जैन वाक्य सूची, दिल्ली, 1950
105. मुनि चन्द्रप्रभ सागर – प्राकृत सूक्तिकोश, भारतीय विद्या प्रकाशन, वराणसी, 2001
106. मुनि नगराज – आगम और त्रिपिटक-एक अनुशीलन, कलकत्ता, 1969
107. मुनि वीरेन्द्र कुमार – जैन आगम प्राणीकोश, जैनविश्वभारती, लाडनूँ,1999
108. मुनि वीरेन्द्रकुमार – जैन आगम वाद्य कोश, जैन विश्वभारती, लाडनूँ,2004
109. मुनि श्रीचन्द्र – जैन आगम वनस्पति कोश, जैन विश्वभारती, लाडनूँ,1996
110. मेहता, मोहनलाल – जैन साहित्य का बृहत् इतिहास, भाग-3, वाराणसी, 1989
111. मेहता, मोहनलाल – प्राकृत प्रोपर नेम्स, एल.डी. इन्स्टीट्यूट, अहमदाबाद,1972
112. मुनि, विमलकमार – पाइयसंगहो, लाडनूँ, 1990
113. यादव, झिनकू – समराइच्चकहा-एक सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी,1997
114. राय, रामजी – सेतुबन्ध महाकाव्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली,1987
115. राय, शैलेन्द्रकुमार – प्राकृत के प्रतिनिधि महाकाव्य, वैशाली, 1994
116. ललवानी, गणेश – उवणइसुत्तं (अंग्रेजी अनुवाद), जयपुर, 1990
117. वेलनकर, एच.डी. – जिनरत्नकोश, पूना, 1944

118. शर्मा, गोवर्धनदास – प्राकृत और अपभ्रंश का डिंगल साहित्य पर प्रभाव,
119. शास्त्री, इन्द्रचन्द – जैन इपिस्टोमोलाजी, वाराणसी, 1990
120. शास्त्री, धर्मेन्द्र – तिलोयपण्णत्ति का सांस्कृतिक मूल्यांकन, वैशाली, 2009
121. शास्त्री, कैलाशचन्द्र – कार्तिकेयानुप्रेक्षा, आगास, 1960
122. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार – सम्मइसुत्तं, इन्दौर, 2000
123. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार – पाहुडदोहा, दिल्ली 2001
124. शास्त्री, नेमिचन्द्र – हरिभद्र के प्राकृत कथा साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन, वैशाली, 1965
125. शास्त्री, नेमिचन्द्र – प्राकृतभाषा एवं साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, वाराणसी, 1966
126. शास्त्री, नेमिचन्द्र – अभिनव प्राकृत व्याकरण, वाराणसी, 1970
127. शास्त्री, नेमिचन्द्र – प्राकृत प्रबोध, वाराणसी, 1969
128. शास्त्री, देवेन्द्रमुनि – प्राकृतआगम साहित्य परिशीलन, उदयपुर, 1984
129. शास्त्री, लालबहादुर – आचार्य कुन्दकुन्द और उनका समयसार, गोहाटी,1976
130. शास्त्री, हीरालाल – वसुनंदिश्रावकाचार, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 1952
131. साध्वी प्रियदर्शना – आचारांगसूत्र का नीतिशास्त्रीय अध्ययन, वाराणसी1995
132. साध्वी, राजश्री – आचारांग–शीलांकवृत्ति– एक अध्ययन, जयपुर, 2005
133. शाह, रमणकलाल – विलासवईकहा, अहमदाबाद, 1972
134. सिन्हा, मनीषा – जैन एवं बौद्ध आगमों में लोकधर्म, दिल्ली, 2004
135. साध्वी, विद्युत प्रभा – जीव समास, वाराणसी, 1998
136. सिकदर, जे.सी. – स्टडीज इन द भगवतीसूत्र, प्राकृत शोध संस्थान, वैशाली,1964
137. सिंह गदाधर – प्राकृत–अपभ्रंश छन्द कोश, वैशाली, 1995
138. सूरिदेव, श्रीरंजन – वसुदेवहिण्डी–भारतीय जीवन और संस्कृति की वृहत्कथा, वैशाली, 1993
139. सूरिदेव, श्रीरंजन – अगडदत्तकहा, (सम्पादन–अनुवाद), वैशाली, 1994
140. सूरिदेव, श्रीरंजन – उपासकदशांगसूत्र, वैशाली, 2002

41. सेन, सुकुमार – ग्रामर आफ द मिडिल एण्डो आर्यन, कलकत्ता, 1951
142. सेन, मधु – ए कल्चरल स्टडी आफ द निशीथचूर्णि, वाराणसी, 1978
143. सोगानी, के. सी. – प्रौढ़ प्राकृत रचना (भाग 1–2), जयपुर, 20072008
144. सोगानी, के. सी. – समणसुत्त चयनिका (हिन्दी–अंग्रेजी), जयपुर, 2000
145. श्रीवास्तव, वीरेन्द्र – अपभ्रंश भाषा का अध्ययन, पटना, 1964
146. त्ला नागेश – ए क्रिटिकल स्टडी आफ महापुराण आफ पुष्पदन्त, अहमदाबाद, 1969
147. सिंह, रामनाथ – कर्पूरमंजरी एवं श्रृंगारमंजरी का तुलनात्मक अध्ययन, शाहपुर (बिहार), 1985
148. हेम एण्ड शुब्रिंग – स्टडीज इन महानिशीथ, हेमवर्ग, जर्मनी, 1951

(ग) शब्दानुक्रमणिका

प्राकृत भाषा के प्रमुख ग्रन्थ, ग्रन्थकार एवं विषय

प्रविष्टियां	क्रम एवं पृष्ठ संख्या
अंग ग्रंथ	1.1
अंगविद्या	2.1
अंगप्रज्ञप्ति	3.2
अंजनासुंदरीकहा	4.2
अगडदत्तचरियं	5.2
अगडदत्तपुराण	6.2
अनन्तनाहचरियं	7.3
अनन्तहंस कवि	8.3
अनुत्तरोपपातिकदशा	9.3
अणुओगदारसुत्त, अनुयोगद्वार सूत्र	10.4
अन्तःकृद्दशा	11.5
अपभ्रंश चरित काव्य	12.5
अभयदेवसूरि	13.6.
अभिधान राजेन्द्रकोश	14.7
अभिनव प्राकृत व्याकरण	15.7
अर्धमागधी कोश	16.8
अर्धमागधी प्राकृत	17.8
अलंकार दर्पण	18.11
अलंकार सर्वस्व	19.11
अलंकार शास्त्र	20.11
अवन्तिसुकुमाल कथा	21.12
अशोक के शिलालेख	22.13

अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत	23.17
अश्वघोष के नाटक	24.17
अष्टपाहुड, अट्ठपाहुड	25.18
आख्यानमणि कोष	26.19
आगम कथाओं की संस्कति	27.20
आगम कथाओं की भाषात्मक दष्टि	28.20
आगम कथाओं में काव्य तत्व	29.21
आगम कथाओं में कथानक रूढियां	30.22
आगम वाचनाएं	31.23
आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत संस्थान	32.24
आगमों की भाषा	33.25
आगमिक व्याख्या साहित्य	34.25
आयारदशा	35.25
आचारांगसूत्र (व्यायख्या समेत)	36.26
आदिम प्राकृत	37.26
आदिनाहचरियं	38.27
आनन्दसुन्दरी	39.27
आम्रकवि	40.27
आराधना प्रकरण	41.28
आरामसोहाकहा	42.28
आवश्यकचूर्णि,	43.29
आवश्यक निर्युक्ति	44.30
आवश्यकसूत्र	45.31
इसिभासियं रिसिभासित	46.32
उत्तराध्ययनसूत्र	47.32
उत्तराध्ययनसूत्र निर्युक्ति	48.33
उत्तराध्ययनसूत्र टीका	49.34

उद्योतनसूरि	50.35
उक्तिव्यक्ति प्रकरण	51.35
उक्तिरत्नाकर	52.36
उपदेशपद	53.36
उपदेशमाला प्रकरण	54.36
उपदेशमाला (भवभावना)	55.37
उपदेशरत्नाकर	56.37
उपाध्ये ए. एन.	57.38
उवसग्गहर स्तोत्र	58.39
उवासगदसाओ	59.39
उपासकाध्ययनं	60.40
उषानिरुद्ध	61.40
औपपातिक, उववाइसुत्त	62.41
ओघ निर्युक्ति	63.45
ऋषिदत्ताचरित	64.45
कंसवहो	65.46
कक्कुक शिलालेख	66.47
कथानक कोश कहाणयकोस	67.47
कथाकोश	68.48
कथाकोश भरतेश्वरवृत्ति	69.48
कथाकोष प्रकरण	70.49
कप्पूरमंजरी	71.50
कम्मपयडि	72.52
करलक्खण	73.52
कल्पसूत्र	74.53
कल्पावतंसिका, कप्पवडंसिया	75.53
कल्पिका, कप्पिया	76.54

कविदर्पण	77.54
कल्याणालोचना	78.55
कषायपाहुड	79.55
कहाणय	80.57
कहारयणकोस (कथारत्नकोश	81.57
कहावलि, कथावलि	82.59
कार्तिकेयानुप्रेक्षा	83.60
कालकाचार्य	84.60
कालिदास के नाटक	85.61
काव्यप्रकाश	86.62
काव्यानुषासन	87.62
काव्यालंकार	88.63
काव्यादर्ष	89.63
कुन्दकुन्दाचार्य	90.64
कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ	91.70
कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान	92.70
कुमारपालचरित द्वयाश्रयकाव्य	93.71
कुमारवालवडिवोह	94.74
कुम्मापुत्तचरियं	95.76
कुवलयमालाकहा	96.77
कोट्टयाचार्य	97.84
कोऊहल	98.85
कृष्णचरित, कण्हचरियं	99.87
क्षेत्रसमास	100.87
खारबेल शिलालेख	101.87
खरोष्ठी शिलालेख	102.88
गउडवहो	103.88

गणहरहोरा	104.93
गाथासप्तशती, गाहासत्तसई	105.93
गाथा सहस्री	106.95
गाथालक्षण, गाहालक्खण	107.96
गुणपाल मुनि	108.96
गुणचंद्रसूरि	109.96
गुणधराचार्य	110.97
गोम्मटसार	111.98
घनश्याम कवि	112.98
चउप्पनमहापुरुसचरियं शीलांक	113.99
चउप्पनमहापुरुसचरियं अन्य	114.100
चन्दप्पहचरियं	115.100
चन्द्रलेहा	116.101
चन्द्रप्रज्ञप्ति	117.102
चूर्णि साहित्य	118.102
छक्खण्डागमसुत्तं	119.103
छन्दोलक्षण	120.104
छन्दशास्त्र	121.104
छेदसूत्र	122.104
जंबुसामिचरियं	123.105
जंबुसामिचरियं	124.107
जम्बूदीवपण्णत्ति	125.107
जयधवला	126.108
जयपाहुड	127.109
जार्ज ग्रियर्सन द्वारा प्राकृतों का अध्ययन	128.109
जिनदत्तसूरि	129.109
जिनदत्तचरित, सुमतिगणि	130.110

जिनदत्तचरित	131.110
जिनदास महत्तर	132.111
जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण	133.112
जिनरत्नसूरि	134.113
जिनेश्वरसूरि, कहारयणकोश	135.113
जीतकल्पसूत्र, जीयकप्पो	136.114
जीतकल्पसूत्र भाष्य	137.114
जीव समास	138.115
जैन आगम एवं प्राकत	139.115
जैन, जगदीशचन्द्र	140.117
जैनविदया एवं प्राकृत विभाग	141.118
जैनविदया के खोजी विद्वान जे जे बूल्हर	142.118
जैन विश्व भारती संस्थान	143.119
जोइन्दु	144.119
जोइससार	145.120
जोइसहीर	146.120
जोइससार	147.120
जोइसदार	148.121
जोइसचक्कवियार	149.121
जोणिपाहुड	150.121
ज्योतिष्करण्डक, कालज्ञान	151.123
ज्योतिषसार	152.123
टीका साहित्य	153.123
ठक्करफेरु	154.124
ठाणांगसुत्त, स्थानांग	155.124
णरविक्कमचरियं	156.124
णाणपंचमी कहा	157.125

णायाधम्मकहाओ	158.126
णायकुमारचरिउ	159.127
तत्वसार, तच्चसार	160.128
तरंगवईकहा	161.129
तरंगलोला	162.130
तिलोयपण्णत्ति	163.131
त्रिलोकसार	164.133
दषरुपक	165.133
दशवैकालिक, दसवैयालिय	166.133
दंसणसत्तरि	167.135
दिनसुद्धि	168.135
दिव्यध्वनि और अर्धमागधी	169.135
दिव्यध्वनि एवं कम्प्युटर	170.136
दुर्गदेव	171.137
दृष्टिवाद, दिट्ठिवायो	172.138
देवभद्र, पासणाहचरियं	173.138
देवभद्र (गुणचन्द्र)	174.139
देवर्द्धि क्षमाश्रमण	175.139
देवसेन	176.139
देवेन्द्रसूरि, सुदंसणचरियं	177.140
देशीनाममाला	178.140
द्रव्यपरीक्षा	179.141
द्वादशकुलक	180.142
धनपाल	181.142
धम्मकहाणयकोस	182.142
धम्मपद की प्राकृत	183.142
धनेश्वरसूरि सुरसुंदरीचरियं	184.142

धम्मरसायण (धर्मरसायन) 185.143
धम्मविहिपयरण 186.144
धम्मसंगहणी 187.144
धरसेनाचार्य 188.144
धवलाटीका 189.145
धातुप्पत्ति 190.145
धूर्त्ताख्यान 191.146
ध्वन्यालोक 192.147
नन्दिसूत्र 193.147
नम्मया सुन्दरीकहा 194.148
नये कर्म ग्रन्थ 195.150
नाट्यशास्त्र 196.150
निमित्तशास्त्र 197.151
नित्ति डोल्ची 198.151
निमित्तपाहुड 199.152
नियमसार 200.152
निरयावलिया 201.153
निया प्राकृत 202.153
निर्युक्ति साहित्य 203.153
निर्वाणकाण्ड 204.154
निर्वाणलीलावती कथा 205.155
निशीथसूत्र, निसीह 206.155
निशीथचूर्णि 207.156
नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती 208.157
नेमिचन्द्रसूरि, महावीरचरियं 209.158
नेमिचन्द्रसूरि, देवेन्द्रगणि 210.158
नेमिनाहचरियं 211.159

पउमचरिउं	212.159
पउमचरियं	213.161
पउमनाहचरियं	214.165
पद्मनन्दि मुनि	215.165
परमात्मप्रकाश	216.166
पंचकल्प	217.167
पंचसंग्रह	218.167
पंचसंग्रह चन्दर्षि	219.168
पंचास्तिकाय	220.168
पाइअकहासंगहो	221.169
पाइअलच्छीनाममाला	222.169
पाइअसद्दमहण्णवो	223.170
पालि प्राकृत भाषा	224.170
पासनाहचरियं, गुणचंद्रगणि	225.172
पासनाहचरियं, देवभद्र	226.172
पालि-प्राकृत के ज्ञाता जे जे बूल्हर	227.172
पिण्डनिर्युक्ति	228.173
पुफ्फचूलकहा, पुफ्फिया	229.174
पिशेल, रिचर्ड	230.174
पुहवीचंदचरियं, सत्याचार्य	231.175
पुष्पदन्ताचार्य एवं भूतवली	232.175
पैशाची प्राकृत	233.176
प्रकीर्णक, पइण्णय	234.177
प्रकीर्णक ग्रन्थ	235.178
प्रज्ञापना	236.183
प्रथम प्राकृत	237.185
प्रत्येकबुद्धचरित	238.186

प्रवचनसार, पवयणसार	239.186
प्रवरसेन	240.187
प्रश्नव्याकरण, निमित्तशास्त्र	241.188
प्रश्नव्याकरण, पण्हावागरणाइं	242.188
प्राकृतकल्पतरु	243.189
प्राकृत एवं अपभ्रंश	244.189
प्राकृत एवं जैनागम विभाग	245.190
प्राकृत एवं संस्कृत	246.191
प्राकृत का अर्थ एवं महत्त्व	247.194
प्राकृत के महाकाव्य	248.198
प्राकृत में संधि एवं समास विधान	249.199
प्राकृत आगम कथाएं	250.204
प्राकृत और सर्वोदय सिद्धान्त	251.205
प्राकृत और छान्दस	252.206
प्राकृत और अपभ्रंश का दाय	253.206
प्राकृत और कन्नड, तमिल, तेलगु	254.207
प्राकृत और मध्यदेशी भाषाएं	255.208
प्राकृत और पश्चिमी भाषाएं	256.210
प्राकृत और पूर्वी भाषाएं	257.213
प्राकृत और हिन्दी	258.216
.प्राकृत का समृद्ध युग	259.218
प्राकृत के प्राचीन व्याकरण ग्रन्थ	260.218
प्राकृत के अन्य संस्थान एवं विभाग	261.219
प्राकृतानुशासन, पुरुषोत्तम	262.219
प्राकृतपैंगलम	263.220
प्राकृतप्रकाश, वररुचि	264.221
प्राकृत धम्मपद	265.222

प्राकृतपुष्करिणी	266.223
प्राकृत भारती अकादमी	267.223
प्राकृत भाषा	268.223
प्राकृत भाषा विभाग	269.224
प्राकृत भाषाओं का व्याकरण	270.224
प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास	271.225
प्राकृत भाषा के तीन युग	272.225
प्राकृत मार्गोपदेशिका	273.226
प्राकृत भाषा के पाणिनि पिशेल	274.226
प्राकृत में आधुनिक भाषाओं के पोषक तत्व	275.227
प्राकृत में स्वर विकास	276.228
प्राकृत में व्यंजन विकास	277.231
प्राकृत में संयुक्त व्यंजन विकास	278.234
प्राकृत में स्वर एवं व्यंजन	279.237
प्राकृतरूपावतार, सिंहराज	280.239
प्राकृतलक्षण	281.239
प्राकृत में विभक्ति एवं कारक	282.240
प्राकृत रचनासौरभ	283.245
प्राकृत शब्दानुशासन	284.247
प्राकृत शिलालेख	285.248
प्राकृत सट्टक	286.249
प्राकृत के व्याकरण ग्रन्थ विदेशों में	287.250
प्राकृत शोध संस्थान वैशाली	288.251
प्राकृत साहित्य का इतिहास	289.251
प्राकृत साहित्य में सामाजिक जीवन	290.251
प्राकृत साहित्य में राज्य व्यवस्था	291.253

प्राकृत साहित्य में धार्मिक मत मतान्तर	292.253
प्राकृत साहित्य में कला	293.254
प्राकृत साहित्य में भूगोल	294.254
प्राकृत साहित्य में लोक जीवन	295.255
प्राकृत साहित्य में ग्रामीण जीवन	296.259
प्राकृत साहित्य में लोक भाषा	297.260
प्राकृत साहित्य में पारवारिक जीवन	298.260
प्राकृत साहित्य में रीति-रिवाज और उत्सव	299.261
प्राकृत साहित्य में लोकानुरंजन	300.262
प्राकृत सर्वस्व मार्कण्डेय	301.262
प्राकृत स्वयंशिक्षक	302.264
प्राकृत साहित्य में लोक विश्वास	303.264
प्राकृत साहित्य में लोक कला	304.266
प्राकृत वाक्यरचना बोध	305.268
प्राकृत साहित्य में लोक चिकित्सा	306.268
प्राकृत व्याकरणम्, दो भाग	307.269
प्राकृत हिन्दीकोष	308.269
प्राचीन अर्द्धमागधी की खोज में	309.270
प्राचीन छह कर्म ग्रन्थ	310.270
बाहुबली प्राकृत विदयापीठ	311.270
बृहत्कल्पसूत्र	312.271
बृहत्कल्पसूत्र भाष्य	313.272
बृहत्कल्पसूत्र लघु भाष्य	314.273
बेचरदास, पंडित	315.273
भगवती आराधना, मूलाराधना	316.274
भद्रबाहु निर्युक्तिकार	317.275
भद्रेश्वरसूरि, कहावली	318.275

भरतमुनि	319.276
भरतमुनि और शौरसेनी प्राकृत	320.277
भवभावना	321.277
भावसंग्रह	322.278
भाषा परिवार एवं प्राकृत	323.278
भाष्य साहित्य	324.279
भुवनसुन्दरीकथा	325.280
मज्झिम खण्ड	326.280
मध्यकालीन प्राकृत पत्र	327.282
मनोरमा चरियं	328.283
मलयसुन्दरीकहा	329.284
मल्लिनाहचरियं	330.284
महाकवि स्वयम्भू	331.285
महानिशीथ	332.286
महाबन्ध	333.286
महाराष्टी और अपभ्रश	334.287
महाराष्टी प्राकृत	335.287
महावीरचरित, गद्य, गुणचन्द्र	336.289
महावीरचरियं (पद्यबद्ध), नेमिचंद्र	337.290
महीपालचरित, महीवालकहा	338.290
मण्डल प्रकरण	339.291
मागधी प्राकृत	340.291
मालवणिया, दलसुख भाई	341.294
मुनि सुव्वयसामि चरियं	342.294
मूलाचार	343.294
मृच्छकटिक	344.296
यतिवृषभाचार्य	345.297

रत्नपरीक्षा	346.299
रत्नशेखरसूरि, छंदकोश	347.299
रयणचूडरायचरियं	348.300
रयणसार	349.300
रयणसेहरनिवकहा	350.301
रंभामंजरी	351.302
राजशेखर कवि	352.303
रामपाणिवाद	353.303
रायपसेणियसुत्त	354.303
रिट्ठसमुच्चय	355.305
रिसभदेवचरियं	356.306
रिसीदत्ताचरियं	357.306
लग्नशुद्धि	358.307
लब्धिसार	359.307
लीलावईकहा	360.307
लोकविभाग	361.308
वज्जालग्गं	362.308
वट्टकेर	363.310
वर्धमानदेशना	364.313
वसन्तराज, एम डी	365.313
वसुदेवहिण्डी	366.314
वसुदेवहिण्डी सार	367.316
वसुनंदिश्रावकाचार	368.316
वण्हिदसा	369.317
वाक्पतिराज	370.317
वासुपूज्यसामिचरियं	371.318
वास्तुसार	372.318

विक्कमसेणचरियं	373.318
विचारसार प्रकरण	374.318
विदेशों में प्राकत अध्ययन	375.318
विदेशों में अपभ्रंश अध्ययन	376.320
विपाकसूत्र, विवागसुयं	377.322
विमलसूरि	378.323
विवाहपडल	379.323
विविध तीर्थकल्प	380.323
विवेकमंजरी	381.324
विशेषावश्यक भाष्य	382.324
वीरदेवगणि	383.326
वीरसेनाचार्य	384.327
वैदिक भाषा एव प्राकृत	385.327
वैदिक युगीन बोलियां	386.331
वैराग्यरसायनप्रकरण	387.333
वैराग्यशतक	388.334
व्यवहारभाष्य	389.334
व्यवहारसूत्र	390.335
व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र)	391.335
वृत्तिजाति समुच्चय	392.336
शांतिसूरि पाइय टीका	393.337
शांतिसूरि	394.337
शास्त्री, नेमिचन्द्र	395.338
शास्त्री, फूलचन्द्र	396.339
शास्त्री, बालचन्द्र	397.339
शिलालेखीय प्राकृत	398.340
शिवार्य	399.341

शीलांकाचार्य	400.344
शीलांक	401.344
शीलाचार्य	402.345
शुभशीलगणि	403.345
शौरसेनी प्राकृत भाषा	404.346
शौरसेनी प्राकृत भाषा और व्याकरण	405.348
शौरसेनी भाषा और उसका साहित्य	406.348
शौरसेनी ओर अन्य प्राकृतें	407.348
श्रृंगारप्रकाश	408.349
श्रृंगारमंजरी	409.349
श्रावकप्रज्ञप्ति, सावयपण्णत्ति	410.350
श्रावकधर्मविधि	411.350
श्रीचंदसूरि सणंकुमार	412.350
षट्खण्डागम	413.350
षड्भाषाचन्द्रिका	414.351
षडावश्यकसूत्र	415.352
सडसीइ (षडशीति)	416.352
सणंकुमारचरियं	417.353
समयसार	418.353
समराइच्चकहा	419.353
समवायांगसुत्त	420.355
सम्मइसुत्त (सन्मतिसूत्र)	421.356
सम्यक्त्वसप्तति	422.356
सरस्वतीकंठाभरण	423.357
संघदासगणि क्षमाश्रमण	424.357
सिद्धहेमशब्दानुशासन	425.357

संतिनाहचरियं 426.359
संवेरंगशाला 427.360
संक्षिप्तसार 428.360
संबोधसप्ततिका 429.361
साहित्यदर्पण 430.361
सिद्धसेनसूरि और उनकी रचनाएं 431.361
सिरिपासनाहचरियं 432.362
सिरिविजयचंद केवलीचरियं 433.363
सिरिसिरिवालकहा 434.364
सीयाचरियं 435.365
सुदंसणाचरियं, देवप्रभसूरि 436.365
सुदंसणाचरियं, देवेन्द्रसूरि 437.365
सुपासनाहचरियं, लक्ष्मणगणि 438.366
सुमतिनाथचरित, सुमइणाहचरियं 439.368
सुरसुन्दरीचरियं 440.368
सुसढचरित 441.371
सूत्रकृतांग, सूयगडो 442.371
सूर्यप्रज्ञप्ति चन्द्रप्रज्ञप्ति 443.372
सेतुबन्ध, रावणवहो 444.373
सेयंसचरियं 445.376
सोमप्रभसूरि 446.376
स्वयंभू छंद 447.377
हरिभद्रसूरि आचार्य 448.377
हाथीगुंफा शिलालेख 449.378
हालकवि 450.380
हीरालाल जैन, प्रो 451.381
हेमचन्द्राचार्य 452.382
हेमचन्द्र मलधारी 453.384

कटनी, वाराणसी, वैशाली एवं बोधगया में संस्कृत, पालि, प्राकृत, जैन धर्म तथा भारतीय संस्कृति का शिक्षण एवं विशेष अध्ययन। कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन विषय पर पीएच.डी.। अब तक 60 पुस्तकों का लेखन, सम्पादन एवं लगभग 170 शोधपत्र भी प्रकाशित।

सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर के जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष पद से सेवा-निवृत्त। देश-विदेश के विभिन्न सम्मेलनों में शोधपत्र-वाचन। यू.जी.सी. द्वारा सुखाड़िया विश्वविद्यालय उदयपुर में स्थापित बौद्ध अध्ययन एवं अहिंसा केन्द्र के मानद निदेशक के उपरान्त एमेरिटस प्रोफेसर फैलो के रूप में शोधकार्य सम्पन्न। बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ श्रवणबेलगोला में निदेशक पद से सेवा निवृत्त। विभिन्न प्रतिष्ठित पुरस्कारों के साथ 2006 में राष्ट्रपति पालि-प्राकृत प्रशस्ति से भी सम्मानित। सम्प्रति प्राकृत, अपभ्रंश की पाण्डुलिपियों के सम्पादन-कार्य में संलग्न।

29, विद्या विहार कॉलोनी
उत्तरी सुन्दरवास, उदयपुर -313001

सम्राट अशोक का प्राकृत शिलालेख, गिरनार

प्रकाशक
राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान
बाहुबली प्राकृत विद्यापीठ
श्री धवलतीर्थं, श्रवणबेलगोला-573135
कर्नाटक